आलोचना व निबन्ध

पञ्चामृत

लेखक—

श्री० महेश्वर प्रसाद

भूमिका लेखक—

डॉक्टर अमरनाथ झा

भूतपूर्व वॉयस चान्सलर, प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक :

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड,

रैन बसेरा, प्रयाग

मूल्य साढ़े चार रुपए

विषय सूची

समर्पण

पूज्यपाद पिताजी के चरणों में -

—महेश्वर

जी की बात

'राज-भोग-व्यंजन' की तो बात ही क्या, 'खिचड़ी' का भी ठिकाना नहीं है। सारा जीवन 'प्रसाद' पर ही कट रहा है। 'पञ्चामृत' प्रसाद ही तो है, उस महा महिम महेश्वर का प्रसाद। गुड़, मधु, दूध, दही और घी के इस किञ्चित सम्मिश्रण से सन्तुष्ट ही कौन होगा? लेकिन नहीं, परम पिता का प्रसाद थोड़ा ही होता है और उसके साथ भला-बुरा जैसा कोई प्रश्न नहीं होता। प्रसाद प्रसाद ही है। वह प्रेम का विषय है, भक्ति का विषय है। जहाँ तक मेरा अनुमान है, यदि हिन्दी-साहित्य से भक्ति-काल को पृथक कर दिया जाय तो हिन्दी-साहित्य शून्य हो जाएगा। समझिये तो भक्ति-काल हिन्दी साहित्य का प्राण ही है और प्राण को क़ायम रखने वाले पञ्चतत्व हैं—सन्तवर कबीरदास, महात्मा जायसी, भक्तवर सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास और परम भक्तिमती प्रेमयोगिनी मीरा।

भक्ति-काल के उपर्युक्त सभी कवियों पर समीक्षाएँ भी विद्वानों द्वारा अनेक लिखी जा चुकी हैं। वे सभी समीक्षाएँ एक से एक सुन्दर

हैं, और हैं गहन-गम्भीर अथच परमोत्कृष्ट। फिर भी उन सब में एक बात की कमी रह ही गई है। वह यह कि किसी में भी सन्तुलन का भाव नहीं है। प्रत्येक की अपनी डफली है और अपना राग है। तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थियों को उनसे कोई सुविधा नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वर्तमान युग में जिज्ञासु विद्यार्थी को इतना समय ही कहाँ है कि वह मोटी-मोटी पोथियों का अध्ययन करता रहे। वह तो गागर में ही सागर पाना चाहता है। शायद इसी उद्देश्य से स्व० शुक्ल जी ने 'त्रिवेणी' का संकलन किया था। लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि कबीर और मीरा के बिना 'त्रिवेणी' का भी संगम रेतीला ही रह गया है।

'पञ्चामृत' के सभी अंश क्रमशः 'विशाल भारत', 'विश्वमित्र', 'माधुरी', 'धारा', 'आर्यमहिला', 'कल्याण' तथा 'कर्मयोगी' में छपते रहे हैं। एतदर्थ उक्त सभी पत्र-पत्रिकाओं का मैं हृदय से आभारी हूँ। उन प्रकाशित अंशों को देख-सुन कर जिन मित्रों ने मेरा उत्साह बढ़ाया है उन सभी में प्रिन्सिपल बी० एन० 'माधव' का नाम सर्वोच्च है। उनकी कृपा का भी मूल्य मैं नहीं आँक सकता, क्योंकि अपना बहुमूल्य समय निकाल कर उन्होंने एक बार 'पञ्चामृत' आद्योपान्त पढ़ लिया था। यों तो 'पञ्चामृत' सन् १९४२ ई० में ही तैयार हो गया था, लेकिन माधव जी की कृपा प्राप्त करने के लोभ में वह लगभग चार-पाँच वर्षों तक उनके पास पड़ा रह गया था। अन्त में प्रियवर श्रीनारायण जी, वर्तमान प्रोफ़ेसर, कॉमर्स डिपार्टमेण्ट, जैन कॉलेज (आरा) द्वारा पुस्तक

जब मुझे मिली तो श्रद्धेय सहगल जी के हाथों में उसे प्रकाशनार्थ दे डाला। यह बात सन् १९४७ ई० की है।

तात्पर्य यह कि 'पञ्चामृत' के प्रकाशन में विलम्ब हुआ है। लेकिन जान-बूझ कर विलम्ब कहीं भी नहीं हुआ है। आखिर सहगल जी भी करते ही क्या? उनके संघर्षमय जीवन को कौन नहीं जानता? जिस प्रकार का व्यस्त जीवन उन्होंने व्यतीत किया है और जगत के लिए जीया है उस प्रकार के जीवन में शायद अन्य लोग घुँट-घुँट कर मर जाएँ। मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि 'पञ्चामृत' के लिये समय का लम्बा त्याग करने पर भी सहगल जी का उस पर पूरा सहयोग नहीं मिल सका। आज वह पूर्णत: अस्वस्थ हैं और कई माह से अस्पताल में पड़े शय्या-ग्रस्त हैं। जबकि ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं उस समय तक के समाचार से कहना कठिन है कि कब तक वह हमारे बीच रहेंगे। मैं तो भव-भय-हारी भगवान् से बारम्बार प्रार्थना करता हूँ कि वह उनके स्वास्थ्य में पुनः सुधार कर दें। अस्तु।

डॉक्टर अमरनाथ झा ने 'पञ्चामृत' की भूमिका लिख कर इसके मूल्य में मामूली वृद्धि नहीं की है। इस असीम अनुकम्पा का मूल्य मैं शब्दों में क्यों आक दूँ और कैसे आँक दूँ? प्रकाशन के विलम्ब की पूर्ति करने के लिए भाई नरेन्द्र ने इधर जो शीघ्रता दिखाई है उसके लिए धन्यवाद देना वातुलता-मात्र है। सच कहूँ तो यदि भाई नरेन्द्र ने 'पञ्चामृत' के प्रकाशन में दिलचस्पी न ली होती तो पाठकों को अभी और प्रतीक्षा करनी पड़ती।

पाठक स्वयं परिस्थिति समझ कर मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा ही नहीं किम्बहुना विश्वास है। समर्थ सहायकों के रहते हुए भी अशुद्धियाँ अधिक से अधिक रह गई हैं। कारण स्पष्ट है। सहगल जी का अस्वस्थ होना, भाई नरेन्द्र की शीघ्रता और दूसरे प्रेस का प्रकाशन। बस यही है मेरे जी की बात।

तुलसी-काव्य-निकेतन, भरौली,
श्रीकृष्णजन्माष्टमी, सं० २००६ वि० } —महेश्वर प्रसाद

भूमिका

हिन्दी के समर्थकों से बहुधा पूछा जाता है कि हिन्दी साहित्य में क्या है और इस भाषा को क्यों राष्ट्र-भाषा का पद मिले? अन्य प्रान्त की भाषाओं का इतिहास अङ्गरेज़ी में प्रकाशित होने के कारण उनकी जानकारी अधिक लोगों को है। हिन्दी के मुख्य लेखकों के सम्बन्ध में हिन्दी न जानने वालों का ज्ञान नहीं के बराबर है। Growse (ग्रौज़) ने तुलसी के रामायण का और Greaves (गीव्ज़) ने और रवीन्द्रनाथ ने सूर के कुछ पदों का अनुवाद अङ्गरेज़ी में प्रकाशित किया था। परन्तु हिन्दी साहित्य का यथार्थ परिचय बहुत कम अहिन्दी भाषाभाषी विद्वानों को है। हिन्दी

में संचित साहित्य-भंडार का द्वार खुलना चाहिए जिससे अधिक से अधिक संख्या में पाठक इससे लाभान्वित हो सकें। मैंने कई वर्ष पूर्व विचार प्रकट किया था, और अब भी मेरा यही मत है, कि हिन्दी का प्रधान पुस्तकों का अनुवाद अन्य भाषाओं में होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में हिन्दी पुस्तकों की समालोचनाएँ भी यदि प्रकाशित हों तो हिन्दी का बड़ा उपकार हो। अस्तु। हिन्दी में तो साहित्य की समीक्षा अच्छी लिखी जा रही है। कई उच्च श्रेणी की पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं।

"पञ्चामृत" में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, और मीरा के काव्य का कई दृष्टिकोण से सूक्ष्म अध्ययन है। रसखान, केशव, पद्माकर, बिहारी की रचनाओं की भी योग्य लेखक आलोचना करेंगे, ऐसी मुझे आशा है। इस "पञ्चामृत" में "जायसी की प्रेम-साधना" और "जायसी की काव्य-पद्धति" को मैंने विशेष रुचि से पढ़ा, क्योंकि जायसी के सम्बन्ध में अभी तक कम लिखा गया है। श्री० महेश्वर प्रसाद ने जायसी को बहुत ऊँचे आसन पर बिठाया है, उनका कहना है: "पद्मावत को हिन्दी साहित्य में 'मानस' के पश्चात् श्रेष्ठ स्थान दिया जा सकता है।" तुलसी पर जो लेखक ने अपने विचार व्यक्त किये हैं वह स्वतंत्र अध्ययन के परिणाम हैं। यही विशेषता इस पुस्तक की है कि अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख न कर रचयिता ने अपनी सम्मति को आकर्षक रूप में प्रकट करने का प्रयास किया है। मैं पुस्तक का स्वागत करता हूँ और लेखक को बधाई देता हूँ।

प्रयाग,
१६ सितबर, १६४०

——अमरनाथ झा

कबीर

कबीर की प्रेम-पद्धति

गृह-कलह का परिणाम कहीं अच्छा नहीं हुआ। पृथ्वीराज और जयचंद की फूट से गोरी को भारत जीतने का स्वर्ण अवसर मिल गया। उसने भारत आकर समय से लाभ उठाया। हिन्दू बुरी तरह हराये गये। हिन्द पर मुसलमानों की तूती बोलने लगी। चारों ओर मुसलमानों का साम्राज्य छा गया। हारी हुई हिन्दू जाति अन्यमनस्क-सी हो गयी थी। उसकी रण-भेरी सदा के लिये बन्द हो गयी। मन बहलाव का कोई रास्ता उसे नहीं सूझ रहा था। तिस पर खेद-खिन्न जाति के निकट उनके जीतने वाले मुसलमान मुलम्मा लगा कर जाने लगे थे और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य प्रतिपादन करने लगे थे। इससे हिन्दुओं का दुःख और बढ़ता ही गया। एक तो उन्हीं मुसलमानों ने उन्हें हराया था, दूसरे वे ही उनका मन प्रबोध कर रहे थे और उनके समीपी बनते जा रहे थे। परिणाम इसका प्रतिकूल होता जा रहा था। हिन्दू प्रसन्न होने के बदले खिन्न होते जा रहे थे। उनकी खीझ मुसलमानों के प्रति बढ़ती जा रही थी। पर चारा ही क्या था? भगवान के विधान में उनका बस ही क्या था? वे हाथ पर हाथ रख कर सोच रहे थे, सोचते जा रहे थे। अपनी त्रुटियों के लिये भगवान से क्षमा माँगने की भी उनमें अब हिम्मत न रह गयी थी। कारण कि उन्होंने सं० १०८१

वि० का भीषण काण्ड अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लिया था, जबकि भगवान सोमनाथ महादेव का मंदिर लाखों पुजारियों की प्रार्थना से गूँजते रहने पर भी बच नहीं सका था और उसमें से अतुल सम्पत्ति महमूद लेकर चम्पत हो गया था । श्रद्धालु भक्त और पत्थर की मूर्ति इसे देखती रह गयी । भक्तों का हृदय विदीर्ण हो गया और महादेव की मूर्ति भी महमूद की गदा से चूर-चूर हो गयी पर किसी का कुछ वश न चल सका । दोनों परम अशक्त सिद्ध हो चुके थे । जो भगवान प्रह्लाद की पैज पर पत्थर के खम्भे फाड़ते हुए प्रकट होते थे उन्हीं पर गदों का प्रहार होता गया जिससे वे स्वयं चूर-चूर हो गये पर कुछ करते न बना । हिन्दू किस को पुकारें, यह बड़ा चिन्तनीय विषय था ।

समस्त भारत में हिन्दुओं के हृदय पर निराशा और अवसाद की कालिमा छाई हुई थी । चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता था । एक प्रकार से हिन्दू जाति में से जीवन-शक्ति के समस्त लक्षण मिट गये थे । उनकी लक्ष्मी को बड़ी बेरहमी से तैमूर, चंगेज़, महमूद आदि मुसलमान लुटेरे लूट ले गये थे और अभी भी लूटते जा रहे थे । कोई लुटेरा दो-चार बार और कोई सत्रह-अट्ठारह बार तक आया और प्रत्येक बार वह असीम धन अपने देश ले गया । मगर वाह रे भारत ! तेरा पारस धन्य है ! सचमुच तेरे पारस में लोहे को सोना बनाने की शक्ति मिली है । नहीं तो आज तेरी न मालूम क्या दशा हुई होती ? ऐसा लगता है मानो कुबेर तेरे भण्डार का अध्यक्ष बना बैठा हो । तभी तेरा अस्तित्व है । और तेरी संस्कृति ? वह तो साक्षात् श्रीहरि बचाते चले आ रहे हैं । तेरा विनाश किसी काल में सम्भव नहीं ।

उत्थान-पतन तो दुनिया के नियम के दो चक्र हैं। कभी उत्थान होता है तो कभी पतन होता है। मगर विनाश के गर्त में उलटना नहीं चाहिये। अतः तू उस गर्त में कभी उलट नहीं सकता। यह ध्रुव है! अस्तु-

ऐसी भारत की दशा देख भगवान का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने एक महान आत्मा को भारत के लिये नियुक्त करके रवाना किया। चूँकि परिस्थिति ऐसे महान पुरुष को माँग रही थी जो न हिन्दू हो और न मुसलमान ही इसलिये वह व्यक्ति इन दोनों लड़ाकू जातियों से पृथक एक तीसरी ही जाति का निकला। उसका नाम कबीर हुआ। कबीर ने दुनिया की माँग पूरी की और समय की सभी विशेषताओं की पूर्त्ति की। वह अक्खड़ पुरुष किसी से नहीं डरा। हिन्दू और मुसलमान दोनों को फटकारा और दोनों की कुचाल की निन्दा की। उन्होंने इन दोनों जातियों के मिलाने का परम उद्योग भी किया। अपने प्रेम के लिये उन्होंने विशिष्ट साईं को पकड़ा और उन्हीं की कबीर ने उपासना की। कबीर के साईं ने स्पष्ट शब्दों में सबके लिये अपने को सुगम बताया :

मों को कहाँ ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में ॥

संक्षिप्त-परिचय—संतवर श्री कबीरदास के जीवन-वृत्त सम्बन्धी बातें अंधकार के गर्त में छिपी हुई हैं। उनके परिचय के विषय मे अन्ततः भ्रान्ति ही रह जाती है। जब उन्होंने स्वयं अपना विशेष परिचय नहीं दिया है तो किंवदन्तियों में किसको सच माना जाए और किसको झूठ? कुछ विद्वानों के मत—और जिनमें कबीरदास जी के

वाणी का प्रमाण है—की चर्चा हम यहाँ करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीरदास जी एक जुलाहा थे। इसका उन्होंने कई बार उल्लेख किया है। उदाहरण :

(१) जाति जुलाहा मति को धीर। हरषि हरषि गुण रमै कबीर।

(२) मेरे राम की अभैपद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।

उनका जन्म सं० १४५६ वि० ज्येष्ट पूर्णिमा चन्द्रवार को हुआ था। कबीर-पंथी इस सम्बन्ध में एक दोहा कहा करते हैं :

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी वरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥

कबीरदास लहर-तालाव पर एक जुलाहे दम्पत्ति द्वारा पाये गये थे। उसी दम्पत्ति ने इन्हें पाला-पोसा था। पिता का नाम नीरू और माता का नाम नीमा था। पीछे इनका विवाह भी हुआ था। स्त्री का नाम लोई था। लोई नाम का संकेत उन्होंने अपने नीचे के पद में किया है :

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम बिनसि रहेगा सोई।

कहते हैं लोई से उन्हें दो सन्तान थीं जिसमें एक पुत्र था, दूसरी पुत्री। पुत्र का नाम कमाल प्रसिद्ध है और पुत्री का नाम कमाली। कबीर जब संत हुए तो अपने गार्हस्थ्य-सुख को यों ही छोड़ कर चले गये। यह सुख उन्हें तृप्त नहीं कर सका था। बाद में उन्होंने इसकी निन्दा की और इसे अपना अज्ञान समझा :

नारी तो हमहूँ करी पाया नहीं बिचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

प्रेमपंथ का मार्ग इन्हें रामानन्द जी ने दिखाया था। रामानन्द

कबीर के गुरू थे। वे राम के उपासक थे। कबीर ने उनसे केवल राम-मंत्र लिया था। उस नाम के सिवा कबीर ने उनसे राम का रूप नहीं लिया। राम का रूप कबीर ने स्वयं बनाया और ऐसा बनाया कि कबीर के राम रामानन्द के राम से विशिष्ट और विभिन्न हो गये। स्वयं कबीर की भक्ति भी रामानन्द से आगे बढ़ गयी। लेकिन फिर भी कबीर ने रामानन्द को गुरू माना और जहाँ अवसर मिला तो साफ़ कहा—'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए'। सुना जाता है कबीर ने अपना सारा जीवन काशी में काट दिया था। काशी नगरी संतो की बड़ी प्यारी नगरी रही है। प्रायः सभी मत के संत काशीवास को सराहते हैं और वहाँ रहना पसन्द करते हैं। कहा जाता है मरने के समय कबीर काशी में नहीं रह सके थे। अपने मन से कहिये अथवा बाध्य होकर, मगर कबीर को काशी छोड़ना पड़ा मृत्यु के समय। कबीर ने इसे यों लिखा है—

(१) सकल जनम सिवपुरी गवाँया। मरती बार मगहर उठि धाया।
(२) जो कासी तन तजे कबीरा तौ रामहिं कहाँ निहोरे।
(३) बहुत बरस तप कीया कासी। मरनु भया मगहर की बासी॥
(४) कासी मगहर सम बिचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥

मरने के समय कबीर के मुँह से राम नाम निकला था। राम-राम कहते-कहते कबीर का नश्वर शरीर छूट गया था। 'मुआ कबीर रमता श्री राम' इसमें प्रमाण माना जाता है। उनकी निधन तिथि सं० १५७५ वि० प्रसिद्ध है। इस प्रकार क़रीब १२० वर्षों की लम्बी आयु समाप्त करके कबीरदास जी काल कवलित हुए थे। मरने के बाद एक रोचक

घटना सुनी जाती है जो सम्भवतया घटी भी होगी। चूँकि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रिय थे, इसलिये मरने के बाद हिन्दुओं ने उनकी मिट्टी को जलाना चाहा और मुसलमानों ने गाड़ना चाहा। इस पर बड़ा विवाद चला और अभी चल ही रहा था कि उनका शव पुष्प-राशि में परिणत हो गया। दोनों दलों ने उस पुष्प-राशि को दो भागों में विभक्त कर लिया और अपने-अपने धर्मानुसार उसका उपयोग किया। यदि इस घटना को इस प्रकार समझा जाय तो बहुत अच्छा होगा कि कबीर के मरने के बाद हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उनकी शेष वस्तु को. पुष्प-सा मान कर ग्रहण कर लिया। कबीर के दो चेले थे—धर्मदास और सुरत गोपाल। कबीर की मृत्यु के बाद उन्होंने उनके मत को चलाने का काफ़ी उद्योग किया था।

माधुर्य-भाव—संत शिरोमणि कबीरदास जी हिन्दी साहित्य के पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने भगवान के प्रेम और भक्ति का उन्नत मार्ग सब को दर्शाया है। उनके बाद मानों संतों की एक बाढ़-सी आ गई। उस बाढ़ में तरह-तरह के जीव आये, कितने नदी को साफ़ करने वाले जीव थे और कितने उन जीवों को भी खाकर चट कर जाने वाले जीव थे। इसके अतिरिक्त महात्मा कबीरदास उस 'माधुर्य-भाव' का परिचय कराने वाले व्यक्ति भी हैं, जिस माधुर्य-भाव को लेकर सूफ़ी लोग भारत में आये थे और जिस मधुर-रस का पान कर पीछे से नागरीदास और मीराबाई मस्ती में झूम उठी थीं। क़रीब सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व कबीरदास ने मीरा आदि प्रेमी भक्तों के लिये परम शिष्ट प्रेम-पद्धति चला दी थी। कबीर माधुर्य भाव या प्रेम के पहले दीवाने

भक्त हैं जिन्होंने भगवान की उपासना पति रूप में की है। उन्होंने खुल कर गाया है :

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव, हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े छुटक लहुरिया॥
किया स्यंगार मिलन कै ताईं, काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं।
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ, कहै कबीर भौ जल नहिं आऊँ॥

कबीर ने अपना भाव सर्वत्र 'माधुर्य' के द्वारा ही व्यक्त किया है। 'माधुर्य' में दाम्पत्य-रति का भाव प्रस्फुटित होता है। भक्त और भगवान के बीच स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध रहता है। कबीर ने राम या हरि को अपना 'भरतार' बनाया है और अपने को उनकी स्त्री घोषित किया है। एकाध जगह जहाँ 'बाप राम राया' और 'हरि जननी मैं बालक तेरा' मिल जाता है वहाँ कबीर का सर्वात्म समर्पण समझना चाहिये। प्रेमी जब भगवान को अपना सब कुछ समर्पित कर देता है तो उसकी 'माँ', 'बाप', 'पति' सब कुछ परमेश्वर ही हो जाते हैं। इसी से आत्म-निवेदन में भक्तगण कहा करते हैं :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

इस प्रकार के आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण के प्रसंग यदि हम छोड़ देते हैं तो कबीर की भावना में हम हर जगह माधुर्य की ही झाँकी पाते हैं। कबीर राम की 'छुटक लहुरिया' थे या इसी की उन्हें साध थी, भूख थी। कबीर अपना ब्याह राम 'भरतार' से करना चाहते थे, जो राम अबिनासी हैं। ब्याह होने के बाद उनकी इच्छा

फिर असुहागिनी होने की न थी। बड़ी खोज के बाद ऐसा पुरुष सौभाग्य से मिल गया। वे थे निर्गुण राम। कबीर की भक्ति में एक विशेष बात यह है कि कबीर के इष्ट-देव का चुनाव बड़ा कठिन था। कबीर को किसी देवी-देवता की भक्ति स्वीकृत न थी। वे ग़ौर से जब देखते थे तो सबके पास एक न एक लग्गा लगा पाते थे। दशरथ-सुत राम के प्रेम की शिक्षा जब उन्हें रामानन्द से मिली तो उन्होंने राम के पास सीता को पाया। बस उनका मन वहीं से उदास हो गया। वे समझ गये कि मेरा वहाँ अधिक प्यार नहीं हो सकता। कृष्ण के पास भी वही बात थी बल्कि अधिक झंझट थी। एक राधा तो राधा, उनके साथ सहस्त्रों गोपियाँ थीं। प्रायः सभी देवताओं को सीमा-बद्ध देखकर उनका मन खिन्न हो गया। पर वे घबड़ाये नहीं। उन्होंने बड़े धैर्य के साथ काम लिया। वे धोखे में आने वाले जीव न थे तथा वे दूसरे को धोखा देना भी नहीं चाहते थे। हाँ, एक बात वे अवश्य करते थे। वह यह कि सब को ठग जान कर ज़रा चुटकी ले लेते थे :

माया महा ठगिनि हम जानी।
निरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी॥
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥
भगतन के भगतिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहत कबीर सुनो हो संतों ! यह सब अकथ कहानी॥

इस अकथ कहानी को कबीर बढ़ाना नहीं चाहते। संक्षिप्त में वे इतना ही कहना चाहते हैं कि जितने दुनिया से नाम-रूप का सम्बन्ध रखने वाले हैं, सभी पचड़े में हैं। इससे वही न्यारा है जो एक है फिर भी अनेक है, जो अलख, अगोचर और अज्ञेय है, जो विश्व में सर्वत्र रम रहा है, जिसने कभी अवतार नहीं लिया। यदि उसका अवतार हुआ भी तो वह आंशिक हुआ। जो किसी के साथ खेला नहीं और न जो किसी के सम्बन्ध में ही आया। यदि उसको किसी ने अपने सम्बन्ध में पाया हो तो वह दूसरा व्यक्ति होगा, चाहे राम होंगे अथवा कृष्ण होंगे। पर वस्तुतः वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म नहीं होगा। वह तो अजन्मा और अशरीर कहा गया है। उसके पास विरला ही कोई पहुँच पाता है। कबीरदास जी उसी के पास पहुँचने वाले ज्ञानी संत थे। उन्होंने उसी ब्रह्म से अपनी शादी तय की थी। इसी कारण किसी विशेष नाम या विशेष आकार में उन्हें कबीर ने नहीं बाँधा है। राम, हरि, गोविन्द, अल्लाह, रहीम, रहमान आदि अनेक नाम से अपने साईं का सम्बोधन कबीर ने किया है। इसका तात्पर्य यह कि उक्त सभी नाम वाले व्यक्ति उसी पुरुष के आंशिक रूप हैं। अतः इन नामों के द्वारा वह याद किया जा सकता है। पर इसका मतलब यह नहीं कि किसी एक नाम में ही उसका वृहद् रूप आबद्ध है अथवा उक्त सभी नाम मिल कर भी उसे आबद्ध कर सकते हैं। इसके जैसे अरबों नाम उसके हैं और तब भी इन अनन्त नामों से वह बँध नहीं सकता। ऐसे पुरुष को पति रूप में पा जाना साधारण बात नहीं। जिस दिन कबीर का ब्याह 'अबिनासी' पुरुष से हो रहा था उस दिन घर की विचित्र शोभा थी।

दुलहनीं गावहुँ मंगल चार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥

तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती ।
रामदेव मोरे पाहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार ।
रामदेव संगि भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार ॥
सूर तै तीसू कौतिग आये, मनि पर सहस अठ्यासी ।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अबिनासी ॥

उसी 'अबिनासी' पुरुष की भक्ति कबीर को इष्ट थी। समस्त जीवन की विकलता और कलक केवल साजन को पाने के लिए कबीर के हृदय में रही। प्रेमी भक्तों की विकलता आजीवन बनी रहती है। साहचर्य की झाँकी तो स्वप्नवत उनके हृदय में यदाकदा उठ जाती है। असली प्रेमियों का प्रेम विरह-वेदना में है। विरह-वेदना के आजीवन रहने का कारण यह है कि मरण ही प्रेमियों की पिया-मिलन की मंगल-मयी घड़ी है। अतः जबतक मृत्यु नहीं हो जाती तब तक भक्तों को विरह-वियोग से छुट्टी कहाँ है ? वे शायद उससे छुट्टी चाहते भी नहीं। क्योंकि विरह या मिलन, दुःख या सुख नहीं हैं। संसार के लोग जिसको दुःख-सुख कहते हैं यह दुःख-सुख प्रभु का वियोग अथवा उनका मिलन नहीं है। सांसारिक दुःख और सुख से ऊपर उठी हुई वस्तुएँ विरह और मिलन हैं। हमारे देखने में विरह भले दुःख की श्रेणी का कोई पदार्थ लगता हो किन्तु प्रेमीजन वियोग को दुःख नहीं मानते। वे तो मिलन की अपेक्षा विरह को ही अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि विरह में प्रेम तीव्र हो उठता है, मिलन में प्रेम की गति अवरुद्ध हो जाती है। सबसे

विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि सच्चे संत तो दुःख या सुख में भेद नहीं करते। वे तो जितना सुख को मानते हैं उतना ही दुःख को, वरन् दुःख को सुख की अपेक्षा अधिक कल्याणकारी मानते हैं। प्रभु की स्मृति दुःख में है, सुख में नहीं। कबीर ने इसी कारण 'सुख के माथ सील पड़ो' तक कह दिया है। उधर प्रेमियों ने 'इंतज़ार' को ही 'वस्ल-पार' से भी रुचिकर माना है। अतः जीवन का ध्येय होना चाहिये कि प्रभु की स्मृति बनी रहे। उनकी मधुर वेदना चलती रहे। हम उनके विरह में तड़पते रहें। वे कभी आकर सांत्वना दे जाएँ, कभी छिप जाएँ। इसी प्रकार उनकी लुका-छिपी चलती रहे तथा हमारी वेदना जारी रहे। बस इसके सिवा और चाहिये ही क्या? महात्मा कबीरदास जी अपने सिरजनहार साईं राम की तड़प में तड़प रहे हैं और 'अबिनासी' दूल्हा से मिलने की प्रार्थना कर रहे हैं। माधुर्य की उपासिका 'दुलहिनी' की कैसी भाव-प्रवण प्रार्थना है। पुरुष होते हुये भी कबीर स्त्री सुलभ-हृदय पा गए थे। देखिये :

अबिनासी दुलहा कब मिलिहौ भगतन के रछपाल ॥
जल ऊपजी जलही सों नेहा, रटत पियास पियास।
मैं ठाढ़ी बिरहिन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस ॥
छोड़े गेह नेह लगि तुमसो, भई चरन लौलीन।
ताला बेलि होति घट भीतर, जैसे जल बिन मीन ॥
दिवस न भूख रैन नहिं निंदिया, घर अँगना न सुहाय।
सेजरिया बैरिन भई हमको, जागत रैन बिहाय ॥
हम तो तमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।

दीन दयाल दया कर आवो, समरथ सिरजनहार ॥
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी कर लेव।
दास कबीर बिरह अति बाढ़्यो, हमको दरसन देव ॥

प्रेम और विरह--जिस प्रेम को लेकर कबीर उपासना-क्षेत्र में आये थे वह प्रेम बहुत ही गूढ़ एवं रहस्यमय था। रहस्यमय प्रेम की चर्चा आगे की जायगी अभी इतना ही बताना यथेष्ट है कि उनके प्रेम का स्वरुप कैसा था और उसमें निगूढ़ता किस श्रेणी की थी। यों तो कबीर पढ़े-लिखे बिलकुल न थे पर प्रेम के यथार्थ स्वरुप को उन्होंने समझा था। पढ़ने-लिखने की कला ने प्रेम की वास्तविकता समझने में बाधा नहीं उपस्थित की। पोथियों के ज्ञान और 'कागद की लेखी' बातों से उनको बड़ी चिढ़ रहती थी। शायद वे देखते थे कि पुस्तकों में यथार्थ बातें नहीं हैं, उनमें अधिक असत्य बातें सम्मिलित हैं। फिर उन्हें यह भी दिखाई पड़ता था कि पोथी पढ़ने वाले बहुधा वास्तविक पंडित नहीं हैं। पंडित बनने के लिए अन्य वस्तु की आवश्यकता है। 'पीव' का एक नाम अर्थात् ढाई अक्षर प्रेम का यदि मनुष्य पढ़ ले तो दुनिया में फिर कुछ पढ़ना शेष नहीं रह जाता। ईश्वर और प्रेम दोनों एक ही चीज़ हैं। कहीं कहा गया है—'God is love and love is God.' इसी से प्रेम और पीव में फ़र्क़ नहीं है :

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होय ॥*

*प्रेम ईश्वर को ख़रीदने का अच्छा मूल्य है। एक भक्त कहता है--
ज्ञानेर अगम्य तुमि प्रेम ते भिखारी। द्वारे द्वारे माँग प्रेम नयने ते वारी ॥

कबीर ने पीव नाम का पाठ अच्छी तरह से पढ़ लिया था। उन्हें अब दूसरी कोई पुस्तक पढ़नी नहीं थी। पीव के प्रेम का पाठ पढ़ने का नियम है कि मुख से उनके नाम का जाप होता रहे और चित्त में उनका ध्यान बना रहे। इस प्रकार मन और वाणी में नाम और रूप अच्छी तरह जब उतर जाय तो समझना चाहिये कि वह साधक पंडित हो गया। कबीर को इस प्रेम-पथ की साधना में अद्भुत सफलता मिली थी। मन और वाणी ही नहीं, उनके जितने कर्म थे वे सभी परम दिव्य हो गये थे। चित्त में जो कुछ ध्यान उन्हें आता उसमें साईं ही विद्यमान रहते, मुख से जो कुछ नाम निकलते सभी साईं के ही नाम होते और जो कुछ उनका काम होता वह सभी साईं के प्रीत्यर्थ होता। यह कारण था कि वे :

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई न ठहराय।
मन पवन का गति नहीं, तहाँ पहुँचे जाइ॥

साईं की अटूट लगन ही कबीर का दिव्य प्रेम था। यही प्रेम माधुर्य भाव की उपासना भी थी तथा उनके मिलन की प्रतीक्षा ही कबीर की विरह-वेदना थी। माधुर्य-भाव में उनके विरह की थोड़ी-सी चर्चा हो चुकी है। यहाँ उसी का थोड़ा प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। कबीर के प्रेम में उनके विरह का स्थान बड़ा विशिष्ट है। उनके प्रेम का मुख्य अंग विरह है, जिसमें कबीर अत्यधिक विकल हैं। विरह एक प्रकार से साईं का चलाया हुआ बाण है। अपने प्रेमी भक्त को 'वह' इसी बाण से घायल करते हैं। कबीर कहते हैं कि स्वामी बड़ी बेरहमी से इस बाण का प्रहार करते हैं :

कर कमाण सर साँधि करि, खैंचि जु मारया मांहि।
भीतरि भिधा सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाहिं॥

यह बाण एक ही दिन नहीं चलाया जाता। रोज़-रोज़ इसका क्रम जारी रहता है। रोज़-रोज़ बाण के प्रहार से भक्तों का हृदय झाँझर हो जाता है। कबीर का हृदय भी झाँझर हो गया था। जब हृदय में कहीं ठौर नहीं रह गया तो उन्होंने अपने शरीर के समस्त अंगों पर बाण लेना स्वीकार किया। महात्मा जायसी अपनी इस दशा के विषय में कहते हैं कि 'झाँझर भा हीया' पर कबीर कहते हैं—'सब तन जर जर होइ।' जायसी से कबीर का प्रेम फैला हुआ निगूढ़ है। उनके केवल हृदय में चोट है और कबीर का सारा शरीर ही घायल है। तब भी तारीफ़ यह है कि बाण खाने की उन्हें और प्रतीक्षा है। समस्त शरीर 'जर-जर' रहते हुए भी कबीर कहते हैं:

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊं नहीं॥

विरह की संज्ञा प्रेमी कई ढंग से देते हैं। कबीर विरह को प्रभु का बाण ठहरा कर फिर कहते हैं कि यह विरह सर्प है। पर सर्प काटने पर मंत्र से झाड़ दिया जाता है और 'विरह-भुवंगम' ऐसा है जिसके काटने पर कोई दवा-दारू काम नहीं करती। देखिये:

विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ॥
बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूँ भावै त्यूँ खाव॥

कबीरदास जी प्रेमी तो थे ही, साथ ही साधु भी थे। साधु का स्वभाव बड़ा ही सरल और उदार होता है। एक बार एक बिच्छू पानी में बहता जा रहा था उसे एक साधु छान रहे थे। वे जब-जब छानते तब-तब उन्हें वह डङ्क मार रहा था। किन्तु उन्होंने उसकी जान बचा ही ली। इससे सिद्ध है कि साधु शरीर की चिन्ता छोड़ देते हैं। उससे यदि किसी का परोपकार होता है तो वे इसे अपना सौभाग्य मानते हैं और अपने शरीर को वे उसी में लगा देते हैं। दूसरे के लिए वे दयावान् होते हैं, अपने लिए बिलकुल निर्दयी होते हैं। कबीरदास के हृदय में 'विरह भुवंगम' पैठ कर काट रहा है। इस पर वे अपने शरीर को तनिक ·हिलाते-डुलाते भी नहीं। जैसे वाणों को सहने का कड़ा अभ्यास उन्होंने कर लिया था वैसे ही 'विरह-भुवंगम' से कटवाने का भी। विरह की परिभाषा देकर कबीरदास जी अब उसकी आवश्यकता बताते है :

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घट बिरह न सेचरै, सो घट सदा मसान॥

जिस प्रकार बिना ईश्वर के 'सूना घट नहीं कोय' है और उसमें आवश्यकता है प्रभु के प्रकट होने की वैसे ही प्रेम करने वाले व्यक्ति के हृयद में विरह की आवश्यकता है। विरह के बिना प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। विरह ही प्रेम को मानो सजीव रखता है। कबीरदास जी का तो विचार है कि बिना विरह के मनुष्य का शरीर ही नहीं है, वह मरा हुआ है। प्रेमियों की अनिवार्य वस्तु है विरह। प्रेम का दूसरा स्वरूप जिसे मिलन कहते हैं, बिना विरह के सम्भव नहीं

है। संसार का नियम है कि बिना उसके एक अंग के दूसरा अंग चल नहीं सकता। उसके दोनों अंगों को चलाने के लिए एक दूसरे की अनुपस्थिति में एक दूसरे को मानना पड़ेगा। सबसे अच्छा होगा पहले दुःखद वस्तु को मानना क्योंकि दुःख के बाद सुख का स्वाद अच्छा लगता है। किसी ने कहा है :

जानै ऊख मिठास को जब मुख नीम चबाय।

मिलन की सुखमय घड़ी आने के पूर्व कबीरदास जी वियोग और विरह की दुखमय घड़ियों का स्वागत करते हैं। दुःख को वे सुख की अपेक्षा अधिक मानते हैं और रोने को हँसने की अपेक्षा। हँसने से कबीरदास जी को चिड़चिड़ाहट थी। प्रेम का प्यारा मित्र कबीर कहता था :

कबीर हँसणा दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूँ पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥

जैसा हम कह चुके हैं कि प्रेम और प्रीतम में कबीर भेद नहीं मानते थे। प्रेम ही कभी प्रियतम के नाम से पुकारा जाता है और प्रियतम ही कभी प्रेम के नाम से पुकारे जाते हैं। दोनों के नाम और रूप घुल-मिल गए हैं जिन्हें निकाल कर पृथक्-पृथक् अस्तित्व क़ायम करना टेढ़ा है। प्रेम का पाना अथवा प्रियतम को पाना एक ही बात है। अतः कबीर उक्त दोहे में प्रेम को लक्ष्य कर प्रियतम के लिये फिर कहते हैं :

हँसि हँसि कंत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हाँसे हीहरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ॥

सचमुच जब हँसने से ही प्रेम या प्रभु मिल जाते तो कौन उन्हें पाने से बाक़ी रहता। मगर नहीं। वे हँसने से मिलते ही नहीं तथा दुनिया रोना चाहती नहीं। इसलिए दो-चार जो रोते हैं अथवा जो रो गए हैं उन्हें ही परमात्मा मिले हैं। कबीरदास जी प्रभु के विरह में सतत जागरूक रह कर रोने वाले व्यक्ति थे। विरह-वेदना में उनका शरीर झुलस गया था। प्रभु-मिलन की चिन्ता घुन के समान उनके शरीर को खा रही थी। अजीब दशा थी :

जौ रोउं तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मनही माँहि बिसूरणा, ज्यूँ घुंण काठहि खाइ॥

विरहिणी की ठीक जैसी दशा होनी चाहिये वैसी ही कबीर की हो गयी थी। आजीवन की प्रतीक्षा का व्रत प्रेमियों में परम प्रशंसनीय है। दो-चार दिन की प्रतीक्षा या आशा में रहकर सबका मन ऊब जाता है। सभी घबड़ा जाते हैं। वह आशा भार हो जाती है पर यह लम्बी अवधि जिसमें कबीर बैठे हैं और कहते है :

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विश्राम॥

कोई भी हो किन्तु जब अधिक दिन विरह-व्यथा में निकल जाते हैं तो उसका हृदय अवश्य अधीर हो उठता है। कबीर को जब विरह-पथ में चलते बहुत दिन गुज़र गये तो उन्होंने एक दिन झल्ला कर स्वामी को उपालम्भ दिया :

कै विरहनि कूं मींच दे, कै आपा दिखलाइ?
आठ पहर का दाझणां, मोपैं सह्या न जाइ॥

ज़हर दे देना अच्छा है लेकिन इतना दुःख देना अच्छा नहीं। इसमें परमात्मा के भाव को जाँचना भक्त को इष्ट है। यदि वे मिलने वाले होंगे और उन्हें दया होगी तो अवश्य दर्शन देंगे। यदि दर्शन देना उन्हें स्वीकार न होगा और वे निर्दयी होंगे तो विरहिनी को मौत देंगे। कबीर ने विरह को टालने के दो उपाय सुझाये हैं। इसमें एक रास्ता तो प्रभु अवश्य ही पसन्द नहीं करेंगे। वह यह कि मौत देना उन्हें अच्छा न लगेगा। रह गया दर्शन देना, वह हो सकता है। लेकिन उसका समय बना हुआ है। वह समय संस्कार के योग से बनता है। भक्त के घबड़ाने से अथवा प्रभु की कृपा से वह समय टाला नहीं जा सकता। जब तक तड़पाना होगा, तरसाना होगा प्रभु प्रेमी को तड़पाते रहेंगे, तरसाते रहेंगे। ऐसे ही जब प्रेमी के नव संस्कार का उदय होगा तब स्वयं ही प्रभु प्रकट होकर उसे अपने में लीन कर लेंगे। उसी समय की टोह भक्त रखते हैं। वियोगी कबीर उन दिनों की बाट जोह रहे हैं :

वै दिन कब आवेंगे भाई।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाई॥

इस प्रतीक्षा की ज्वाला कभी उदिप्त हो जाती है तो कबीर को ऐसा आभास होता है कि उनके शरीर का कुछ भी अंश बिना जले न रहेगा और जब कभी मन्द गति से आग सुलगती है तो उसमें अपार पीड़ा होती है। मगर कबीर का विरह अवश्य प्रशंसनीय है जिसकी अग्नि में कबीर स्वयं तो जल ही गये लेकिन जलाने वाली विरहाग्नि भी उन्हें जला कर सीख गई :

कबीर तन मन यौं जल्या, विरह अगनि सूं लागि।
मृतक पीड़ न जांणई, जांणैंगी यहु आगि॥

मिलन-सुख—माधुर्य भाव के प्रेमियों में विरह और मिलन दोनों का यथासाध्य समावेश रहता है। कबीर माधुर्य भाव के उपासक थे। उनका प्रेम भी मिलन और विरह दोनों का एक किया हुआ स्वरूप था। विरह का परिमाण मिलन की अपेक्षा उनके प्रेम में अधिक था—शायद उनके प्रेम में अधिक था। उनके प्रेम में केवल विरह ही विरह था। माधुर्य भाव की रक्षा करने के लिये या प्रेम के दोनों स्वरूप बराबर करने के लिये गिने-गिनाये दो-चार चित्र मिलन के मिल जाते हैं। पर जो कुछ प्रेम के मिलन-चित्र हैं वे ही कबीर के पूर्ण सुख को दिखाने के लिये बहुत हैं। यों तो मिलन के कतिपय स्वरूप होते हैं और उन विभेदों के अनुसार मिलन-सुख भी अनेक हैं। एक महा-मिलन होता है, जिसके बाद न विरह होता है, न मिलन ही होता है। वह प्रेमियों का महासुख है। उसका समय जीवन के अन्त में होता है। उसके बाद जन्म और मृत्यु के चक्कर से जीव सदा के लिये छूट जाता है। प्रिय में प्रेमी मिलकर एक हो जाता है जिसे हम 'सायुज्य' के नाम से पुकारते हैं। लेकिन जब तक महा-मिलन नहीं होता तब तक प्रेमियों के साथ प्रिय भगवान अनेक प्रकार की लीलाएँ किया करते हैं। विरह के लम्बे रास्ते में मिलन की झाँकी दिखा-दिखा कर परमात्मा भक्तों को खींचे चले जाते हैं और बढ़ाते चले जाते हैं। महा-मिलन या महासुख का परिचय प्रेमी नहीं देते और न दे ही सकते हैं क्योंकि उसे दे जाने का उन्हें अवकाश नहीं मिलता।

पर विरह के बीच-बीच के मिलने के सुख वे अवश्य वर्णन कर जाते हैं। मानें तो यह प्रत्यक्ष मिलन है, नहीं तो प्रेमियों की यह एक प्रकार की भावना है। पर भावना दृढ़ है और उस भावना का मिलान हमारी सांसारिक भावनाओं से नहीं किया जा सकता। महात्मा कबीरदास जी का विरहोन्माद यों ही चल रहा था कि अचानक एक दिन उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि उनके साईं राम उनके घर प्रकट हो गये। उनके इस भाग्य का कौन हिसाब लगा सकता था ? अपनी इस भावना को उन्होंने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है :

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये, भाग बड़े घरि बैठें आये ॥
मंगल चार मांहिं मन राखौं, राम रसांइण रसनां चाषौं ॥
मंदिर मांहिं भया उजियारा, ले सूती अपनां पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई ।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां ॥

घर बैठे स्वामी को पा जाने से कबीर को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। आते ही 'उनका' प्रकाश अन्दर-बाहर सर्वत्र फैल गया। इधर घर में चारों तरफ उजाला छा गया और उधर हृदय-मन्दिर आलोकित और पुलकित हो गया। उस हर्ष और पुलक में कबीर आनन्दातिरेक से नाचने लगे। 'मंगलचार' बाद जो उन्होंने कार्य किया वह बड़े सुख का कार्य था। 'ले सूती अपनां पीव पियारा'—यह अधिकार कबीर को ही था, जिसे उन्होंने झट कार्यान्वित कर दिखाया। माधुर्य भाव के प्रेमी भक्त का यह अपूर्व सुख है। महा-मिलन के नीचे यदि किसी सुख का स्थान मिलन के क्षेत्र में है तो वह यही है कि प्रीतम के साथ

अकेले में सुखभरी सेज का आनन्द लें। कबीर ने मिलन का अनूठा सुख तुरन्त उठा लिया। ऐसे अपूर्व सुख का नाम सुन कर शायद कोई हिचके सो बात नहीं। कबीर कहते हैं कि यह सचमुच उनका भाग्य है। यद्यपि उन्होंने इस के योग्य बहुत से कार्य किये थे फिर भी इस असीम सुख को पाकर उन्हें अवगत होता है कि उनके कार्य इस परमात्म-सुख के सामने कुछ नहीं हैं। उनके सभी कार्यों का एक ही जवाब ईश्वर ने यह दिया कि उन्हें दर्शन दे फिर उनके साथ सो रहे। यह उनकी बड़ाई है। इतना तो कबीर अपनी ओर से ज़रूर कहेंगे क्योंकि इस योग्य उनका कोई कार्य नहीं है। कबीर ने कुछ नहीं किया है—इसमें संत अपने को अकर्ता सूचित करता है। 'सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां' से पातिव्रत्य का स्वच्छ रस टपक रहा है। पिया के साथ सो लेने पर पत्नी को कुछ कहने-सुनने का अधिकार स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। अथवा यों कहिये कि उस समय तो पति के सामने कुछ ढीठ हो जाती है। कबीरदास जी प्रेम की यह ढिठाई इस प्रकार रखते हैं :

> **अब तोहि जान न देहूँ रांम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे।**
> **बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठें आये॥**
> **चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई॥**

बहुत दिनों की बिछुड़ी पत्नी यदि पति को पायेगी तो शीघ्र ही क्या जाने दे सकती है ? वह तो उन्हें भुजाओं में भर लेगी। यहाँ कबीरदास जी नियमानुसार पति के चरणों को पकड़ कर ठहराने का निवेदन कर रहे हैं। पति का चरण पकड़ना एक हिन्दू स्त्री का

महान् कर्त्तव्य है। महात्मा कबीरदास जी का प्रेम दाम्पत्य-प्रेम के अनुरूप होते हुए भी उसका स्वरूप पावन था—मीरा जैसा था। कबीरदास जी के इस पद में हिन्दू-भावना की भी झलक मिलती है। ऐसा मालूम होता है कि वे एक हिन्दू के संस्कार से और संसर्ग से हुए थे। एक हिन्दू सती अपने पति की चरण-सेविका से लेकर अधर-रस पान करने वाली तक है। पहले तो कबीर ने अपने पति के साथ सोना दिखाया है तत्पश्चात् उनके चरण पकड़ कर उन्हें बाँध रखने के लिए प्रयत्न करना शुरु किया है। याद रखने की बात है कि वह बाँध रखने वाला तागा या ज़ंजीर भी उस प्रेमी ने 'प्रेम-प्रीति' का तैयार किया है। इसी के द्वारा उसकी 'बरिआई' समझिये या जो समझिये। इसी 'बरिआई' से अनन्य प्रेमी प्रभु को बाँधा करते हैं। केवट और बाली ने भी राम को अपने ऐसे ही प्रेम में शायद पकड़ा था।

पर हाँ, इस मिलन के पूर्व किस स्तर पर प्रेमी को पहुँचना चाहिए—यह विचारणीय प्रश्न है। यों ही परमात्म-मिलन नहीं हो जाता। उसके लिए बहुत से उच्चकोटि के कर्म करने पड़ते हैं, वियोग की आँच में झुलसना पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर जल जाना पड़ता है। कबीरदास जी जले हुए संत थे। लोक-लाज का त्याग करना पड़ता है, अपने 'अहं' का लोप करना पड़ता है, मन, कर्म और वचन को पवित्र बनाना पड़ता है, अपने प्राण और शरीर की सुधि भूल जानी पड़ती है। कबीर ने कहीं कहा है कि 'सीस उतारै भुईं धरै' उसी को प्रभु मिलते हैं, नहीं-नहीं 'वे' कहते हैं कि यदि इतनी करने की शक्ति हो तो आओ। जाना अपने बल पर पड़ेगा। उधर

से भी कुछ मदद मिलती रहेगी पर वह मदद कभी-कभी मिलेगी। मगर यह सत्य है कि जो इतना प्रयास करेगा और उनका निरावरण हो जायेगा उसे ईश-मिलन अवश्य होगा। कबीर के शब्दों में इस मिलन का परिचय सुनिए :

घूँघट का पट खोल री, तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट रमता राम रमैया, कटुक बचन मत बोल रे॥
रंग महल में दीप बरत है, आसन से मत डोल रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधू, अनहद बाजत ढोल रे॥

रहस्यवाद—कबीर का रहस्यवाद सर्वोत्कृष्ट है। सूफ़ी धर्म के अनेक संत कबीर से पहले हो चुके थे। उनका प्रभाव देश पर काफ़ी पड़ चुका था। अनेक सिद्ध सूफ़ी कबीर के समय में विद्यमान भी थे। सूफ़ियों के रहस्य से कबीर काफ़ी प्रभावित हुए और अपनी भावना की पुष्टि रहस्यमय उक्तियों द्वारा की। सूफ़ियों का रहस्य भावनामय था। उसमें कबीर ने थोड़ा-सा अपना अनुभव और थोड़ी-सी अपनी अनुभूति का मेल कराया। कबीर का रहस्य भावना प्रसूत होते हुए भी चिन्तन-प्रसूत बन गया, जो वेदान्त के अनुरूप हो गया। वेदान्त का अद्वैत ज्ञान मूलक है अतः वह चिन्तन का विषय है। तात्पर्य यह कि कबीर का रहस्य सूफ़ियों से प्राप्त होते हुए भी अपनी भारतीय सत्ता को बनाये ही रहा। गीता और वेदों और उपनिषदों में जो सर्वात्म-मूलक भावना व्यक्त की गयी है उसी को लेकर कबीर ने माधुर्य भाव की उत्पत्ति की। कबीर का प्रेमाख्यानक प्रायः सभी मुसलमान कवियों ने पीछे से अपनाया। कबीर का वह प्रेम जिस पर रहस्य की नीव खड़ी

है अकथनीय है। स्वयं कबीर भी उसकी परिभाषा देने में असमर्थ हैं। दो दृष्टान्त देखिये—

(क) अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा, बैठा मुसकाइ॥

(ख) कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बूझै तो का कहिये?

कबीर का प्रेम सारी सृष्टि में निखरा नहीं है। वह एक सीमित दायरे में किन्तु अत्यन्त निगूढ़ है। विश्वव्यापी रहस्यवाद का सामञ्जस्य उन्होंने केवल एक-दो जगह दिखाया है। इसके बाद चारों तरफ़ वही अपना ज्ञानयुक्त रहस्य उन्होंने खोला है। सारी सृष्टि सूफ़ियों की दृष्टि में प्रेम-रस से भीग रही थी। अचानक प्रेम का वही बादल कबीर पर जा बरसा :

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरस्या आइ।
अंतरि भींगी आत्मा, हरी भरी बनराइ॥

जहाँ कबीर की उक्तियाँ ऐसी सरस हैं वहाँ रसिकजन बहुत प्रसन्न होते हैं। नहीं तो और सर्वत्र कबीर का रहस्य उन्हें रूखा मालूम होता है। कुछ रसिकों को तो कबीर का माधुर्य-भाव भी फीका लगता है। वास्तव में मीरा की मिठास के सामने कबीर का माधुर्य भाव निम्नतर और शुष्क है, किन्तु है बड़ा ज्ञानयुक्त तथा चिन्तन योग्य। कबीर के चित्रों में वे लोग अनेक-रूपता खोजते हैं और उन्हें मिलती नहीं। इससे अप्रसन्न होते हैं। पर वे लोग यह नहीं जानते कि कबीर में कितना तथ्य है, सार है। सारहीन और तथ्यहीन काव्यों में बाहरी मुलम्मा करने की आवश्यकता होती है। यदि सावधानीपूर्वक देखा जाय तो

चित्रों की अनेकरूपता भी कबीर देते हैं। उदाहरणतः कबीर की रहस्यमयी एक अन्योक्ति लीजिये :

काहे री नलिनी ! तू कुमिलानी। तेरे ही नालि सरोवर पानी॥
जल में उतपति जल में बास। जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपर आगि। तोर हेत कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समान। ते नहिं मुए हमारे जान॥

कबीर द्वारा मृत्यु का संकेत कई प्रकार की रहस्यमय उक्तियों द्वारा दिया गया है :

(क) **मालन आवत देखि करि कलियाँ करी पुकार।**
फूले फूले चुणि लिए, कालिह हमारी बार॥

(ख) **बाढ़ी आवत देखि करि, तरिवर डोलन लाग।**
हम करे की कछु नहीं, पखेरू घर भाग॥

(ग) **फागुण आवत देखि करि, बन रूना मन माहिं।**
ऊंची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थाहिं॥

कबीर का अनोखा रहस्य जो किसी कवि के जिम्मे नहीं पड़ा है, उनकी उल्टवाँसियाँ हैं। उल्टवाँसियों के रहस्य वस्तुतः रहस्य हैं। उनका अर्थ आसानी से पा लेना सर्वसाधारण के लिये कठिन है। माधुर्य भाव के रहस्यमय पद सभी समझ लेते हैं पर इसे कौन समझे ?

बाँझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पाँउ तरवर चढ़िया।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन पंडै संग्राम लड़िया॥
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया॥
रूप बिन नारी पहुप बिन परिमल, बिन नीरै सरमरिया॥

कोई शायद अवाक् होकर कहे कि ये रहस्य कबीर के मनगढ़न्त और मनमाने ढङ्ग से रचे गये हैं, सो भूल है। इसका भी आधार है। कठोपनिषद् में एक जगह पर ब्रह्म सबका कारण बताया गया है, कर्ता नहीं। उसी का आधार लेकर उक्त पद बना है।

प्रकृति और स्वभाव—संतवर कबीरदास जी बहुत उच्च कोटि के संत थे। एक महान् आत्मा उन्हें प्राप्त थी। उनका धरातल बहुत ऊपर उठा हुआ था। वे एक पहुँचे हुये महात्मा थे। उनका हृदय वस्तुतः संत-हृदय था। संत-हृदय के जो-जो लक्षण चाहिएँ सभी उनके हृदय में मौजूद थे। वे साफ़ और सरल हृदय के महात्मा थे। उनसे झूठी बातें और पाखण्ड तथा मिथ्याडम्बर देखा नहीं जाता था। हिन्दुओं और मुसलमानों की कड़ी आलोचना करने का उनका यही तात्पर्य था कि वे उनमें घुसी हुई कितनी ही बुरी रीतियों को देख नहीं सकते थे। विश्व में एक धर्म संस्थापित हो, कबीर का यही प्रयास था। वे जगत् के सच्चे-शुभैषी थे। परस्पर की विरोधकारी बातें उन्हें असह्य थीं। जगत् में एक धर्म चलाने का उद्योग करने वाले महात्मा कबीरदास ही थे। पंडितों और मुल्लाओं को उन्होंने इसीलिये फटकारा था कि वे दोनों अपने-अपने हठ को छोड़ दें और आपस में मिल कर रहें। वास्तव में वे खींचातानी में पड़ कर अनेक ग़लत और कपोल-कल्पित रास्ते बना रहे थे। इधर कबीर सत्य की खोज करने वाले संत थे। असत्य का आचरण और मार्ग उनसे देखा न गया। उन्होंने खुलेआम कह दिया :

दुनो जने राह बिगारिन भाई।
हिन्दुअन की हिन्दुआइ देखी, तुरकन की तुरकाई॥

नदी किनारे सुअर मरि गये, मछली नोच के खाइ।
वा मछली को तुरका खाये कहाँ रही तुरकाई ॥

इसी प्रकार हिन्दुओं के विषय में भी समझ लीजिये। मतलब यह कि दोनों दलों में काफ़ी असत्य का प्रचार हो रहा था। वेदों के काटने में कबीर का आशय यह था कि वे हिंसा के विरोधी थे। चाहे कोई धर्म हो, यदि वह हिंसा का प्रतिपालक है तो चल नहीं सकता और वह बुरा ही है। मगर इतना तो स्पष्ट है कि कबीर वेदों की वास्तविक जानकारी नहीं रखते थे। दो-चार बातें जो जनता के मुँह से उन्होंने सुन ली थीं वही उन्हें मिली थीं। स्वयं पढ़े-लिखे तो थे नहीं कि वेद पढ़ कर उनका यथार्थ तात्पर्य समझते। वे बहुश्रुत थे। बड़े सत्संगी भी थे। सत्संग और भ्रमण द्वारा उन्हें बहुत कुछ मिला था। उन्हीं में अपना अनुभव मिलाकर उन्होंने अपनी नूतन प्रेम-पद्धति चलाई जो आगे चल कर कबीर पंथ बना। उनके अनुयायियों में पीछे से वे बातें न रहीं जो कबीर में थीं। लेकिन जो मार्ग कबीर ने चलाया और जिस पर वे स्वयं चले, वह मार्ग अत्यन्त उत्तम था। भ्रमवश कुछ लोग कबीर को घमंडी समझते हैं। ऐसा समझने में कबीर की निम्न उक्तियों को पेश करते हैं :

(क) **झीनी झीनी बीनी चदरिया।**
सो चादर सुर नर मुनी ओढ़े, ओढ़ कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥

(ख) **कबीरा मारग अगम है, सब मुनि जन बैठे थाकि।**
तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुरू की साखि।

(ग) सुरनर थाके मुनि जनां, जहाँ कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ॥

(घ) एक न भूला दोई न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाकै राम अधारा॥

पर वे साथ ही कबीर की ऐसी उक्तियों की ओर ध्यान ही नहीं देते—'कबीर कूता राम का' और 'हमसे नहीं पापी'। कबीर वस्तुतः घमण्डी नहीं थे। उन्हें घमंड छू तक नहीं गया था। घमण्ड से और उस महात्मा से क्या मतलब? वह सिद्ध पुरूष परमात्मा को पाकर कुछ गौरव दिखला देता था। उसके स्वामी के आधार का गौरव ही लोग गर्व मान लेते हैं। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि गर्व और गौरव में कुछ अन्तर है। गर्व तामसी रूप है और गौरव सात्विक रुप। गौरव प्रत्येक आदमी की मनुष्यत्व की निशानी है। कबीर को गर्व से तनिक भी छुआछूत न थी। उनके उपदेशों को देख कर तो मालूम पड़ता है कि वे धूल से भी गए बीते थे। उन्होंने कई बार कहा है:—

(१) कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसे ह्वै रह्या ज्यूं पाऊँ तलि घास॥

(२) लघुता ते प्रभुता मिले, प्रभुता ते प्रभु दूरि।
चींटी सक्कर ले चली, हाथी के सिर धूरि॥

(३) बुरा बुरा सब को कहै, बुरा न दीसै कोइ।
जे दिल खोजौं आपणीं, तौ मुझ सा बुरा न कोइ॥

कबीर के 'साईं—सिरजनहार 'राम—कबीर की उपासना निर्गुण निराकार ब्रह्म की हुई है जिनका न कोई नाम है और न कोई

रूप है। फिर भी भक्त को जब उन्हें पुकारना पड़ा है तो कतिपय नामों से पुकारा है और यह सिद्ध किया है कि उस निर्गुण ब्रह्म के नाम अनन्त हैं। इष्टदेव का नाम बताना बड़ा टेढ़ा कार्य है। पर जिस नाम की अधिक रट कबीर ने लगायी है वह नाम निर्गुण ही लायक उन्होंने रक्खा है—साईं सिरजनहार राम। साईं सिरजनहार की उपासना कबीर को इष्ट थी। इस एक नाम को देखकर एक रूप देखने की भी अभिलाषा स्वतः हृदय में उत्पन्न होगी। मगर बड़े दुःख की बात है कि कबीर के साईं अरूप हैं, उनका कोई रूप नहीं है। फिर भी जैसे अनन्त नामों में से विशेष नाम देख कर एक निकाल लिया गया है वैसे ही जैसा रूप कबीर अपने साईं का खींचते हैं वह क्रमशः लिया जाता है। निर्गुण निराकार ब्रह्म की आभा कबीर को प्रथम निम्न प्रकार से मिलती है :

पहली मन में सुमिरौं सोई, ता सम तुलि अवर नहिं कोई ॥
कोई न पूजै बासूँ प्रांनां, आदि अंति वो किनहुं न जांनां ॥
रूप सरूप न आवै बोला, हरू गरू कछू जाइ न तोला ॥
भूख न त्रिषा धूप नहिं छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब मांहीं ॥

अबिगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठाम ।
बहु विचार करि देखिया, कोइ न सारिवर राम ॥

जो त्रिभुवन पति ओहै ऐसा, ताका रूप कहौ धौ कैसा ॥
सेवग जन सेवा कै तांईं, बहुत भाँति करि सेवि गुसांईं ॥

* * * *

कोई न लखई बाका भेऊ। भेऊ होइ तौ पावै भेऊ ॥
बाधैं न दाहिनै आगै न पीछू। अरध उरध रूप नहिं कीछू ॥

मायं न बाप आब नहिं जावा । नां बहु जरायां न कोवहि जावा ॥
वोहै तैसा वोही जानै । ओही अहै आही नहीं आंनैं ॥
नैना बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार ।
बोलन कै सुख कारनैं, कहिये सिरजनहार ॥

चूँकि बोलने में सुख मिलता है इसलिए कबीर अपने साईं को 'सिरजनहार' कहते हैं। 'सिरजनहार' नाम तो हो ही गया तो फिर राम नाम रखने की क्या आवश्यकता थी, आप आसानी से पूछ सकते हैं। कबीरदास रामानन्द के शिष्य थे तथा रामानन्द ने राम नाम का मंत्र दिया था। गुरू का दिया हुआ नाम भौसागर तरने के उद्देश्य से कबीर ने अपने निज के निर्धारित नाम सिरजनहार में जोड़ दिया और कह दिया :

सिरजन हार नांठ धूं तेरा । भौसागर तरिबे कूं भेरा ॥
जे यहु भेरा राम न करता । तौ आपै आप आवटि जग मरता ॥
राम गुसाईं मिहर जु कीन्हां । भेरा साजि संत कौ दीन्हा ॥
दुख खंडण महि मडणां, भगति मुकति बिश्राम ।
विधि करि भेरा साजिया, धरया राम का नाम ॥

नाम का व्यापक परिचय बताकर कबीर उनके स्थान के विषय में कहते हैं :

जस कर मांउ न ठांउ न खेरा । कैसे गुन बरनू मैं तेरा ॥
नहीं तहाँ रूप रेख गुन बाना । ऐसा साहिब है अकुलांना ॥

अब लीजिए सिरजनहार राम की उम्र :

नहिं सो ज्ञान न विरध नहीं बारा । आपैं आप आपनयौ तारा ॥

× × ×

ना वो बारा ब्याह बराता । पीत पितंबर स्यांम न राता ॥

नाम, रूप, रंग, उम्र आदि सब कुछ का निर्णय करके कबीर राम और सिरजनहार को सभी झंझटों से अलग करते हैं । अलग करते हुए भी वे सावधान रहते हैं कि उनके सांईं को सभी बिलकुल अलग ही न मान लें । अलग रहते हुए भी सटे हुए वे राम हैं और सटे हुए भी वे राम सबसे अलग हैं । कबीर के इष्टदेव की यही विशेषता है । परिचय सम्बन्धी कबीर के कुछ अन्य पद लीजिए :

नां तिसि सबद न स्वाद न सोहा । नां तिहि मात पिता नहीं मोहा ॥
नां तिहि सास सुसुर नहीं सारा । नां तिहि रोज न रोवन हारा ॥
नां तिहि सूतिग पातिग जातिग । नां तिहि माइ न देव कथा पिक ॥
नां सो आवै न सो जाई । ताकै बंध पिता नहिं माई ॥
चार बिचार कछू नहिं वाके । उनमनि लागि रहौ जे ताके ॥
नाद बिंद रंग इक खेला । आपै गुरू आपही चेला ॥
आपै मंत्र आप मंत्रेला । आपै पूजै आप पूजेला ॥

जैसा कि प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं, कबीर अपने साईं को सबसे पृथक् आँकना चाहते थे । उनके मुक़ाबले में वे किसी को रखना नहीं चाहते थे । सबसे बड़ा और सबसे न्यारा कोई पुरुष है तो वह है एक मात्र कबीर का सिरजनहार साईं राम । वे सबसे अछूते हैं । कोई उनको पहचान नहीं सका । सभी बीच के देवताओं की अराधना करके लौट आये । एक भक्त कबीर ही उस परम पुरुष के पास पहुँच

सके थे। उन्हें इसका गौरव रहता था। कबीर की भक्ति में यही विशेषता है और कारणतः उनकी भक्ति से किसी की भक्ति तुल नह सकती। कबीर के साईं बेजोड़ है और उनकी 'बहुरिया' भी बेजोड़ है। भक्त और भगवान दोनों का स्वरुप अपने दर्जे में या सब के बीच वह परमोत्कृष्ट है। न भक्त ही किसी पचड़े में है न उसके भगवान् ही किसी झंझट में हैं। सभी झंझटों से और पचड़ों से अलग भक्त और उनके भगवान् दोनों है। लोग कहते हैं कि भगवान् के ही अवतार दस या चौबीस हुए हैं। कबीर इसे सुनते हैं पर कहते हैं कि वह पुरुष जिसकी आराधना वे कर रहे हैं, कभी यहाँ आया ही नहीं :

नां दशरथ घर औतरि आवा। नां लंका का राव संतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा। नां जसवै ले गोद खिलावा॥
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया। गोबरधन ले न कर धरिया॥
बावन होय नहिं बलि छलिया। धरनी बेद लेन उधरिया॥
गंडक सालिगराम कोला। मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री बैस्य ध्यांन नहीं लावा। परस राम ह्वै खत्री न संतावा॥

पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर को अवतार से क्या मतलब? भला या बुरा दोनों तो उसी का रचा है, फिर एक को सताने से क्या वास्ता? यदि अलख-निर्गुण प्रभु ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने लगें तो उसकी महानता तनिक भी नहीं है। ऐसे बड़े पुरुष को किसी घेरे में आने से क्या तात्पर्य? मान लीजिये कि वह आयेगा ही तो लङ्का के रावण को बध करने क्यों जायेगा! क्षत्रियों को नष्ट करने में उसे क्या मिलेगा? 'मछली' और 'कच्छप' जैसे जीव बन कर वह

अपने को क्यों संकुचित करेगा ? अतः वे निर्गुण-ब्रह्म या कबीर के साईं राम अंडकराही के राजा होते हुए भी सबसे पृथक् हैं।

सर्वप्रियता—कबीर सारतः वैष्णव थे। उनका हृदय बिलकुल वैष्णव का-सा हो गया था। शाक्तों से उनकी नहीं पटती थी। इसी लिये अनेक स्थानों में उन्होंने शाक्तों की निन्दा की है। वैष्णवों की जगह-जगह पर उन्होंने बड़ाई की है और शाक्तों के बुरे कर्म से दुःखित हो कर उन्होंने उन्हें कोसा है। उसके दो-चार नमूने देखिए :

(क) **बैस्नों की छपरी भली, ना साकत का बड़गांव।**
(ख) **बैस्नो की कुतिया भली, ना साकत की माइ॥**
(ग) **साकत ब्रभण मति मिले, बैसनो मिले चंडाल।**
(घ) **रोवहु साकत बापुरे, जो हाटे हाट बिकाय॥**

जिस प्रकार तुलसी को निर्गुण फ़कीरों से चिढ़ थी उसी प्रकार कबीर को शाक्तों से। इतनी चिढ़ रखते हुए भी यह दोनों महात्मा—तुलसी और कबीर—जनता को ख़ूब सर्वप्रिय हुए। तुलसी की सर्व-प्रियता तो इसी मे सिद्ध है कि वे हिन्दू-हृदय के साथ घुलमिल गए हैं। हिन्दुओं पर तुलसी की भक्ति का इतना प्रभाव पड़ा कि उनका जीवन ही राममय और तुलसीमय हो गया। पर हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों पर और हिन्दू-मुसलमान से पृथक् एक तीसरी जाति कबीरपंथियों पर प्रभाव जमाने वाले महात्मा कबीर ही हुए। तुलसी हिन्दुओं के हक़ में पड़े और महात्मा कबीरदास जी हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए पुष्पराशि हुए। उस पुष्प को लेकर चाहे गाड़ दें अथवा जला दें पर वह दोनों के लिए समान हैं। इतना

ही नहीं, वह बुरे और भले, दोनों के लिए समान हैं क्योंकि पुष्प का गुण है 'अंगुलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ।' अतः कबीर की सर्व-प्रियता तुलसी से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। यदि हम इन दोनों महात्माओं का प्रभाव देखते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि इनके समान किसी की वाणी का प्रभाव जनता पर नहीं पड़ सका और इतना सर्व-प्रिय आज तक कोई नहीं हो सका।

कबीर की काव्य-शैली

कवि-कर्म के दो पक्ष होते हैं। एक हृदय-पक्ष, दूसरा कला-पक्ष। हृदय-पक्ष में कवि की हृदयता सम्बन्धी बातें आती हैं जिससे काव्य के भाव-रस आदि की उत्पत्ति होती है। कला-पक्ष में कवि काव्यगत लालित्य प्रदर्शित करता है जिससे अलङ्कार-पिङ्गल का चमत्कार प्रतिबिम्बित होता है। यदि दोनों पक्षों का सामान समावेश किसी कवि में रहता है तो वह कवि पूर्ण समझा जाता है। सूर और तुलसी की कवितायें हृदय-पक्ष और कला-पक्ष दोनों से परिपूर्ण हैं। वे दोनों परम भावुक और काव्य-कला-निष्णात कवि थे। उनका अध्ययन और उनकी अनुभूतियाँ दोनों पूर्ण और समान मात्रा में थीं। अतः वे पूर्ण कवि थे। इसके बाद प्रायः समस्त कवियों में अधूरापन पाया जाता है, कविता के सम्पूर्ण लक्षण से उनकी रचनायें रिक्त प्रतीत होती हैं। किसी की रचना कलापक्ष-प्रधान दीखती है तो किसी की हृदय-पक्ष-प्रधान। केशव और बिहारी आदि की रचनाओं में कला-पक्ष की प्रधानता है और वह प्रधानता इतनी है कि उसके कारण हृदय-पक्ष की बिलकुल उपेक्षा-सी हो गई है। जायसी और मीरा आदि की रचनाओं में हृदय-पक्ष-प्रधान है। उनकी सहृदयता में कला-पक्ष निछावर है। यहाँ एक बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कला-पक्ष के

अभाव में केवल हृदय-पक्ष से कवि-जन अपने नाम को सुरक्षित रख लेते हैं; किन्तु हृदय-पक्ष के बिना कला-पक्ष से कवि कहलाना कवि-पद को कलंकित करना है। कवि का शाब्दिक अर्थ जो हो पर वास्तविक अर्थ है अपने हृदयगत भावों को, टीसों को अभिव्यक्त करने वाला व्यक्ति। जो अलंकार और पिंगल के वाह्याडम्बर पर ध्यान नहीं रखते हुए अपनी भावनाओं को येन-केन-प्रकारेण व्यक्त करने में लगा है, वही कवि है। यह सिद्ध है कि जो कवि ऐसा करता है उसको कविता सरस और भावापन्न तो होती ही है साथ ही हृदय की उमंग की लपेट में आपसे आप, अनायास, स्वतः कला का लालित्य उस पर चढता जाता है। यही कारण है कि जायसी और मीरा, जिनकी कविताएँ हृदय-पक्ष-प्रधान हैं, में आसानी से हम कला का सुन्दर दिग्दर्शन कर सकते हैं और वही केशव और बिहारी में, जिनकी कविता अलंकार के बोझिल भार से लदी हुई है, हम हृदय-पक्ष खोजने निकलते हैं तो हमें अपना-सा मुँह ले कर वापस चला आना होता है। कला-पक्ष और हृदय-पक्ष दोनों में तब किसका स्थान ऊपर है या कवि के लिए कौन अनिवार्य वस्तु है—बतलाने की आवश्यकता नहीं।

इसमें एक अन्य कारण भी है। कवियों को हृदय-पक्ष ईश्वर के यहाँ से मिलता है। हृदय-पक्ष प्रधान कवि जन्मतः, संस्कारतः और स्वभावतः सिद्ध होता है। उसका हृदय ही कविता के लिये यथेष्ट होता है। वह यदि पढ़ा-लिखा नहीं भी है तो भी अनायास, बिना प्रयास उससे कविता बनती जायेगी। उसके मुख से जो कुछ वाणी निकलेगी वह कवितामय होगी, वह कविता ही बोलेगा। रह गई

व्याकरण की भूल । उसे आप बता कर सुधार लीजिए या उसे जब इसकी शिक्षा मिल जायगी तो आगे ऐसी ग़लती नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि हृदय-पक्ष ईश्वर-प्रदत्त गुण है और कला-पक्ष संसार में अभ्यास द्वारा पाया हुआ गुण है । जिसमें ईश्वर-प्रदत्त गुण है वह यदि परिश्रम और अभ्यास करे तो सांसारिक गुण भी प्राप्त कर सकता है; किन्तु जिसमें सांसारिक गुण है, वह यदि लाख चेष्टा करे तो भी ईश्वर दुनिया में उसे अपने हाथ का गुण कैसे दे सकते हैं ? अतः जो मूर्ख है उसे आप विद्वान बना सकते हैं किन्तु जिसके हृदय ही नहीं है उसे आप हृदय कैसे दे सकते हैं ? अक्षर और कला की पाठशाला पृथ्वी पर है मगर भाव और हृदय की पाठशाला यहाँ नहीं है । महात्मा कबीरदास जी को भी कवि-हृदय परमात्मा की ओर से मिला था। उनकी रचनाओं में यद्यपि कला-पक्ष की न्यूनता है; पर हृदय-पक्ष की इतनी प्रचुरता है कि कला-पक्ष की न्यूनता ज़रा भी खटकती नहीं। इसे हम काव्यत्व का अभाव कहें या ईश्वर द्वारा दिया हुआ दिव्य दान ?

लेकिन काव्यत्व का अभाव कबीर की रचना में हम अवश्य महसूस करते हैं । जिस प्रकार सूर का महाकाव्य सूरसागर है, जिस प्रकार जायसी का प्रबन्ध-काव्य पद्मावत तथा छोटे-बड़े एकाध और हैं, जिस प्रकार 'मानस' सहित तुलसी के अनेक काव्य हैं और जिस प्रकार मीरा के भी नाम सहित दो-चार ग्रन्थ हैं उस प्रकार संत कबीर के काव्य या ग्रन्थ का कोई विशेष नामकरण नहीं हो सका है। इसका प्रधान कारण यह है कि कबीर का उद्देश्य कविता करना नहीं था।

वे किसी कथानक के द्वारा काव्य तैयार करना नहीं चाहते थे। वे सिर्फ़ भगवद्भजन करने के भूखे थे और अपने हृदय के प्रेम तथा उसकी पीड़ा को किसी प्रकार जोड़ कर कहते जाते थे। उनके वे भजन, प्रकीर्ण, प्रेम आदि काव्य की लड़ियों में पिरो लिए गए और कबीर दास जी कवि बन गए—सच्चे कवि। कबीर में सच्चे कवि की आकुलता निकली। कविता करने को उनका जी छटपटाता था। केवल इतना ही नहीं हो सका कि उनके काव्य का कोई सुरुचिकर नाम प्राप्त हो। उनके काव्य का कोई व्यवस्थित नाम नहीं है। लेकिन उनका जो काम है, वह परम प्रशंसनीय है। काव्य-क्षेत्र में उनका काम यों ही तितर-बितर है। उनकी एक सुव्यवस्थित प्रति बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने सम्पादित की है जो बहुत ही प्रामाणिक तथा बहुत प्राचीन है। उसका नाम है—कबीर ग्रन्थावली। कबीर ग्रन्थावली में कबीर की समस्त कृतियाँ तीन भागों में विभक्त हैं—साखी, पदावली तथा रमैणी। कबीर की काव्य-शैली इन्हीं तीन विभेदों में समाप्त हुई है। उनकी साखियों में दोहे हैं और कहीं-कहीं एकाध सोरठे हैं। छन्द-शास्त्र के समस्त विभेदों में दोहे और सोरठे की रचना सहल और सरल सिद्ध है। दोनों में सम्बन्ध भी उलट-फेर का है। दोहा उलट दीजिये, सोरठा बन जाएगा और सोरठा पलट दीजिए तो दोहा बन जाएगा। मात्रा १३ और ११ की दोहे में और ११ और १३ की सोरठा में रहती है। कबीर ने इस सरल शैली को अपना कर बहुत-सी उपदेशप्रद बातें कही हैं। बाबू साहब ने कबीर की समस्त साखियों का विभाजन ५९ अंगों में किया है। एक-एक अंग एक-एक विषय-

विशेष का स्पष्टीकरण करते हैं। उन अङ्गों का विभाजन देख आचार्य शुक्ल द्वारा विभाजित पद्मावत के खण्ड याद आ जाते हैं। तब हमें कबीर की प्रतिभा का पता चलता है। कवि नहीं कहलाते हुए भी कबीर की बुद्धि अगाध थी। उनके अनुभव अथाह थे और उनकी अनुभूतियाँ जीवन में मँजी हुई थीं। तभी जाकर ५९ विषयों में उनकी लेखनी केवल 'साखी' की शैली में चली।

'साखी' के पश्चात् कबीर की पदावली का स्थान है। पदावली का विभाजन अङ्गों या खण्डों में नहीं हुआ है। इसकी संख्या शायद ४०३ है। अनुमान है, कबीर के समस्त पद ५०० के क़रीब होंगे जिनमें कुछ की पूर्ति तो कबीर ग्रन्थावली का परिशिष्ट ही कर देता है। कुछ तितर-बितर हो गए होंगे जिन्हें अभी उस ग्रन्थावली में सम्मिलित नहीं किया गया है। फिर भी कबीर के उक्त सभी पद उनके काव्यत्व का प्रदर्शन करने के लिए बहुत हैं। ये समस्त पद हिन्दू और मुसलमानों की फटकार, प्रेम की पीर, वेदान्त और योग पर बड़े रहस्यात्मक ढंग से लिखे गए हैं। उनके अर्थ न समझते हुए भी लोग उन्हें चाव से गाते हैं और उन पर मुग्ध होते हैं। कबीर के पद इतने रसीले हैं और गाने योग्य हैं कि राह चलते लोग भी उन्हें अलाप लिया करते हैं। उन पदों में रोमाञ्च करने की शक्ति कबीर ने भरी है। गाने योग्य तरह-तरह के भजन तरह-तरह की राग-रागनियों में कबीर ने गाए हैं। इसी से कबीर का प्रचार बहुत शीघ्र हुआ है और वे अधिक सर्व-प्रिय हुए हैं। मैंने कई बार देखा है कि अपढ़ और असभ्य जनता कबीर के 'निर्गुन' भजन पर आत्म-विभोर हो उठी है। उनका एक पद, जिस पर मैं भी अपने को नहीं रोक सका था, यह है :

हमकों ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरिया ।

प्रान राम जब निकसन लागे, उलटि गई दोउ नैन पुतरिया ॥

भीतर से जब बाहर लाए, छूट गई सब महल अटरिया ॥

चार जने मिलि खाट उठाइनि, रोवत ले चले डगर डगरिया ॥

कहत कबीर सुनो भाई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया ॥

बताइए कि गीत-काव्य (lyrics) के पदों में कबीर के उक्त पद का क्या स्थान है ? क्या इससे भी सरस, सुन्दर और रोचक पद गीत-काव्य में किसी ने बनाया है ? यदि नहीं तो कबीर का गीत काव्य (पदावली) सब से उत्कृष्ट है । वैसे उनकी साखियों के अन्तर्गत दोहे इतने सूक्ष्म और सूक्तिमय हैं, प्रत्युत् नीतिमय हैं कि उनके सामने रहीम, वृन्द और बिहारी के दोहे नतमस्तक हैं । मुक्तक काव्य के दोहों में कबीर को अधिक सफलता मिली है । ऐसा कहीं-कहीं देखने में आया है कि कबीर के बहुत से दोहे रहीम आदि ने ज्यों के त्यों ले लिए हैं । कबीर के दोहों की विशेषता है, वाग्वैदग्ध्य के साथ भाव-प्रवणता । भाव-प्रवणता तो कबीर की अपनी चीज़ है और वाग्विदग्धता उस भाव में स्वतः लिपटी हुई बाहरी वस्तु है । उदाहरणार्थ कबीर का उक्त निम्न दोहा ही लीजिए, मालूम पड़ता है दोहे का प्रत्येक शब्द भाव और कला से बोल रहा है :

कस्तूरी कुण्डाल बसै, मृग ढूँढ़ै बन मांही ।
ऐसे घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नाहिं ॥

साखी और पद के अतिरिक्त कबीर की रमैणी की शैली भी अत्यन्त सुन्दर है । रमैणी गाने का कबीर को बहुत शौक़ था । उनके

पीछे रमैणी का अनुकरण नहीं हो सका नहीं तो छन्दों में इसका स्थान भी अच्छा मिला होता। रमैणी की उत्पति भी कबीर ने 'सूहौ' आदि अनेक राग-रागनियों में की है। रमैणी कबीर कई प्रकार की बना सकते थे। साधारण रमैणी से लेकर सतपदी रमैणी, बड़ी अष्टपदी रमैणी, दुपदी रमैणी, चौपदी रमैणी तथा बारह पदी रमैणी तक कबीर ने बनाई है। यों तो कबीर की समस्त रचना ही उन्हीं की निज की कविता है। फिर भी इधर-उधर उसमें उपदेश, गुरुभजन, राम भजन, सत्संग भजन आदि आ गये हैं जिनका लाग उनसे अलग हो गया है और वे कवितायें कबीर कवि द्वारा कबीर विषय पर लिखी नहीं कही जा सकती हैं मगर रमैणी में कबीर अपनी ही दशा का निवेदन करने बैठे हैं। रमैणी उनके राम का रामायण तो है ही साथ ही, और अधिक शायद कबीर का राकायण है। कबीर के रामायण से मेरा मतलब उनके सिद्धान्त से है। कबीर का अपना सिद्धान्त विशिष्ट रूप से उनकी रमैणी में व्यक्त हुआ है। कबीर जो कुछ स्पष्ट और अलमस्ती में कहना चाहते थे उसे कहने का मौक़ा उन्हें रमैणी में मिला है। देखिये :

तूं सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदर।
तेरी कुदरति किनहूं न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमांनीं॥
देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसुर॥
तेरी कुदरति तिनहूं न जानी॥ टेक॥

इन गानों की शैली की अधिकता के कारण कबीर की काव्य शैली में काव्यत्व का विकास नहीं हो सका है, उसका अभाव ही है। कबीर वास्तव में कवि नहीं हैं, वे एक गायक हैं। सुना जाता है, कबीर को

अक्षर का ज्ञान बिलकुल न था। वे कोरे निराक्षर और बेपढ़े-लिखे व्यक्ति थे। कविता की कला ने उनका बहुत जगह साथ नहीं दिया है। यहाँ तक कि कबीर के दोहे भी पिङ्गल के खराद पर नहीं चढ़ सके हैं। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जो पिङ्गल के नियमानुकूल हो। बहुत से दोहों के चरण विकृत हैं, जो उनकी अविद्या की सूचना देते हैं। फिर पदों का हाल भी अच्छा नहीं है। सूर के एकाध पदों के वाक्यों की तरह उनके भी बहुत से पद-वाक्य छोटे-बड़े हो गये हैं। रमैणी की दशा और शोचनीय है। मतलब यह कि पिंगल-शास्त्र, अलङ्कार-शास्त्र, व्याकरण और भाषा के परिमार्जन की दृष्टि से आप कबीर की कविता को देखना चाहेंगे, तो अकविता सिद्ध होगी और कबीर अकवि सिद्ध होंगे। पर जब भाव, रस, प्रेम, भक्ति और श्रद्धा के साथ कबीर की कविता को पढ़ेंगे तो कबीर इने-गिने कवियों में श्रेष्ठ ठहरेंगे और उनकी कविता सर्व श्रेष्ठ विदित होगी। मगर कबीर की कविता पढ़ते समय इतना तो भूलना ही नहीं चाहिये कि कबीर एक अपढ़ व्यक्ति हैं और उनका कोई काव्य नहीं है। साखी, पदावली और रमैणी को जो उन्होंने थोड़ी संख्या दी है उसका आधार है उनका गायक होना। कबीर एक भजन गाने वाले बड़े गायक थे। उनके हाथ में सदा डफ़ली रहती थी। कविता करने का उनका नियम यह था कि उसी डफ़ली को लेकर वे कहीं बैठ जाते थे और उधर डफ़ली पर हाथ ठोक कर आवाज़ निकालते थे और इधर हृदय थपथपा कर वाणी द्वारा उसी आवाज़ के स्वर में स्वर मिलाते थे। डफ़ली की वाणी में जो हृदय की वाणी बैठ जाती थी वह बैठ जाती थी न बैठने वाली वाणी की चिन्ता भी उन्हें नहीं

रहती थी। न बैठने वाले कितने शब्द तुकान्त के होते थे, कितने बीच के होते थे, पर जब डफ़ली की आवाज़ ताल स्वर से समाप्त होती थी तो कबीर की कविता अलंकार, पिंगल और व्याकरण की उपेक्षा करती हुई अवश्य ही समाप्त हो जाती थी। कबीर की कविता का आधार डफ़ली की आवाज़ थी जैसे शिवनन्दन* की कविता का आधार उनके लोटे-डण्डे का ताल है। कबीर एक साहसी कवि हैं, जिन्हें न गणों के अनिष्ट की आशंका है और न उनके शुभाशुभ परिणामों का डर है। दूसरे शब्दों में कबीर एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने अलंकार, पिंगल और व्याकरण का बहिष्कार करके दिखा दिया है कि यदि किसी के पास कवि-हृदय की अतुल सम्पत्ति है तो वह बिना काव्य के बाहरी विभेदों के भी कवि बन सकता है—शायद महाकवि बन सकता है। महाकवियों और हिन्दी के सर्व-श्रेष्ठ कवियों में कबीर सदा से प्रतिष्ठित हैं और रहेंगे। हम उनका साथ सूर और तुलसी से भी छुड़ा नहीं सकते। तथास्तु।

भावापन्न उक्तियों की सहज विदग्धता—कबीरदास जी ने अपनी रचना में कहीं भी परिश्रम नहीं किया है। प्रयत्न का कहीं निशान उनकी कविता में नहीं दीखता। शब्दों के तोड़-मरोड़ से चमत्कार लाने के फेर में पड़ना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था। दूर की उड़ान या सूझ उनकी कविता में पा जाना असम्भव है। पर हाँ, हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज ही विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गयी है, वह

---

* शिवनन्दन भोजपुरी के भावुक कवि हैं, जिनका जन्म मोनमपुर, ज़िला शाहाबाद में हुआ था।

अत्यन्त भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है और उनके काव्यत्व का आभास है। कबीर अपनी उन्हीं उक्तियों के बल पर जनता के गले का हार हो रहे हैं। उनकी सत्य-भाषिता और स्पष्ट-वादिता अत्यधिक स्मरण की जाती है, क्योंकि इसका उपयोग करना कबीर अपना महान् धर्म समझते थे। अतः सत्य और स्पष्ट बातों को लेकर उन्होंने अपनी सुन्दर एवं भावनामय उक्तियों में घोल दिया है जिसे आसानी से पी जाना सहज और सब के लिए सुगम है। यही कारण है कि उनकी अनेक उक्तियाँ लोगों की ज़बान पर चढ़ कर कहावत का रूप ग्रहण कर चुकी हैं। यद्यपि अक्खड़ फ़कीर कबीर ने उन्हें अक्खड़पन के साथ कहा है किन्तु उनकी बे लाग बातें एक अजीब ही मिठास दे जाती हैं जिससे हृदय भर जाता है और कविता पढ़ने का जी प्रत्युत् करता है। उनकी साखियों में विशेषतः ऐसी उक्तियाँ आई हैं। एक राम को नहीं जप कर जो अनेक देवी-देवताओं के जाप में लगा हुआ है उसकी दशा कबीर बताते हैं :

राम पियारा छाड़ि करि, करै आन का जाप।
बेस्वां केरा पूत ज्यौं, कहै कौन सूं बाप?

और वह राम कैसा है, उसका कुल कैसा है, पर इस कबीर निम्नोक्ति कहते हैं :

कुल खोया कुल ऊबरै, कुल राख्यौं कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ॥

आशा और तृष्णा पर बहुत से कवियों ने अपनी लेखनी उठाई है। ये दोनों वस्तुएँ मानव-हृदय में स्वभावतः रहा करती हैं। जब तक

जीवन रहता है तब तक आशा-तृष्णा का नाश नहीं होता। कबीर का अनुमान है कि आशा-तृष्णा का नाश कभी नहीं होता। नश्वर शरीर अनेक बार मरा और जन्मा लेकिन आशा-तृष्णा प्रत्येक जीवन में उसके साथ लगी रही। इसका स्थायित्व बहुत ही प्रबल है :

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णा ना मुई, यों कहि गया कबीर॥
आसा जीवै जग मरै, लोग मरै मरि जाइ।
सोइ मूवे धन संचते, सो उबरे जे खाइ।

मन से कबीर का तात्पर्य आत्मा से है। आत्मा अमर है। आत्मा से माया हमेशा लगी रहती है तथा माया में आशा, तृष्णा आदि अनेक वस्तुएँ सम्मिलित हैं। अतः बदलता है केवल शरीर लेकिन आत्मा के साथ लगे रहने वाले मन, माया, आशा और तृष्णा सूक्ष्म रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं और जहाँ अवसर पाते हैं फ़ौरन विकसित हो जाते हैं। दूसरे पद में कबीर ने बड़ा सुन्दर चमत्कार रक्खा है कि 'सोइ मूवै धन संचते, सो उबरे जे खाइ।' इसे देख बिहारी का 'अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग' स्वतः याद आ जाता है। कबीरदास जी चमत्कारवादी कवि नहीं थे। ऐसे ही हृदय की उमंग में कहीं-कहीं चमत्कार भी उनकी कविता पर चढ़ गया है। एक जगह प्रेम के पाठ को वेद के पाठ से ऊँचा ठहरा कर उन्होंने पंडितों को बड़े चकमे में डाला है :

चारिउं बेद पाढ़इ करि, हरि मूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत॥

'बालि' ले जाने वाला 'कबीर' नाम ही इस पद का सब कुछ है। कबीर नाम में कबीर का जीवन और उनका कर्म छिपा है। पंडितों को मुँहतोड़ जबाब देने वाला कबीर प्रेम का यथार्थ ज्ञानी था। पढ़ा-लिखा तो वह बिलकुल न था लेकिन प्रेम का पाठ बड़े ढङ्ग से पढ़े था। दूसरी ओर पोथी और वेद के अध्ययन करने वाले पंडित अध्ययन ही करते रह गये, उन्हें अध्ययन के सिवा जीवन में न प्रेम मिला, न प्रभु मिले। संसार क्षेत्र का फल अर्थात् 'बालि' प्रेम है या प्रभु हैं सो कबीर ने ले लिया। अब पंडित खेत टटोल रहे हैं। उसमें क्या रक्खा है ? यह कोई कहे कि प्रेम चारों तरफ़ बिखरा पड़ा है या उसकी बिक्री हो रही है। नहीं, ऊपर की 'खेती' का दृश्य देख कर चाहे उसे कोई सच-मुच 'बालि' समझ ले और उसके लिए खेती करे तो उसका परिश्रम व्यर्थ जायेगा। उसका एक-मात्र उपाय है जान पर खेल जाना :

प्रेम न खेतौ नींपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥

बिहारी का सुप्रसिद्ध दोहा 'कनक कनक ते' किसे न याद होगा ? पर उसमें केवल यमक के और रक्खा ही क्या है ? दूसरे उसमें एक कनक (सोना) तो त्रिगुणात्मक विष की दृष्टि से ठीक है मगर दूसरा कनक (धतूरा) तो वास्तव में विष है। कबीर कनक, कामिनी और कीर्ति इन्हीं तीनों को विष मानते थे और ये सचमुच तम, रज और सत तीनों गुणों के विष हैं। बिहारी के सैकड़ों वर्ष पहले कबीर ने उन्हें रास्ता दिखाने के लिए 'कनक' और 'कामिनी' पर दो उक्तियाँ इस प्रकार कही थीं :

(क) एक कनक अरु कामिनी, विष फल कीएउ पाइ।
देखैं ही थैं विष चढ़ै, खाये सू मरि जाइ॥
(ख) एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखे ही तन प्रजलै, परस्य ह्वै पैमाल॥

इन दोहों में कबीर ने बड़ी सावधानी से काम लिया है। पहला दोहा तो बिहारी का मार्ग-प्रदर्शक है। उसमें कनक और कामिनी को विष बना कर खाने की उक्ति कही गयी है। दूसरे में कनक और कामिनी को अग्नि की ज्वाला बना कर उसे स्पर्श करने की उक्ति बनाई गई है। विष खाने से हानि होती है और आग छूने से। कबीर की बारीक़ी यहाँ ध्यान देने योग्य है। संतों का कामिनी से बैर रहा है। अतः कामी आदमी पर उनका बराबर ध्यान रहता है। काम का आवेश भी बड़ा ज़बर्दस्त होता है। उसमें लज्जा की तो मानो कामी-जन तिलाञ्जलि ही दे देता है। उस लज्जा में भी आल्हादित ही होता है। किस प्रकार :

कामीं लज्या नां करै, मन मांहै अहिलाद।
नींद न मांगै सांथरा, भूष न मांगे स्वाद॥ *

'भूष न माँगे स्वाद' को ही लेकर गुप्त जी ने लिखा है 'वही पाक है जो बिना भूख भावे।' भूख लगने पर तो सत्तू भी अच्छा लगता है। एक आदमी का ख़्याल है कि भूख में ही स्वाद है। यदि ज़ोरों से भूख लगी हुई हो तो कोई चीज़ खाइए, अत्यन्त रुचिकर और परम स्वादिष्ट मालूम होगी। बीरबल ने एक बार अकबर को चोकर की रोटी

*'अर्थान्तरन्यास' की भी इसमें सुन्दर उद्भावना हुई है।

जंगल में खिला कर भूख की परिभाषा बतायी थी। अकबर को उस रोटी में उस समय बड़ा स्वाद आया था और उसने मान लिया था कि भूख ही स्वाद की जड़ है। वैदों और वैद्यक की राय है कि बिना भूख का खाया हुआ अन्न फ़ायदा नहीं करता। इसी प्रकार नींद के विषय में भी अकबर और बीरबल की एक कहानी सुनी जाती है।

आचाय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूर की समीक्षा में उनके 'नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय' पद की बड़ी सराहना की है। उनका कहना है —'ठोकि बजाय में कितनी व्यञ्जना है।' इस 'ठोकि बजाय' की सुन्दर भाव-व्यंजना कबीरदास जी भी करते हैं :

कबीर सब जग हँढिया, मंदिल कंधि चढाइ।
हरि बिन अपना को नहीं, देखे ठोकि बजाइ॥

आवागमन चक्र संसार में बहुत दिनों से चल रहा है। लाखों रोज़ आते हैं, लाखों जाते हैं। इसकी चिन्ता कौन करे ? जीवन में कितने साथी मिले, कितने साथी बिछुड़े इसका हिसाब कौन रक्खे ? जो चला गया सो चला गया। फिर कोई उनके स्थान पर चला आयेगा ! कबीरदास जी इस पर नाव और मल्लाह की सुन्दर उक्ति कहते हैं :

जाता है सो जांण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यूं, घणों मिलैंगे आइ॥

विशेष बात तो यह है कि एक दिन सभी को चला जाना है। मरना सबका निश्चित है। हालाँकि यह ठीक नहीं रहता कि कब ; पर मरना है चाहे जब मृत्यु रानी आकर द्वार खटखटा दें। अवसर भी

मरना है, अनवसर भी मरना है। यदि ऐसा ही है तो जीवन में कुछ ऐसे कर्म कर लेने चाहिएँ जिनसे संसार का आवागमन-चक्र ही छूट जाय। ऐसा कर्म करके मरना बड़ा ही कठिन है। एक महात्मा कबीर-दास ने ही ऐसे कर्मों को किया था और तब वे मरे थे—सदा के लिए। यही अवसर की मृत्यु है। कबीरदास कहते हैं :

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूँ बहुरि न मरना होइ॥

ऐसा मरना, मरना नहीं है। वह है जीना, क्योंकि कबीर आज भी जी रहे हैं। यहाँ जी रहे हैं, वहाँ भी जी रहे हैं। कहा जाता है बड़े आदमी मरने ही पर जीते हैं। कबीर उन्हीं बड़े पुरुषों में थे जिनकी ध्वजा आकाश से लेकर पाताल तक आज भी फहरा रही है। कबीर गौरव से कहते हैं :

वैद मुआ रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा, जिनिके राम अधार॥

वैद्य और रोगी दोनों को पकड़ कर कबीर ने दिखाया है कि जो वैद्य दूसरे को मृत्यु से बचाने की चेष्टा करता है वह भी समय आने पर स्वयं मर जाता है और रोगी जो मरा हुआ है वह तो बचता ही नहीं। इस प्रकार मृत्यु पर किसी का वश नहीं है। पुरुष ने सर्वत्र अपनी धाक जमा ली है। सब पर सर्वत्र आज मानव की तूती बोल रही है। लेकिन लाख चेष्टा करने पर भी आजतक जिस वस्तु पर वह अधिकार नहीं कर सका है, वस्तु वह है मृत्यु। मृत्यु पर आजतक किसी ने विजय प्राप्त नहीं की और न कोई प्राप्त करेगा ही। यही मृत्यु की बागडोर प्रभु ने अपने

हाथ में रक्खी है। इसे शायद वे मानव को दे दिये भी होते। पर उन्हें भय है कि यह अधिकार पा कर मानव उनकी कुछ न सुनेगा। मृत्यु की रास यदि मनुष्य के हाथ चली आती है तो ईश्वर का अस्तित्व नहीं रह जाता। इसी प्रतिदिन की मार से ईश्वर अपने रहने की सूचना देते रहते हैं, चेताते रहते हैं। वैद्य और दवा पड़ी ही रह जाती है लेकिन रोगी मर जाता है, वैद्य मर जाता है, राजा और ग़रीब मर जाते हैं। पिता के रहते पुत्र मर जाता है और स्त्री के देखते पति मर जाता है—हाथ पकड़ कर किसी को छुड़ाने वाला कोई नहीं मिलता। अजीब हालत है। इस दशा से कबीर का हृदय काँप जाता है और वे दुःख भरे शब्दों में कहते हैं :

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जांह।
ऐसा कोई नां मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांह॥

महात्मा जायसी ने 'जेहि पर जेहि कर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥' को प्रमाणित करने के लिये बहुत दूर की दो वस्तुओं का एकत्र होना दिखाया। यथा :

बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जौं पिरीति पै दुवौ महँ, अंत होहि एक पास॥

साधारण तथा-कथन न हो कर यह उक्ति काव्याभास की है, इसी काव्याभास की श्रेणी की ठीक ऐसी ही उक्ति या यही उक्ति जायसी से पहले कबीर की है। कबीर प्रायः हिन्दी-साहित्य के सभी कवियों में प्राचीन हैं। अतः उनके जैसा एक वाक्य भी यदि किसी के पद में

मिलेगा तो वह कबीर का प्रसाद माना जायेगा। कबीर की ७।फ
इस प्रकार है :

कमोदनीं जलहरि बसै, चंदा बसे अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास॥

सतसई के रचयिता बिहारी को कबीर से बहुत कुछ सामान मिला था। उन्होंने कबीर की रचना का परायण ही कर डाला था। कितने पद तो उन्होंने कबीर के भाव पढ़ कर बनाये और कुछ कबीर के पद से मिलते-जुलते दूसरे पद ही रच डाले। एक प्रसिद्ध दोहा है जिसे कबीर ने गुण की वास्तविक पहचान न होने के कारण यों लिखा है :

चंदन रूख बिदेस गयौ, जण जण करै पलास।
ज्यों ज्यौं चूल्है झोंकिए, त्यूं त्यूं अधिकी बास॥

इसका आशय जब हमारे बिहारी कवि ने पा लिया तो फटकार कर 'गंधी' को चेताया :

करि फूलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गंधी मति अंध तू, अतर दिखावत काहि॥

एक स्थान पर कबीर ने एक दोहा इस प्रकार लिखा है :

राम पदारथ पाइ कै, कबिरा गाँठि न खोल।
नहीं पहन नहीं पारखू, नहीं गाहक नहीं मोल॥

इससे मिलता-जुलता बिहारी ने अपना निम्न दोहा बनाया है :

कर लै सूंघि सराहि कै, सबै रहै गहि मौन।
गंधी! गंध गुलाब को, गँवइ गाहक कौन?

इसी प्रकार रहीम ने तो दोहा का दोहा अपना लिया है। रहीम के बहुत से दोहे कबीर के दोहे से मिलते हैं। यहाँ रहीम और कबीर का एक ऐसा दोहा लिया जाता है जिसके भाव ही आपस में नहीं मिलते प्रत्युत् प्रत्येक शब्द मिलता है। नीचे क्रमशः मिलान कीजिये :

रहिमन घर है प्रेम का, खाला* का घर नाहिं।
सीस उतारै भुँइ धरै, सो जावै घर माहिं॥

—रहीम

कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै हाथ करि, सो पैसे घर माहिं॥

—कबीर

सरस और नीरस या मुलायम और कठोर व्यक्ति सदा से संसार में पाये जाते हैं। संत और असंत सदा से दुनिया में देखे जाते हैं। कबीर ने इन युगल जीवों को लेकर कई ढंग से उनका वर्णन किया है। कबीर को एक ही बात कहने के अनेक ढंग मालूम थे। संत और असंत, सहृदय और निर्दय तथा अच्छे और बुरे पर उनकी अनेक उक्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ की झाँकी लीजिए :

(१) दरिया जांणै रूषंड़ा, उस पांणीं का नेह।
सूका काठ न जांणई, कबहूँ बूठा मेह॥

(२) झिरमिर झिरमिर बरषिया, पांहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पांहण ओही तेह॥

***'खाला' मौसी को कहा जाता है। मौसी के घर का प्रेम बड़ा अनोखा होता है।**

(३) कबीर चंदन के निकट, नीम भी चंदन होइ ।
बूड़ा बंस बड़ाइतां, यौं जिनि बूडै कोइ ॥

कबीर की दृष्टि में असंत अथवा दुष्ट काठ और पत्थर के समान दीखते थे और संत अथवा सुजन हरियाली वस्तु और मिट्टी के समान। अंत में कबीर ने संत को नीम और असंत को बाँस के समान बना कर छोड़ दिया है। नीम कहने में उनका भाव यह है कि नीम सार-युक्त होती है। यद्यपि वह तीतां होती है पर उसमें सार रहता है। इधर बाँस बिना सार का, बिना हृदय का खोखला होता है। चन्दन का प्रभाव कि उसके निकट जितने पेड़-पौधे होते हैं सबमें उसकी सुगंध भर जाती है। एक नीम का ही पेड़ ऐसा है जो बहुत अधिक तीता होता है किन्तु चन्दन की गंध तीतापन रहते हुए भी उसमें समा जाती है। बाँस चन्दन के निकट रह कर भी कोई लाभ नहीं उठाता। वह अपने बड़प्पन में फूला जाता है। इसी तरह जो सारहीन मनुष्य है, जिसे अपने पर अभिमान है उस पर उपदेश का असर अथवा सज्जनों का सहवास कुछ भी लाभदायक नहीं होता। इसके विपरीत जो भोले-भाले सरल हृदय के आदमी हैं वे टोकने पर अपनी बुरी लत छोड़ सकते हैं। अनजान में वे नीम के समान कटु हैं पर ज्योंही उनका साथ सज्ननों का होगा कि वे अपना कटुपन त्याग देगें। ऐसे ही सज्जनों के लिये कबीरदास निम्न उपदेश देते हैं :

निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ ।
बिन साबण पांणी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥

हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि तुलसी को भी कबीर का थोड़ा आभार मानना पडेगा। अंगद-पग-रोपण के समय तुलसी ने एक चौपाई राम की शक्ति का बखान करते हुए यों लिखी है :

तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥

अपनी रमैणी में महात्मा कबीरदास जी ने इसका बड़ा वृहद् स्वरुप उपस्थित किया है। उन्होंने सिरजनहार सांई राम की अनन्त शक्ति का परिचय ख़ूब अच्छी तरह से कराया है। देखिये तुलसी का 'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई' इसमें किस हद तक पहुँचा हुआ है :

सीत थैं अगिन फुनि होई, रबि थैं ससि ससि थैं रबि होई॥
सीत थैं अगनि पर जरई, थल थैं निधि निधि थैं थल करई॥
बज्र थैं तिण खिण भीतरि होई, तिण थैं कुलिस करैं फुनि सोई॥
गिर वर छार छार गिरि होई, अबिगति गति जांनै नहीं कोई॥

प्रीति करना सभी चाहते हैं। लेकिन प्रीति करने के लिये क्या-क्या करना धर्म है इसे कोई नहीं जानता। इसी के फलस्वरुप वह प्रीति पक्की नहीं होती, कुछ दिन चल कर फिर टूट जाती है। कबीरदास ने प्रीति करने का यह उपाय बताया है कि प्रीति करने वाले दोनों सज्जन अपनी-अपनी जाति, अपना-अपना वर्ण और अपना कुल छोड़ दें और तब एक तीसरी जाति, वर्ण और कुल में मिल जाएँ। इस प्रकार जो प्रीति की जायेगी वह स्थाई और प्रशंसनीय होगी। उदाहरण के लिये कबीर को ऐसी प्रीति चूने और हल्दी में दीखती है जिन्हें मिला देने पर न उजला ही रंग रह जाता है और न पीला ही वरन् उनका रंग ही लाल हो जाता है। परम अनूठी उक्ति है :

हरदी पीर तनु हरे, चून चिन्ह न रहाई ।
बलिहारी यह प्रीति की, जिह जाति बरन कुल जाइ ॥

मगर ऐसी प्रीति हल्दी और चूने में ही सम्भव है । मैं समझता हूँ नर में कठिन है । कबीरदास जी इसे स्वीकार भी करते हैं । उनका विश्वास है कि पक्का प्रेम एक-मात्र परमेश्वर से ही हो सकता है । नर-नर की प्रीति ओछी और कच्ची होती है । अतः घोषणा करते हैं :

जौ तुहि साध पिरम्म की, पाके सेती खेलु ।
काची सरसो पेलि कै, ना खलि भई न तेलु ॥

कबीर को हम अक्खड़ कवि कहते चले आये हैं जिन्हें कुछ भी कहने में भय, लाज अथवा संकोच नहीं है । उनकी सत्य-भाषिता और निशंकता से ही बहुत लोग उनके घमंड का अनुमान कर लिया करते हैं । पर वास्तव में कबीर घमंडी नहीं थे । वे सरल और उदार चित्त के साधु थे । तनिक हिम्मत के साथ कुछ भी वे बोल दिया करते थे । वस्तुतः राम का आश्रय पाकर वे निशङ्क हो गये थे । दुनिया के फाँस की उन्हें इसी कारण चिन्ता नहीं रहती थी । वे गौरव के साथ बराबर कहते थे :

जग बांध्यो जिह जेवरी, तिह मत बंधहु कबीर ।
जैहहि आटा लोन ज्यों, सोन समान सरीर ॥

'सोन समान शरीर' को वे 'आटा' और 'लोन' से भी गया बीता मानते थे । इसके लिये अधिक प्रपंच वे बढ़ाना नहीं चाहते थे । किसी प्रकार समय काट कर अन्त में तो इसे चला जाना ही है—यह बात उन्हें बिसारे न बिसरती थी । ऊँचे-ऊँचे महल बनवाते देख एक बार

कबीर ने कहा था :

कोठे मंडप हेतु करि, काहे मरहु सवारि।
कारज साढ़े तीन हथ, घनीत पौने चारि॥

वास्तव में शरीर का कार्य साढ़े तीन हाथ से है अथवा अधिक से अधिक पौने चार हाथ और यहाँ व्यर्थ का 'कंकड़ चुन चुन महल' उठ रहा है। 'चिड़िया रैन बसेरा' के लिये महल की क्या आवश्यकता है ? इन सीधी-सादी उक्तियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं कबीर विशुद्ध छायावाद भी बोल गये हैं। आज के छायावादी कवि कबीर के निम्न छायावाद पर विचार करें :

एक मरंते दुइ मुये, दोइ मरंतेहि चारि।
चारि मरंतहि छहि मुये, चारि पुरुष दुइ नारि॥

यह कहा जा चुका है कि कबीर का काव्यत्व एक निराले ढंग का है। उसमें न किसी का कथानक है, न किसी की गाथा है। वह कबीर का अपना निवेदन, प्रेम, दैन्य, लीला आदि सब कुछ है। कहीं उपदेश भी हैं और कहीं-कहीं जैसे हिन्दू-मुसलमानों की फटकार और डाँट-डपट भी है। शाक्तों के प्रति कबीर के काव्य में थोड़ी खीझ भी हैं। इसके बाद और कुछ नहीं है। उनका काव्य एक सीमित दायरे में घिरा है। उसका क्षेत्र व्यापक नहीं है। रूपक आदि के लिये जो कुछ सामान लिये गये हैं वे सभी कबीर के घर की चीज़ें हैं। या तो वे चीजें करघा-चरखा हैं अथवा जानवरों और पौधों की नामावली है, जिन्हें रात-दिन हम देखते हैं। रात-दिन आँखों से दीख पड़ने वाली वस्तुओं को ले कर कबीर ने अपना काव्य खड़ा किया है। कथानक के हल्के

आभास उनके दो पदों में मिलते हैं। कबीरदास जी को राजा भर्तृहरि और ज्ञानी भक्त प्रह्लाद की भक्ति बड़ी प्रिय थी। उन दोनों भक्तों पर एक-एक पद उन्होंने बड़े प्रेमपूर्वक गाया है। भक्तराज प्रह्लाद की भक्ति की झलक पहले देखिये :

नहीं छाड़ौं बाबा रांम नांम, मोहि और पढ़न सूं कौन काम।
प्रहलाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल॥
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी में लिखि दे श्रीगोपाल॥
तब संनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ॥
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि, बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यौ मांनि॥
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार॥
बाँधि मारि भावै देह जारि, जे हूं रांम छाड़ौं तौ मेरे गुरहि गारि॥
तब काढ़ि खड्ग को करै रिसाइ, तोहि राखन हारौ मोहि बताइ॥
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मारयौ नख बिदारि॥
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियौ भगति भेव॥
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबारयौ अनेक बार॥

दूसरा पद भर्तृहरि की विरक्ति पर कबीर ने लिखा है :

भरथरी भूप भया बैरागी।
बिरह बियोगी बनि बनि ढूंढै, वांकी सूरत साहिब सौं लागी॥
हसती छोड़ा गांव गढ गूडर, कनड़ा या इक आगी।
जोगी हुआ जांणि जग जाता, सहर उजीणीं त्यागी॥
छत्र सिंघासण चवर ढुलंता, राज रंग बहु आगी।
सेज रमैंणी रंभा होती, तासौं प्रीति न लागी॥

सूर बीर गाढा पग रोप्या, इह बिधि माया त्यागी।
सब सुख छाड़ि भज्या इक साहिब, गुरु गोरख ल्यौ लागी॥
मनसा बाचा हरि हरि भाखै, गंध्रप सुत बड़ भागी।
कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भये अणरागी॥

कबीर का ज्ञान—कबीर श्रुतधर थे। उन्होंने विद्याभ्यास कहीं नहीं किया था। जो कुछ उन्हें किसी विषय की जानकारी प्राप्त हुई थी, केवल सत्संग द्वारा। इसका परिणाम यह हुआ कि कबीर को अनेक वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सका। वेदों के ज्ञान में तो कबीर की भ्रान्ति ही रह गई। हिन्दू और मुसलमान इन दोनों के धर्मों का थोड़ा-सा ज्ञान कबीर को अवश्य था। उसी ज्ञान के बल पर वे दोनों को फटकारा करते थे। मतलब यह कि जो कुछ उन्हें सुन कर प्राप्त हुआ था उसी को अपने अनुभव पर चढ़ा कर उन्होंने अपने न्यारे ज्ञान की रचना की थी। कबीर का ज्ञान अपना ही है। उसमें न किसी पोथी की हू-बहू बात मिलेगी और न किसी की प्रतिष्ठापित की हुई लौकिक बात ही। ब्रह्म वाणी 'ऊँ' को वे सब का मूल मानते थे। और उसी मूल से सबका आविर्भाव मानते थे। कबीर का दृढ़ सिद्धान्त था :

ऊंकार आदि है मूला। राजा परजा एकहि सूला॥
हम तुम्ह मां हैं एकै लोहू। एकै प्रांन जीवन है मोहू॥
एकही बास रहै दस मासा। सूतम पातग एकै आसा॥
एकहि जननीं जन्यां संसारा। कौंन ग्यांन थैं भये निनारा॥
ग्यांन न पायो बावरे, धरी अविद्या मैंड॥
सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, ताथैं खाई बैंड॥

हिन्दुओं के आचार-विचार में कबीर को विश्वास न था। वे उन्हें काटते थे। यहाँ तक कि उन्हें यह सब कुछ आडम्बर और धोखा मालूम होता था। अतः वे कहते थे :

एकै पवन एकही पांणीं। करी रसोई न्यारी जांनीं॥
माटी सूं माटी ले पोती। लागी कहौ कहां धूं छोती॥
धरती लीपि पवित्र कीन्हीं। छोति उपाय लीक बीचि दीन्हीं॥
याका हम सूं कहौ बिचारा। क्यूं भव तिरिहौ इहि अचारा?
ए पांखंड जीव के भरमा। मांनि अमांनि जीव के करमां॥
करि अचार जो ब्रह्म संतावा। नांव बिनां संतोष न पावा॥
सालिग राम सिला करि पूजा। तुलसी तोड़ि भया नर दूजा॥
ठाकुर ले पाटै पौढावा। भोग लगाइ अस आपै खावा॥
साच सील का चौका दीजै। भाव भगति की सेवा कीजै॥
भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसय सूल॥
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहिं रे मूल॥

इसी प्रकार मुसलमानों के धर्म के विषय में कबीर कहा करते थे। इस सम्बन्ध के कुछ वाक्य लीजिए :

आदम आदि सुधि नहीं पाई। मां मां हवा कहां थैं आई॥
जब नहीं होते गाइ कसाई। तब बिसमला किनि फुरमाई॥
जिनि कलमां कलि मांहि पठाया। कुदरति खोजि तिन्हू नहीं पाया॥
कर्म करीम भये करतूता। वेद कुरान भये दोऊ रीता॥
मन मुसला की जुगति न जानैं। मति भूले द्वै दीन बखानैं॥
तुरकी धर्म बहुत हम खोजा। बहु बजगार करैं ए बोधा॥

गाफिल गरब करैं अधिकाई । स्वारथ अरथि बधैं ए गाई ॥
जाकौ दूध धाइ करि पीजै । ता माता कौं बध क्यूं कीजै ॥
लहुरैं थकैं दुहि पीया खीरो । ताका अहमक भखै सरीरो ॥
बेअकली अकलि न जांनहीं; भूले फिरैं ए लोइ ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहां थैं होइ ॥

हिन्दू और मुसलमान, दोनों के आचार और मज़हब की निंदा करके कबीर दोनों को अपने धर्म में लीन करना चाहते थे । कबीर का धर्म विश्व-धर्म था । वह एक धर्म था जिसमें यावत् मनुष्य के मिलने की आवश्यकता थी । सब को डाँट-फटकार कर कबीर सब में मेल-मुहब्बत कराना चाहते थे । एक धर्म होगा तब संसार में प्रेम बढ़ेगा और सब मिल कर एक हो जाएँगे । एकता और प्रेम का अखंड पाठ कबीर ने संसार को पढ़ाया । कबीर संसार के प्रति श्रद्धा और प्रेम रखने वाले संत थे । उनकी उपासना में संसार से खीझ न थी । उन्हें यदि जगत का हितैषी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । समाज की कुरीतियों की आलोचना करने के कारण यदि उन्हें एक भारी सुधारक माना जाय तो केवल एक साधारण बात होगी । हिन्दू के कर्मों को बुरा बता कर कबीर उनके देवी-देवताओं से मुँह मुड़वाते थे और उस तरफ़ आकृष्ट करना चाहते थे जिसकी वे उपासना करते थे । ऐसे ही मुसलमानों को अनेक पचड़ों से हटा कर अपने स्वामी की उपासना करने का आदेश देते थे । उन्होंने इन दोनों जातियों के लिये उन्हीं के शब्दों में एक-एक पृथक स्वरुप अपने ईश्वर का दिखाया है । मुसलमानों के लिये कबीर ने अपने साहिब का स्वरूप यों बताया है :

तहाँ मुझ गरीब की को गुदरावै, मजलिस दूरि महल को पावै ॥
सतरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै ॥
सेख जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोड़ि खेलिबे खासी ॥
कोड़ि तेतीसूं अरु खिलवानां, चौरासी लख फिरै दिवानां ॥
बाबा आदम पै नजरि दिखाई, नबी भिस्त घनेरी पाई ॥
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जबाब होत बजगारी ॥
जन कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्त न जीक राखि रहिमांनां ॥

यह हुआ मुसलमानों को दिखाने के लिये ईश्वर का स्वरूप। अब हिन्दुओं के लिये कबीर अपने साईं राम का परिचय और भी वृहद् रूप में देते हुए कहते हैं :

जो जांचौं तौ केवल राम, आंन देव सूं नांहीं कांम ॥
जाकै सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कबिलास ॥
ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं, दुर्गा कोटि जाके मरदन करैं ॥
कोटि चंद्रमा गहैं चिराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक ॥
नौग्रह कोटि ठाढ़ दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार ॥
कोटि कुबेर जाकै भरै भंडार, लक्ष्मीं कोटि करैं सिंगार ॥
कोटि पाप पुनि ब्यौहरैं, इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं ॥
जगि कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करैं जैकार ॥
बिधा कोटि सबै गुण कहैं, पार ब्रह्म कौ पार न लहैं ॥
बासिग कोटि सेज बिस्तरैं, पवन कोटि चौबारै फिरैं ॥
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ॥
असंखि कोटि जाके जमावली, रांवण सेना जाथैं चली ॥

सहस बांह के हरे परांण, जरजोधन छाल्यौ खैमांन ॥
बावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल ॥
लट छूडी खेलैं बिकराल, अनत कला नटवर गोपाल ॥
कंद्रप कोटि जाकै लांवन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं ॥
दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद मांगौं दान ॥

कबीर का ज्ञान हिन्दू और मुसलमानों, दोनों के धर्मों में समान रूप से था। मुसलमान क्या करते हैं और हिन्दू क्या करते हैं इस की जानकारी कबीर को थी। इसके अतिरिक्त कुछ ज्ञान योग के विषय में उन्हें था। योग पर उनके अनेक पद विरचित हैं। योगसमाधि के विषय में यहाँ एक नमूना दिया जाता है :

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै ॥
बिना ताल जहँ कंवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै ॥
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुख जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै ॥
जुगन जुगन की तृषा बुझाती, करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै ॥

कबीर को वेदान्त की बहुत-सी बातें ज्ञात थीं। जैसाकि कहा गया है, कबीर का काव्य करघा, चरखा और पशु-वनस्पति से आच्छादित है। जुलाहे की कार्यावली से बनाया हुआ कबीर का यह पद है :

चरखा जिनि जरै ।

कातौंगी हजरी का सूत, नणद की भइया सौं ॥

पशु-संसार से बनाया गया निम्न पद है :

चौख मंदलिया बैलर बाबी, कऊवा ताल बजावै ।

पहरि चोख नांगा वह नाचै, भैंसा निरत करावै ॥

स्यंध पैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै ।

ऊंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनन्द सुनावै ॥

कहै कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परबत खावा ।

चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा ॥

कबीर की कविता में आप जहाँ देखेगे वहाँ पशु-ससांर का दर्शन होगा या वनस्पति-संसार का अथवा कबीर की जुलाहा-कार्यावली का । कबीर का ज्ञान इन्हीं तक सीमित था । वे रात-दिन जिन वस्तुओं के सहवास में थे उन्हीं का उपयोग या प्रयोग अपनी कविता में करते थे । यह सब होते हुये भी कबीर का ज्ञान ऊँचा था । पोथियों से उसका मेल भले न बैठे पर विचार करने पर वह सत्य निकलेगा और व्यवहार में लाने पर उसके द्वारा कल्याण हो सकता है । कबीर का सिद्धान्त और उनका ज्ञान काव्य-कोटि से ऊँचा है और भक्ति के क्षेत्र में उसका स्थान विशिष्ट है । इसी से उसका मेल काव्य से नहीं हो सकता । हो सकता है प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में वह सर्वोपरि हो ।

कुछ अलङ्कार—कबीर की कविता में कला-पक्ष का बिलकुल अभाव ही है । अलंकार का बाहरी मुलम्मा उनकी कविता पर नहीं चढ़ाया गया है । मगर हृदय की उमंग में स्वभावतः जो अलङ्कार चढ़

गये हैं उन्हीं की चर्चा यहाँ की जाती है। कविता जब कबीर की कविता सिद्ध हो चुकी तो उसमें छोटे-बड़े अथवा रोचक-अरोचक कोई न कोई अलंकार अवश्य पाए जायेंगे। मामूली अलङ्कार अनुप्रास है। इसकी भी तो कहीं अवश्य ही उत्पत्ति हो गई होगी। पर स्वाभाविक कवि होंने के नाते कबीर में अनुप्रास के सुन्दर नमूने मिल जाते हैं। कुछ का दर्शन कीजिये :

(१) काया काची कारवी, काची केवल धातु।
(२) माया मोह मद मैं पीया, मुगध कहैं यहु मेरी रे॥
(३) माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
(४) ससा शोई शेज नू वारै, शोई शाब शदेह निवारे॥
(५) फूफा बिन फूकां फल होई, ता फल फंफ लहै जो कोई॥
(६) बबा बंदहि बंद मिलावा, बंदहिं बिंद बिछुरन पावा॥
(७) हहा होइ होत नहीं जानै, जब होइ तबै मन मांने॥

'यमक' का दो जगह आविर्भाव हुआ है। कबीर का जो प्रसिद्ध दोहा है उसी को हम 'यमक' के लिए लेते हैं। दोहा इस प्रकार हैं :

माला फेरत जुग भया, पाप न मन का फेर।
कर का मन का छाड़ि दे, मनका मनका फेर॥

'मनका' 'मनका' की आवृति शब्दालंकार का सुन्दर यमक है। अर्थालंकार में भी चलते-फिरते दो-चार चित्र मिल जाते हैं। विशेषतः 'रूपक' 'विभावना' आदि के सुन्दर नमूने मिलते हैं। प्रथम विभावना के अनेक दृष्टान्त कबीर दे सकते हैं। यथा :

(१) तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाके, अष्ट गगन मुख बागा॥
पैर बिन निरत करा बिन बाजै, जिभ्या हीणां गावै।
गावणहारे के रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै॥

(२) बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया॥
रूप बिन नारी पुहुप बिन परिमल, बिन नीरै सरवर भरिया॥
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पांखां भंवर बिलंबिया॥
सूरा होइ सुपरम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया॥

'रूपका' का अवयव कबीर बहुत ठीक रखते थे। यहाँ तक कि छोटे दोहे में भी इसका वे अच्छा समावेश कर देते थे। उनके दो सावयव रूपक क्रमशः देखिये :

(१) तरवर रूपी राम है फल रूपी बैराग।
छाया रूपी साधु है जिन तजिया बाद बिवाद॥

(२) कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार॥

यहाँ थोड़े में 'मार मचाई' गई है। लड़ाई का अपूर्व समारोह कबीर ने एक दूसरे पद में 'सांग रूपक' द्वारा किया है। उस समारोह द्वारा मैं समझता हूँ किसी भी प्रकार का गढ़ जीता जा सकता है। अलंकार-प्रेमियों को कबीर का वह 'सांग' रूपक देखते ही बनता है। कबीरा का 'बंका गढ़' और उसके विजय की तैयारी देख मन बरबस खीज जाता है। देखिये :

क्यूं लीजै गढ़ बंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई ।
काम किंवाड़ दुख सुख दरवांनीं, पाप पुंनि दरवाजा ॥
क्रोध प्रधांन लोभ बड़ दूंदर, मन मैं बासी राजा ।
स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुबधि कमांण चढ़ाई ।
त्रिसना तीर रहै तन भींतरि,सुबुधि हाथ नहीं आई ॥
प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यान चलाया ।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया ॥
सत संतोष ले लरनै लागे, तोरे दस दरवाजा ।
साध संगति अरु गुर की कृपा थैं, पकरयौ गढ़ कौ राजा ॥
भगवंत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी ।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अबिनासी ॥

इन दो-चार अलङ्कार के चित्रों के सिवा कबीर में अधिक अलङ्कार देखने को नहीं मिलेंगे—अलंकारों की संख्या बहुत कम है। ये ही दो-चार मिल जाते हैं, उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ेगा और ये ही कबीर की कविता के लिए बहुत हैं। नहीं तो कबीर जैसे कवि थे उसके अनुसार एक भी अलङ्कार उनकी कविता में नहीं मिलना चाहिये था। अलङ्कार का प्रश्न ही कबीर के साथ उठाना उनका अपमान करना है। आशा है संत कबीर मेरी धृष्टता क्षमा करेंगे।

भाषा—कबीर की भाषा निश्चयपूर्वक कोई एक भाषा नहीं कही जा सकती। उनकी भाषा एक प्रकार से खिचड़ी भाषा है। कबीर एक भ्रमणशील और बहुश्रुत महात्मा थे। अनेक प्रकार की भाषाओं और

सब देश की बोलियों का मेल उनकी भाषा में हो गया है। कहीं ब्रज का पुट उनकी रचना में मिलता है तो कहीं राजस्थानी अर्थात् मारवाड़ी का और कहीं अरबी-फ़ारसी के शब्द मिलते हैं तो कहीं पंजाबी के। खुल कर अपनी भाषा के विषय में उन्होंने एक जगह कहा है—'मेरी बोली पूरबी।' पर यह पूरबी क्या है, कहा नहीं जा सकता। अवधी का उच्चारण भी कबीर काफ़ी कर गये है। बङ्गला के दो-चार शब्द आसानी से उनकी रचना में मिल जाते हैं। ये सब बातें एक व्यापक भाषा का संकेत करती हैं। पर इन भाषाओं के कतिपय रंग से भाषा का स्वरूप विकृत हो गया है। परिमार्जन भी ठीक तौर पर नहीं हो सका है। मगर कबीर की अद्वितीय भावुकता भाषा की सारी कमी को और काव्य की सारी कमी को ढाँप देती है। अपनी भावुकता के कारण ही कबीर के कितने पद हृदय से निकाले नहीं निकलते। भाषा की सफ़ाई और कबीर की भावुकता के लिये नीचे का पद देखिये :

बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे॥
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे॥
आन न भावै न नींद आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामी को काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे॥
है ऐसा कोई पर उपगारी, हरिसूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे॥

दर्द में जो निवेदन का भाव है वह तो धन्य है ही लेकिन भाषा के विषय में भी कबीर यहाँ किसी से कम नहीं दिखाई देते। एक काम कबीर ने

अवश्य किया है। वह यह कि भाषा को मनमाने ढङ्ग से सजाया है। शायद उन्होंने सुन लिया था कि अपभ्रंश में सस्कृत के 'क' का 'ग' हो जाता है, जैसे प्रकट का प्रगट। इसी आधार पर ऊपर के पद में उन्होंने 'उपकारी' का 'उपगारी' कर दिया है। ऐसे ही उन्हें सुनने को मिल गया था कि संस्कृत के महाप्राण अक्षर प्राकृत और अपभ्रंश में प्रायः 'ह' रह जाते हैं—जैसे सशधर से ससिहर। इसका विपर्यय कबीर ने 'दहन' का 'दाझन' आदि करके दिखाया है। कबीर जो सुनते थे उसे ग्रहण कर लेते थे। उनकी बुद्धि बड़ी पैनी थी। यदि वे पढ़े-लिखे होते तो उन्हें सोचने और जाँचने का मौक़ा मिल जाता। पर अपढ़ होने से इन सब बातों की जानकारी उन्हें नहीं हो सकी। फिर भी कबीर कवि हैं और महाकवि हैं। उनके हृदय में उफान है, दर्द है। कविता का यथेष्ट हृदय भी उन्हीं को मिला है। कला की दृष्टि से न सही पर श्रद्धा की दृष्टि से और प्रेम की दृष्टि से यदि कबीर की पावन पुनीत वाणी का पारायण किया जाय तो उनकी कविता बहुत कुछ देगी। उनकी कविता में हृदय इतनी मात्रा में लिपटा हुआ है कि वह हँसाने-रूलाने की क्षमता रखता है। दर्द-भरी आवाज़ में कबीर ने अपनी कविता गाई है। बनावटी वा उधार लिया हुआ उनका दर्द नहीं है। उनके हाथ में कोई कथानक नहीं है और न है उसकी कोई नायिका। कबीर के हृदय में अपनी ही पीड़ा भरी हुई है। उसी को वह संत दुनिया के सामने रख रहा है। एक दर्दभरा पद उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। सचमुच जब कबीर के इस पद को मैं पढ़ता हूँ तो बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है, हृदय अघाता नहीं। 'बेचें राम तो राखै कौन, राखैं राम

तो बेचै कौन' के सिद्धान्त पर आरूढ़ रहने वाला कबीर किस व्यथा में अपना उद्‌गार प्रगट कर रहा है। मालूम पड़ता है उसके प्रत्येक वाक्य बोल रहे हों। यही है वाक्य-सौष्ठव, जो भाषा के लिये अनिवार्य है। बार-बार पढ़िये :

जन की पीर हो राजा रांम भल जांनै, कहूं काहि को मानै ?

नैन का दुख बैन जांनै, बैन का दुख श्रवनां।

प्यंड का दुख प्रांन जांनैं, प्रांन का दुख मरना॥

आस का दुख प्यास जांनैं, प्यास का दुख नीर।

भगति का दुख रांम जांनैं, कहै दास कबीर॥

जायसी

जायसी की प्रेम-साधना

नित्य -निरंजन, निर्विकल्प, निर्गुण ब्रह्म की अव्यक्त एवं अकथित महिमा की चर्चा हमने अपने भावानुकूल समय-समय पर की; किन्तु हृदय आज तक अघाया नहीं। हमने उसे अपने प्रणय-पाश में बाँध रखने के लिये कोई चेष्टा उठा नहीं रक्खी, पर क्या आज तक 'वह' छलिया किसी की पकड़ में आया ? राधा ने शैशव में ही 'उसे' अपना हृदय और प्राण समर्पित कर दिया, साथ ही सहस्त्रों ब्रज-बालाओं ने भी अपने तन तथा मन 'उस' पर चढ़ा दिये और 'उस' ने यह सब शायद स्वीकार भी किया; फिर भी क्या 'वह' चंचल किसी एक ही के पास बैठ पाया ? यदि मान लीजिये कि 'वह' किसी एक के ही पास, कहीं एक ही स्थल पर हाथ-पैर समेट कर बैठ जाय तो क्या उसका काम चल सकता है ? उस समय तो मैं समझता हूँ 'बिस्व बेगि सब चौपट होई' सार्थक हो जायेगी। अतः सर्वान्तर्यामी भगवान घट-घट में व्याप्त हो रहा है—'सूना घट नहिं कोई।' मगर उस घट की अवश्य बलिहारी है—'जा घट परगट होइ।' इसका तात्पर्य यह नहीं कि उक्त एक ही घट 'उसे' रक्खे हुए है अथवा रख सकता है। यहाँ तो उसके जैसे अनेकों घट 'उसे' रख चुके हैं, रख रहे हैं और आगे भी रक्खेंगे। प्रेम की अनन्यता 'जा हौं देखूं और कूं' ठीक है। इसे मैं सोलहो आने

स्वीकार करता हूँ; किन्तु 'ना तोहि देखन देउं' हमारी शक्ति से बाहर की बात है। सर्व-समर्थ अनन्त को सीमाबद्ध कर देना हमारे वश में है कि नहीं? और सबसे विशेष बात तो यह है कि 'हमसे तुमको बहुत हैं, तुमसे हमको एक।' और यदि ऐसी बात है तो प्रेमी का यह अटल सिद्धान्त कभी डिग ही नहीं सकता :

चाहे लाख छिपो प्रभु भक्तों से, दीदारन को तरसाओ तुम।
प्रेमी जो होंगे तेरे दरशन के, तुम्हे ढूँढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं॥

जो भगवद्दर्शन का अनन्य प्रेमी हो जाता है, उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिसमें अनायास 'सूझहिं राम चरित मनि-मानिक, गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।' वस्तुतः उसके अन्दर के नेत्र खुल जाते हैं जिसके द्वारा वह परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से 'उस' का दर्शन करने लगता है। प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष में भी जहाँ तक भक्त चाहता है वहाँ तक एक-मात्र प्रियतम का ही रूप दीख पड़ता है। आँख का ही व्यापार नहीं चलता प्रत्युत् भक्त की प्रत्येक इन्द्री भगवान के ही व्यापार से नियोजित हो जाती है। आँखों से जो कुछ दीखता है वह प्रियतम का ही रूप होता है। नाक से उसे जो कुछ गंध मिलती है, वह प्रियतम की ही गन्ध होती है; शरीर जो कुछ स्पर्श करता है वह प्रियतम के ही शरीर में लगी हुई वायु रहती है; मुख में या जिह्वा से उसे जो कुछ स्वाद मिलता है उसमें प्रियतम की ही जूठन-प्रसाद का अनुभव होता है; कान में जो कुछ आवाज़ आती है उसमें प्रियतम के ही संदेसे भरे रहते है। ऐसा संदेसा स्त्रीत्व का आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित करने वालों को भी मिला है और खूब

मिला है। प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में प्रिया की वाणी कहाँ-कहाँ से आ रही है। यह देखिये :

In solitudes,
Her voice came to me through the whispering
    woods,
And from the fountains, and the odours deep—
Of flowers which, like lips murmuring in their sleep
Of the sweet kisses which had lulled them there,
Breathed but of her to the enamoured air;
And from the breezes, whether low or loud,
And from the rain of every passing cloud,
And from the singing of the summer-birds,
And from all sounds, all silence.

इस प्रकार जिसे सुनने के लिए दिव्य श्रवण, देखने के लिए दिव्य नेत्र, अनुभव करने के लिए दिव्य त्वचा, सूँघने के लिये दिव्य घ्राण तथा स्वाद लेने के लिए दिव्य जिह्वा प्राप्त हो जाती है वह कहीं से भी प्रभु के दिव्य रूप, दिव्य रस, दिव्य गंध, दिव्य स्पर्श और दिव्य शब्द का बोध करता रहता है और 'उस' के दिये दिव्य आदर्शों का परिपालन सतत् करता रहता है। नहीं तो मृग-तृष्णा में दौड़ते हुए मानव की विकलता आख़िरी साँस तक उसे बेहाल किए फिरती है। उस विकलता को दूर भगाने का साफ़ किन्तु साधनात्मक उपाय है प्रियतम को हृदय से ढूँढ़ निकालना। लेकिन साधना की प्रथम अवस्था,

'प्रेम की पीर' कही किससे जाय, मिलावे ही 'उसे' कौन ? कितनी मुश्किल बात है ! ऊफ़ !!

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई । कोरे मिलाव, कहौं केहि रोई ?

सूफ़ी धर्म में भगवान—इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में स्रष्टा की बराबर खोज रही है । प्रत्येक व्यष्टि समष्टि में गुँथ जाने के लिये, बँध जाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रही है । स्पष्ट बात यह है कि आदमी-आदमी के पास उसके निज का एक हृदय है । उसी हृदय में समय-समय पर अनेकानेक अनुभूतियाँ जगती रहती हैं । उन अनुभूतियों में कितनी पूर्ण होती हैं, कितनी अपूर्ण रह जाती हैं और अधिकांश स्वप्नवत् विलीन हो जाती हैं पर दुःख की बात है कि जो अरमान मानव पूर्ण कर पाता है उनसे भी उसे पूर्णता का बोध नहीं होता । उसके भीतर अभाव की भट्ठी सदा जला करती है । 'यह है तो वह' बना ही रहता है । कारण, मानव की पिपासा सांसारिक पदार्थों से शान्त नहीं हो सकती । सांसारिक सभी वस्तुएँ स्वयमेव अपूर्ण हैं । उनसे किसी का अभाव आज तक नहीं मिट सका वरन् ज्यों-ज्यों पूर्ति होती गई त्यों-त्यों उसकी नवीन माँग बढ़ती गई और नया अरमान उनकी जगह जड़ जमाता गया । अतः अभाव तो तब न मिट सकता है जब मानव चिन्तामणि पा जाय । यह चिन्तामणि मिले कहाँ; प्रश्न जटिल है । पर उसी चिन्तामणि को पाने के लिये मनुष्य के अन्दर सारा कोलाहल हुआ है । उसी कल्पवृक्ष की सुखद छाया में जा विश्राम करने की प्रत्येक आदमी की आकांक्षा है । वह कल्पवृक्ष और वह चिन्तामणि प्रभु के ही हितकर नाम हैं या भक्त-

वत्सल स्थूल रूप हैं। उन्हीं प्रभु की छत्र-छाया में जा फटकने के लिये सभी मार्ग वस्तुतः घोषणा कर रहे हैं। बलवान आत्माओं के द्वारा की हुई यह घोषणा ही एक-एक मज़हब या धर्म के नाम से आज विख्यात हुई है।

यह निर्विवाद सत्य है कि भगवान एक है और धर्म या मज़हब अनेक हैं; फिर भी सभी धर्म और संतों के सभी मार्ग उन्हीं के पास पहुँचाने वाले हैं। यह दूसरी बात है कि किसी धर्म का मार्ग 'लंबा पेड़ खजूर' सा है और कोई 'ऊँची गैल राह रपटीली' है जहाँ स्वभावतः 'पाँव नहीं ठहराय।' यदि वहाँ बहुत 'सोच-सोच पग धरूँ जतन ते' तो भी 'बार बार डगि जाय।' ऐसे ही अन्यान्य धर्म भी अपने-अपने पृथक् रास्ते के हैं और उन अलहदे मार्गों के भगवान भी अलग-अलग स्वरूप के और अलग-अलग इष्ट के हैं। लेकिन बड़ी ख़ुशी की बात है कि सूफ़ियों का धर्म, उनके सिद्धान्त और भगवान् हमारे वेदान्त के प्रतिपादित धर्म, सिद्धान्त और भगवान् के अनुरूप हैं।

सूफ़ियों का प्रेम लीजिये। सूफ़ी मत में प्रेम प्रतीक रूप से माना जाता है। उनका भगवत्प्रेम 'इश्क़ हक़ीक़ी' के नाम से पुकारा जाता है। सूफ़ी लोग प्रत्येक मनुष्य के चार विभाग करते हैं। सूफ़ी मत के सिद्धान्त भी चार वर्ग के हैं— चिश्तिया, कादरिया, सुहरवर्दिया और नक्शबन्दिया। सूफ़ियों की साधना दो रूप ग्रहण करती है—साधारण तथा विशिष्ट। साधारण साधना की आवश्यकीय वस्तु है—अवामिहिर, नबादी, रियाज़त तथा नमाज़। जो सूफ़ी विशिष्ट श्रेणी के हैं उनका तो हर क्षण भगवच्चिन्तन और भगवान् का जाप चलता रहता है।

इस जाप तथा चिन्तन के वैसे तो अनेक रूप हैं; किन्तु संक्षेप में यहाँ कुछ का परिचय-मात्र दिया जाता है। यहाँ पर यह बतला देना परमावश्यक प्रतीत होता है कि सब में प्रथम स्थान है 'तवज्जह' का। उसके बाद अनेक नाम रूप-जाप सम्बन्धी आपको मिलेंगे। यथा—ज़िक्र ज़ेहर, ज़िक्रेयासे-अनफ़ास, हब्ज़ेदम, शवाले नसीर, शगले महमूदा, सुलतानुल अज़कार, शगले सौने सरमदी तथा मुरातबा इत्यादि। इन नवों जापों को नवधा भक्ति के अनुरूप समझना चाहिये। ईश-चिन्तन और पूजा के जो हमारी भक्ति में नव खण्ड किये गये हैं ठीक वैसे ही सूफ़ियों में भी उक्त नव ही रूप मिलते हैं।

सूफ़ी धर्म के भगवान भी वेदान्त के भगवान से अभिन्न हैं। जिस प्रकार वेदान्त का भगवान एक है उसी प्रकार सूफ़ियों के ब्रह्म 'हस्तिये मुतलक़' हैं। वह किसी भी एक आकार या रूप से रहित है। वह सर्वत्र सम गति से रम रहा है अर्थात् सर्व-व्यापी है, फिर भी किसी वस्तु-विषय में केन्द्रीभूत नहीं है। वह अगोचर, अज्ञेय, तथा असीम है। वह अनादि है और अनन्त है। जरा-मरण से रहित है। उसमें न कोई कभी परिवर्तन देखता है न कभी 'उसका' विनाश ही होता है। सूफ़ीगण इसी एक को 'जात' कहते हैं। जात की शक्ति भी बड़ी जबर्दस्त है जिसे 'सिफ़त' कहा जाता है। सूफ़ी लोग इसी 'सिफ़त' से पावन सृष्टि की उत्पत्ति बताते हैं। हमारे लिए यह 'सिफ़त' सिफ़त है पर भगवान के लिए कुछ नहीं। यह उनकी कृपा-कोर है। तनिक-सी देर में उनकी शक्ति क्या से क्या करने की क्षमता रखती है। मानसकार ने उस 'सिफ़त' का परिचय यों दिया है :

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

वास्तव में सूफ़ी लोग मधुकरी वृत्ति के जीव होते हैं। वे जहाँ कहीं रस पाते हैं ग्रहण कर लेते हैं और सीठी को वहीं त्याग देते हैं। इसी कारण उनके धर्म में विश्व के समस्त धर्मों के जितने सुन्दर-सुन्दर विचार हैं उनका पर्यवसान हुआ है। इस्लाम-धर्म से भी कुछ वस्तुएँ उन्होंने ग्रहण की हैं और उन्हें अपने धर्म में लय किया है। लेकिन जितने सामान उन्हें हिन्दू-धर्म से मिले हैं उतने किसी धर्म से नहीं। हिन्दुओं के कर्म, उपासना और ज्ञान को लेकर सूफ़ियों ने शायद शरीअत, तरीक़त तथा हक़ीक़त नाम क्रमशः दिये हैं। उनकी 'मारफ़त' अवस्था ही हमारे यहाँ 'तुरिया' के नाम से विख्यात है जिसके द्वारा सहज ही 'सायुज्य' हो जाता है। उपनिषद् की सुप्रसिद्ध धुन 'अहं ब्रह्मास्मि' को सूफ़ी 'अनलहक' में परिणत करते हैं और इसी मस्ती में वे ख़ूब झूमते हैं। महात्मा जायसी ने तो एक जगह खुल कर कहा है :

'सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। सो बूझै, सो धीरज धरई॥

इन सब में जो विशिष्ट वस्तु हिन्दुओं से सूफ़ियों को मिली वह थी उनके 'हृदय की पीर' व्यक्त करने वाली मनोहर कहानियाँ। हिन्दुओं की प्रेममयी मनोहारिणी कहानियों को लेकर सूफ़ियों ने अपने परम प्रियतम की अभ्यर्थना की, उन्हें रिझाया और अपने जीवन को सफल बनाया। ज़रा ध्यान दीजिये—पद्मिनी की कहानी हमारे घर की है। उसे लाखों-करोड़ों हिन्दू जानते हैं; लेकिन जिस दृष्टि से जायसी ने उस कहानी को स्वयं समझा है और हमें समझाया है उस दृष्टि से समझने-और समझाने की भावुकता किसी हिन्दू में नहीं आई। हमने

पद्मिनी को एक वीर क्षत्राणी के रूप में देखा था। हमें यह पता न था कि उसकी कथा द्वारा प्रेममय प्रभु की पूजा भी हो सकती है। लेकिन भावुक भक्त महात्मा जायसी ने उस कथानक के भाव को ही बदल डाला। उन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि पद्मिनी की कहानी में प्रियतम की कहानी छिपी है। ज़रा दिव्य दृष्टि से देखिये :

तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांधा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

सूफ़ियों की उपासना हमारे यहाँ के माधुर्य-भाव से ठीक मेल खाती है। वे ईश्वर की आराधना पति रूप में किया करते हैं। हमारे संत श्रेष्ठ नागरीदास जी तथा भक्तिमती मीरा की उपासना सूफ़ियों की उपासना से मिलाने ही योग्य है। चैतन्य महाप्रभु की मण्डली भी सूफ़ियों की पंक्ति में बे रोक-टोक के बैठ सकती है। कवीन्द्र-रवीन्द्र की कविताओं का भाव सूफ़ियों की भावप्रवण वाणी से अधिकांश में मिल जाता है। अन्य देश के संत कवि ईट्स (Yeats) और महात्मा शेली (Shelley) की रचनाओं में भी सूफ़ीमत की पुकार स्पष्टतः लक्षित होती है। इन वियोगी साधकों को हर वस्तु में परमात्मा की झलमल ज्योति दीखी। माधुर्य भाव के उपासकों का यह सहज एवं स्वाभाविक किन्तु ख़ास लक्षण है कि प्रभु की दिव्य झाँकी, उनका अद्भुत सौन्दर्य उनके प्राण-प्राण में खिला रहता है। एक क्षण के

लिए भी उस चरम सौन्दर्य से उनकी आँखें पृथक् नहीं हो पातीं। महात्मा जायसी की ही दशा देखिये, वे कहते हैं :

देखउं परम हंस परिछाहीं। नयन जोति सो बिछुरत नाहीं॥

जगत्-वन्द्य गीता में जो भगवान् ने श्रीमुख से अपनी विभूतियों का वर्णन किया है वह भी सूफ़ियों की-सी भावात्मक प्रणाली पर है। चराचर में वस्तुतः जो कुछ श्रेय और प्रेय है वे ही भगवान की विभूतियाँ हैं या वे ही भगवान् हैं। दशवें अध्याय में समझाते-समझाते जब भगवान थक गये हैं तब ग्यारहवें अध्याय में अपने विराट् रूप का दर्शन दिखाते हैं जिससे अर्जुन भयभीत होकर उनकी नाना प्रकार से वंदना करने लगा है। उस समय भगवान् का बताया हुआ सब कुछ उसे स्वतः समझ में आ गया है। उसने सर्वभावेन अपने को भगवान् के चरणों पर निवेदित कर दिया है। लेकिन निवेदन में एक गुल खिला है। वह यह कि सारे सम्बन्धों को कहते रहने पर भी अर्जुन को तब तक तसल्ली नहीं मिलती जब तक वह पति-पत्नी का भाव नहीं लाया है :

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रये ऽप्यप्रतिमप्रभावः॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादयेत्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसिदेव सोढुम्॥

जायसी के प्रादुर्भाव-काल में भक्ति का स्वरूप—जायसी के समकालीन भक्ति के स्वरूप को जानने के पहले उनके जीवन-वृत्त सम्बन्धी दो-चार प्रामाणिक बातें ज्ञात कर लेनी आवश्यक हैं। जायसी का जन्म जायस नगर में ६०० हिजरी सम्वत् अर्थात् १४४२ ई० के लगभग हुआ

था।* जायस नगर का पहला नाम 'उदयान' था। जायस नगर से आने के ही कारण लोगों ने उनके नाम के साथ जायसी जोड़ दिया था। नाम था मलिक मुहम्मद। मलिक मुहम्मद के साथ जायसी का उतना ही घनिष्ट सम्बन्ध हुआ जितना श्री रामवृक्ष जी के साथ बेनीपुरी का। गाँव में जायसी के चार अज़ीज़ी मित्र थे। उनके नाम क्रमशः यूसुफ़ मलिक, सालार क़ादिम, सलोने मियाँ तथा बड़े शेख। जिस समय महात्मा जायसी भारत में आए थे उस समय भारत की शाही गद्दी पर शेरशाह मौजूद था। कहा जाता है उसने जायसी को देख कर उनकी कुरूपता की खिल्ली उड़ायी थी। पाठक आसानी से जान सकते हैं कि जायसी का रूप चाणक्य से किसी भाँति हीन नहीं था। उनकी बाईं आँख और बायाँ कान बेकार था। प्रेम की चिनगारी फेंकने वाले उनके परम गुरु सैयद अशरफ़ थे। कहा जाता है शेख मोहिदी से भी उन्होंने काफ़ी ज्ञानार्जन किया था। मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है उन सब का आधार जायसी की निज की वाणी है। प्रमाण-स्वरूप उन्हें यथा-विधि उद्धृत कर रहा हूँ। देखिये :

(क) भा औतार मोर नव सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

(ख) जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

(ग) जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदियानू॥

(घ) यूसुफ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहिले भेद बात वै जानी॥

पुनि सालार कादिम मतिमाहाँ। खाडे दान उहै नित बाहाँ॥

*** जायसी की मृत्यु अनुमानतः ४ रजब ६४६ हिजरी अर्थात् सन १५४२ ई० मानी जाती है।**

मियाँ सलोने सिंघ बरिश्राय । बीर खेतरन खड्ग जुझारू ॥

सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाना । किए आदेश सिद्ध बड़ा माना ॥

च) एक नयन कवि मुहमद गुनी ।

छ) मुहमद बाईं दिसि तजा, एक सरवन, एक आँखि ।

ज) सैयद असरफ पीर पियारा । जेइ मोहि पन्थ दीन्ह उजियारा ॥

कही सरीअत चिस्ती पीरू । उधरी असरफ औ जहँगीरू ॥

झ) गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा । चले उताइल जेहि कर खेवा ॥

पा-पाएउँ गुरु मोहिदी मीठा । मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥

जायसी के जीवन-वृत्त के लम्बे परिचय से विशेष कर मेरा मतलब जायसी के जन्म-काल से और उनके जन्मकालीन वातावरण से था। अतः ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट पता चलता है कि महात्मा जायसी सं० १४ ६० वि० के लगभग अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए थे। समकालीन युग में भारत भक्ति-भाव का केन्द्र बन रहा था। प्रायः समस्त देश के सिद्ध महात्मा वहाँ आते थे और अपने मत का प्रचार करते थे। इस प्रकार भक्ति की अनेक शाखाएँ भारत में उस समय फैल रही थीं। उपासना के स्वरूप मुख्यतः उस समय निर्गुण और सगुण थे। शैव और शाक्त मतों को छोड़ कर इन दोनों क्षेत्रों में फिर दो ही विभाग विद्यमान थे। सगुण क्षेत्र में राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति समानान्तर गति से दौड़ रही थीं और उधर निर्गुण क्षेत्र में कबीर-पंथी तथा गोरख-पंथी दल एक दूसरे के आगे निकल जाने में व्यस्त थे। इनके प्रतिष्ठापक रामानन्द, वल्लभ, गोरख, तथा कबीर तो उच्चकोटि

के संत थे, पर उनके बाद क्रमशः उनके अनुयाइयों में कमी आती रही !

इसी समय सूफ़ियों का नया मार्ग देश में चला।.देश ने इन भावुक संतों का चाव से आदर किया। शीघ्र ही यह भक्ति समस्त देश में फैल गई। कतियत प्रेम की पीर व्यक्त करने वाली कहानियों को लेकर सूफ़ी संतों ने और कवियों ने उन्हें अपनी-अपनी बोतल में ढाल कर उनका भिन्न-भिन्न रूप कर दिया। दाऊ कुतबन, मंझन आदि महानुभावों का नाम उन प्रेम के उपासकों में अत्यधिक विख्यात हुआ और जायसी तो इन सब में भी शिरमौर हुए। इन भाव-प्रवण मुसलमान हृदयों से अनुपम हिन्दू-हृदय की तस्वीर निकली जिस पर मुग्ध होकर हिन्दुओं ने अपने को उन पर वार दिया। भारत के चन्द्रमा किन्तु खड़ी बोली रूपी कमल के सूर्य ने तो यहाँ तक कह डाला—

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।

बाबू साहब की उक्ति सर्वथा युक्ति युक्त और यथार्थ सिद्ध हुई। विचार कीजिये यदि सूफ़ी महात्माओं ने प्रेम की तरह-तरह की कहानियों द्वारा प्रियतम की पूजा न की होती तो हम क्यों कर उन कहानियों से इतना प्रभावित होते और उनके द्वारा भगवान की ओर क्यों कर आकृष्ट होते ? और आज मृगावती, मधुमालती, मपुमालतीरी की कथा, मुग्धावती, प्रेमावती, चित्रावती तथा इन्द्रावत आदि का नाम ही कौन और कैसे जान पाता ?

और पद्मावत पर ही आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् २०२ पृष्ठ की बृहद् भूमिका क्यों कर लिख पाते यदि महात्मा जायसी ने पद्मावत

को जन्म नहीं दिया होता और उसके द्वारा भगवान् की पूजा न की होती। जायसी के और ग्रंथों—अखरावट, आख़िरी कलाम आदि की चर्चा छोड़ दीजिये, एक मात्र जायसी के पद्मावत को ही देख कर हमें काफ़ी सन्तोष हो जाता है। यदि कोई विद्वान दुःख न माने तो पद्मावत को हिन्दी-साहित्य में 'मानस' के पश्चात् श्रेष्ठ स्थान दिया जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के महत्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए जिस प्रकार 'मानस' काफ़ी है उसी प्रकार जायसी की प्रतिभा दिखाने और देखने के लिये उनका पद्मावत बहुत है। उसमें कवि का अपूर्व पाण्डित्य तथा भक्त की अगाध प्रेम-भक्ति, दोनों का समान सन्निवेश हुआ है। विद्वत्ता-विषयक चर्चा 'जायसी की काव्य-पद्धति' में की जायगी। अभी उनके प्रेम-सागर में आकर पाठक स्नान करें।

हाँ, तो जायसी के आविर्भाव-काल में भक्ति के जिन चार विशिष्ट स्वरूपों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन सब का प्रभाव जायसी की उपासना-पद्धति पर पड़ा है। यह एक साधारण बात है कि देश और काल का प्रभाव सबके ऊपर बराबर रूप से पड़ता है। चाहे कोई हो, उस पर देश और काल का असर अवश्य पड़ेगा। प्रकृति का यह नियम है कि वह अपने वातावरण में ढालने का उद्योग करती है। सरसों के फूल पर बैठने वाली तितली पीले रंग की हो जाती है और गहन जङ्गलों के बीच रहने वाले बाघ जिन पर सूर्य की रोशनी धूपछाँह के रङ्ग की होकर पड़ती है, ठीक वैसे ही हो जाते हैं। यह मामूली रङ्ग और वेशभूषा की बात हुई। उसी प्रकार रहन-सहन, खान-पान और

पोशाक-पहनाव आदि का भी प्रभाव हम पर ख़ूब पड़ा करता है। ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता जो कवियों में पायी जाती है उसका प्रधान कारण यह है कि कवि-जन भी देश और काल से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। कोई भी कवि हुआ है उस समय की छाप उस पर अवश्य पड़ी है। यह ध्रुव है और हमारे सूफ़ी महात्मा तो बिलकुल मुलायम हृदय के आदमी होते हैं। उन पर आसानी से कोई रंग चढ़ सकता है, और चढ़ा है। जायसी की अनेक बातें इसके प्रमाण हैं। जायसी स्पष्ट वक्ता थे। उन्होंने खोल कर अपनी सारी बातें रख दी हैं। यथा—'हौं पंडितन केर पछिलागा।'

यों तो हिन्दुओं के घर और धर्म की बहुत-सी बातें महात्मा जायसी ने ग्रहण की ही थीं; इससे अधिक जो उन्होंने कर दिखाया, वह यह था कि योग आदि का उन्होंने यथावत् व्यवहार कर दिखाया। जायसी योगाभ्यासी पुरुष स्वयं भी थे। योगबल से वे कभी-कभी अपना रूप बदल लेते थे। सुना जाता है सिद्ध-महात्मा जायसी ने अपने मरने के विषय में भी पहले ही कह दिया था। उन्होंने बताया था कि उनकी मृत्यु गोली खाकर होगी। निदान शिकार का लाख परहेज़ रहते हुए भी जायसी की मृत्यु गोली से ही हुई। जब कि वे एक बाघ का रूप धारण कर रक्खे थे, एक शिकारी ने अचानक उन पर गोली चला दी और वे मर गये। हिन्दुओं की योग क्रिया से कबीर पंथी और गोरख-पंथी दल भी ख़ूब प्रभावित थे। महात्मा जायसी ने तो मानों हिन्दू-हृदय ही पा लिया था। वे हिन्दुओं के घर में बैठ कर सारतः हिन्दू हो गये थे। उनके कई विवरण से तो ऐसा प्रतीत होता

है कि हिन्दू-धर्म की अच्छी जानकारी उन्हें हो गई थी। एक स्थान पर हिन्दू-हृदय की बड़ी सुन्दर तस्वीर उन्होंने खींची है। वह वस्तु है सूर्य-सिद्धान्त के आधार पर की हुई मानव शरीर के भीतर उनके ब्रह्माण्डों की रचना। जैसे तुलसी ने अखंडवृत्ति का रूपक 'सोहमस्मि' द्वारा बाँधा है वैसे ही जायसी ने 'पिन्ड और ब्रह्माण्ड की एकता' पर एक बड़ा सुन्दर रूपक तैयार किया है। दर्शनार्थ उसे यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

सातौं दीप नवो खंड, आठौ दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्मांड सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहिं॥

हा दुक झांकहुँ सातौ खंडा। खंडे खंड लखौ ब्रह्मंडा॥
पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ। लखिन अँटक पौरी महँ ठाऊँ॥
दूसर खंड बृहस्पत तहैवा। काम दुआर भोग घर जहैवा॥
तीसर खंड जो मंगल मानहुँ। नाभिकमल महँ ओहि अस्थानहुँ॥
चौथ खंड जो आदित अहई। बाईं दिसि अस्तन महँ रहई॥
पाँचव खंड सुक्र उपराहीं। कंठ मांह औ जीभ तराहीं॥
छठएं खंड बुद्धि करि बासा। दुइ भौहन्ह के बीच निवासा॥

सातवं सोम कपार महँ, कहा जो दसवं दुवार।
जो वह पंवरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार॥

ज़रा सिद्ध साधक की विकट 'साधना' पर ध्यान दीजिये।

परम-भाव का स्वरूप—परम भाव, महा भाव या माधुर्य भाव तीनों एक ही भाव के पृथक-पृथक तीन नाम हैं। तीनों के स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं, तीनों एक हैं। परम-भाव की भक्ति अनादि काल से

जगत में प्रतिष्ठित है। ईश्वर को पति-रूप में भजने का उदाहरण सर्व-प्रथम हमें वेदों से मिलता है। ऋग्वेद कहता है—'योषा जार-मिव प्रियम्'। तात्पर्य यह कि ईश्वर को पति रूप में पा जाना मानव-जीवन का परम फल है। प्रायः समस्त देशों में इस महान् भावना के द्वारा ईश्वर की उपासना की गई है। परम भाव के अनेक भावुक भक्त सर्वत्र हुए हैं और उनकी आराधना सफल हुई है। इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिये कुछ भक्तों ने बेजोड़ सांसारिक प्रेम की कहानियों को लिया है। उसी के सहारे वे प्रभु के प्रति अपनी भावना उँडेलने में समर्थ हुए हैं। ईसाई लोग अपनी इस भावना को 'ईसा-मरियम' की कहानी में पूर्णतः व्यक्त करते हैं। मुसलमान भक्तों ने अपनी परम भाव की पुष्टि लैला-मजनूँ अथवा शीरीं-फ़रहाद की कहानियों द्वारा की है। हिन्दू राधा-कृष्ण के प्रेम को दिखा कर परम-भाव पर दो पुष्प चढ़ाते हैं। ये सभी कहानियाँ प्रेम की अनमोल कहानियाँ हैं। इस प्रेम की क़ीमत कोई लगा नहीं सकता। लैला-मजनूँ की बात कहता हूँ। जब ख़ुदा का भेजा दूत मजनूँ के पास जाकर कहता है कि ऐ मजनूँ! तुम्हें ख़ुदा बुला रहा है तो वह (मजनूँ) कहता है कि जाकर ख़ुदा से कह दो कि यदि उसे ज़रूरत है तो ख़ुदा लैला के रूप में आकर क्यों नहीं मिल लेता। वाह रे प्रेम! इस प्रेम की क़ीमत क्या आप और हम लगा सकते हैं? महात्मा जायसी ने परम-भाव की अभिव्यञ्जना करने के लिये एक हिन्दू घर की प्रेम-पूरक कहानी अपनाई है और उसी के द्वारा प्रियतम की पूजा की है। वह कहानी पद्मिनी और रत्नसेन की है। पद्मिनी और रत्नसेन के प्रेम को जायसी ने जहाँ तक बना है ऊपर उठाया है। ऐसा ऊपर उठाने में वे

सफल भी हुए हैं। मैं समझता हूँ उन्होंने उसे सांसारिक प्रेम से बिलकुल अलग कर दिया है और अलौकिक प्रेम के आसन पर आसीन कर दिया है। यह तो वैसा ही हुआ है जैसा कि एक भक्त कहा करता था :

मज़ाज़ी इश्क़ के बदले हक़ीक़ी इश्क़ हो जाता।
न रहती नाव चक्कर में तो बेड़ा पार हो जाता॥

जायसी ने मज़ाज़ी इश्क़ का वर्णन पद्मावत में किया है और उसे देख कर अनेकों ने मज़ाज़ी इश्क़ का मज़ा भी पाया मगर उनके लिये वह इश्क़ हक़ीक़ी हो गया। वस्तुतः सूफ़ी संत जायसी का लक्ष्य इश्क़ हक़ीक़ी का ही सबक़ पढ़ाना था। उन्होंने पढ़ाया भी, मगर प्रेम की कहानी की आड़ में। बात यह थी कि प्रेम की कहानी को वे अधिक पसन्द करते थे, चाहे वह कहानी किसी देश की हो, किसी भाषा में हो या किसी वर्ग की हो। अन्त में उन्होंने कहा है--

तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेति आंहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि।
मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई॥
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
कहाँ सो रतनसेन अब राजा? कहाँ सुआ अस बुधि उपराजा?
कहाँ अलाउद्दीन सुलतानू? कहँ राघव जेइ कीन्ह बखानू?
कहँ सुरूप पद्मावति रानी? कोइ न रह, जग रही कहानी॥
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै, पै मरै न बासू॥

केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल ॥

यह स्थूल जगत जिसमें हर वक्त वैषम्य और पारस्परिक द्वन्दों की तलवार घमासान चल रही है यदि वास्तव में देखा जाय तो उस रण-क्षेत्र के भीतर घंटे के अन्दर छिपा हुआ शार्दूल का अंडा निकलेगा। जिसे हम दुःख मान और समझ रहे हैं उसी में खोजने पर सुख की लीला दृष्टिगोचर होती है। इस जगत में तह के तह दुःख और सुख भरे पड़े हैं। इन अनेक तहों को देखते-खोलते अन्ततः साधक का कर्त्तव्य यह है कि वह दुःख और सुख के भुलावने दृश्यों को छोड़ कर दोनों से ऊपर उठ जाय और परमानन्द में प्रवेश कर जाय। परमानन्द का सुख दुनिया के दुःख-सुख से ऊपर उठा हुआ विलग सुख है। जायसी अपने इस सुख को बताते हैं :

पैग पैग जस जस नियराउब। अधिक सवाद मिलै कर पाउब ॥
नैन समाइ रहै चुप लागे। सब कहँ आइ लेहिं होइ आगे ॥
बिरसहु दूलह जोबन-बारी। पाएउ दुलहिन राजकुमारी ॥
एहि महँ सो कर गहि लेइ जैहैं। आधे तखत पै लै बैठहैं ॥
सब अछूत तुम कहँ भरि राखे। महै सवाद होइ जौ चाखै ॥
नित पिरीत, नित नव नव नेहू। नित उठि चौगुन होइ सनेहू ॥
नितइ नित्त जो बारि बियाहै। बीसौ बीस अधिक ओहिं चाहै ॥
तहाँ न मीचु न नींद दुख, रह न देह महँ रोग।
सदा अनंद 'मुहम्मद' सब सुख मानैं भोग ॥

(आखिरी कलाम)

प्रेम-साधना में बढ़ने वाले संतों का ज्यों-ज्यों मार्ग कटता है, त्यों-त्यों नया रस मिलता जाता है। अन्त में यह अवस्था आती है कि जब वे प्रभु के सान्निध्य को जा प्राप्त होते हैं तो प्रियतम अपने प्रेमी को भुजाओं में भर लेते हैं और उसे सिंहासन का आधा भाग दे देते हैं। प्रियतम के पास पहुँचने पर जो कुछ वहाँ प्राप्त होता है वह सुख ही सुख है। दुःख का तो वहां निवास नहीं है और नाना प्रकार की व्याधियाँ वहाँ फटक भी नहीं सकतीं। अहर्निश वहाँ आनन्द का प्रवाह अविच्छिन्न गति से बहा करता है। उस आनन्द-रस में प्रेमी अपने को खो बैठता है। पिया की सेज पर नाना प्रकार के भोग-विलास में डूब कर वह बाहर आना नहीं चाहता। महात्मा जायसी ने प्रेम की साधना में आनन्द की चरम अवस्था दिखाई है। साधना में मधुर-रस की जो अनुभूतियाँ हैं वे बराबर इसका निर्देश करती रहती हैं। जैसा कि कहा गया है, महात्मा जायसी को अपनी दिव्य-दृष्टि में यावत् प्रकृति ही प्रियतममय थी या तुलसी के शब्दों में 'सियाराम मय' थी। इसी कारण जायसी बाहर जो तस्वीर देखते थे, उसी को भीतर भी पाते थे। भीतर उन्हें बाहर से अधिक विश्वास था कि प्रभु हैं पर एक सवाल उन्हें भीतर हल करना था--'कोरे मिलाव ?' लेकिन धीरे-धीरे जब साधना द्वारा उन्हें सिद्धि मिल गई और वे प्रियतम के पास चले गये तो उनका एक मात्र यही कहना था :

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ ? ओही देखहुँ ठाँवहिं ठाऊँ ॥
जौ जिउ महँ तौ उहै पियारा। तन मन सौं नहि होइ निनारा ॥
नैन मौंह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना ॥

जायसी के प्रियतम हर स्थान में उसी आभा के साथ विद्यमान रहते थे। बाहर से लेकर भीतर तक प्रियतम का ही रूप जायसी में खिल गया था। जायसी की प्रेम-साधना अखंड एवं अटूट थी। जीवन का ध्येय ही उन्होंने प्रियतम को पाने का बना लिया था और अन्त में उन्हें पा कर ही उन्होंने दम भरा। प्रेम-साधना का स्वरूप परम-भाव का था। परम प्रेम के साधक जायसी थे। इसकी एक ही बात ध्यान देने योग्य होती है। वह यह कि गुरु से जो प्रेम का पाठ मिले उसे लेकर प्रेम के मैदान में निर्भीकतापूर्वक प्रेमी उतर जाय। साधना के द्वारा सिद्धी तो उसे अवश्य मिलेगी ही, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। हाँ, विश्वास की आवश्यकता है। बिना विश्वास के किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती। यदि किसी को प्रेम-क्षेत्र में उतर कर प्रियतम को पाने की अभिलाषा हो तो उसे प्रभु मिल सकते हैं। लेकिन लगन के साथ उसे निम्नाङ्कित साधना का अभ्यास करना होगा :

अगर है शौक़ मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जला कर ख़ुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा॥
पकड़ कर इश्क़ की झाड़ू, सफ़ाकर हिजरए दिल को।
दुई की धूल को लेकर, मुसल्लह-पर उड़ाता जा॥
मुसल्लह फाड़, तसबीह तोड़, किताबें डाल पानी में।
पकड़ तू दस्त फ़िरश्तों का, गुलाम उनका कहाता जा॥
न मर भूखों, न रख रोजह, न जा मसजिद, न कर सिजदा।
वज़ूका तोड़ दे कूज़ा, शराबे शौक़ पीता जा॥
हमेशा खा हमेशा पी, न ग़फ़लत से रहो इकदम।

नशे में सैर कर, अपनी ख़ुदी को तू जलाता जा॥
न हो मुल्ला, न हो ब्राह्मन, दुई की छोड़ कर पूजा।
हुक्म है शाह कलंदर का, 'अनलहक' तू कहाता जा॥
कहे मंसूर मस्ताना, मैंने हक़ दिल में पहचाना।
वही मस्तों का मयख़ाना, उसी के बीच आता जा॥

विरह-वेदना—जायसी का प्रेम बहुत व्यापक था। वह जगत में चारों तरफ़ बिखरा पड़ा था। वैसी ही उनकी प्रेम-जनित विरह वेदना जगत में बिखरी हुई थी। केवल उन्हीं तक उस वेदना की सीमा न थी। अपने में तो वेदना का असर कुछ कम था, नहीं-नहीं पूरा था लेकिन जगत के फैलाव को देखते हुए वेदना को व्यापक ही कहना समुचित जँचता है। मीरा की वेदना व्यापक न होकर अपने आप में दूर तक पैठी हुई थी अतः उसकी वेदना तीव्र थी। विरह की आग में जायसी सारी सृष्टि को झुलसा देखा करते थे। विरह-ताप का असर जगत में कहाँ-कहाँ पड़ा है देखिए—

अस परजरा, विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतुगा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराहिं जरहीं। टूटहीं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहिं दाऊँ॥

विरह की आग जब जायसी मानते हैं तो आग-रूपी विरह यावत प्रकृति को झुलसाता दीखता है। मेघ श्याम हो गये हैं अर्थात झुलस गये हैं। राहु-केतु काले लगते है क्योंकि वे भी झुलस चुके हैं। सूर्य आग की तरह अंगार निकाल रहा है। चन्द्रमा जल कर आधा बच

गया है। पलास के फूल दहकते अंगारे से दीखते हैं। फिर जब विरह को विरही बाण समझता है तो सारी प्रकृति उस प्रेम के अनियारे बाण से बिद्ध दीखती है। देखिये :

रोवँ रोवँ वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटै ॥

और यहाँ तक कि–

उन्ह बानन्ह अस को जो न मरा ? बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओही के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े ॥

इस विरह बाण का धनुष भी बड़ा विचित्र है। जायसी किसी अंग से असावधान होने वाले कवि नहीं थे। जब बाण है तो धनुष का होना अनिवार्य है। क्योंकि बिना धनुष के बाण का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः जैसा विरह का वाण वैसा हीधनुष भी :

उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक रागौ कर गहा ॥
ओहि धनुक रावन संघारा। ओहि धनुक कंसासुर मारा ।
ओहि धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहि सहस्राबाहू ॥

जायसी ने यहाँ धनुष के द्वारा केवल अत्याचारियों का नाश बताया हैं। इसका कारण यह है कि जब धनुष राम और कृष्ण के हाथ में रहने वाला सिद्ध हो चुका तो उसका यह स्वभाव होना चाहिए कि वह केवल अत्याचारियों का ही दमन करे। रावण, कंस, राहू और सहस्रबाहु बड़े प्रतापी थे, बड़े वीर थे। उनके अत्याचार से दुनिया

तङ्ग आ गई थी। राम और कृष्ण तथा इसी प्रकार अनेक रूपों में आकर भगवान् ने उनका नाश किया और लोगों को शान्ति दी। पर देखना यह है कि उन वीरों का प्रताप और पराक्रम बड़ा ही भारी था जिनकी ललकार पर भगवान् को आना पड़ा था। वे किसी एक बुरे ही विषय के सही मगर दीवाने थे, पगले थे। उसी दीवानापन के द्वारा उन्होंने प्रभु को प्राप्त किया और मुक्त हुए। जायसी का मतलब उनके अत्याचार की ओर न हो कर उनके दीवानेपन की ओर है। मनुष्य को किसी भी लगन का पक्का होना चाहिए। जीवन में एक सिद्धान्त बनाना चाहिए, उसी लक्ष्य के द्वारा प्रत्येक पुरुष का उद्धार हो सकता है। रावण क्या राम का स्मरण करने वाला नहीं था? अवश्य था। पर उसका स्मरण दूसरे भाव का था। राम रावण को जिस प्रकार याद किया करते थे और खोजते चलते थे उसी प्रकार रावण भी उन्हें खोजता चलता था और सतत् याद रखता था। अनन्य स्मरण के ही द्वारा उसका मन रामाकार हो गया और मरने पर उसकी गति हो गयी। उसकी तो शुरु से साधना थी :

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥

जायसी का प्रेम कहानी के रूप में व्यक्त हुआ है। उस कहानी के स्वर में स्वर मिला कर जायसी बराबर अपनी पीड़ा सुना रहे हैं। विरह-वेदना के समस्त प्रसंग जायसी ने नागमती के विरह-वर्णन में रक्खा है। नागमती की ओट में जायसी ख़ुद रो रहे हैं और साथ ही चराचर को रुला रहे हैं :

फिरि फिरि रोव, कोइ नहिं डोला। आधी रात बिहंगम डोला॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनिन लावसि आँखी॥

* * * *

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥
बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ। गुंजा गूँजि करै "पिउ पिऊ"॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होई राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥

जायसी प्रेमी के साथ कवि भी हैं। लेकिन कविता से प्रथम स्थान उनके प्रेम का है। वे प्रबन्ध-काव्य की रचना करने बैठे हैं। उसमें नाना प्रकार के पात्र सम्बन्ध-निर्वाह के लिए आए हैं और पात्रों द्वारा नाना प्रकार की भाव व्यंजना कराई गई है। जायसी यह सब कुछ बड़ी सावधानी से करते गए हैं। पर उनका ध्यान बराबर अपने प्रेम की ओर रहा है। जहाँ-जहाँ पात्रों द्वारा भाव-व्यञ्जना होती है वहाँ-वहाँ उन पात्रों की बोली में जायसी अपनी फ़रियाद सुना दिया करते हैं। विरह के ही प्रसंग को लीजिये। मान लीजिये यदि नाममती के विरह का वर्णन करना है तो उसमें कवि ख़ुद अपनी विरह-दशा का उल्लेख करता है। कहीं-कहीं पद्मावती के विरह की चर्चा है तो वहाँ भी झट कवि आ पहुँचता है। नागमती के बहुत से उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। अब एक-आध और पात्रों की आवाज़ में जायसी के विरह की आवाज़ सुनिये। वैसे तो जायसी की विरह-वेदना देखने के लिए पद्मावत का एक खंड ही अलग है जिसका नाम है—'पद्मावती-

वियोग-खंड'। पर यहाँ आवश्यकतानुसार उसके थोड़े पद दिये जाते हैं। कवि पद्मावती की आड़ लेकर कह रहा है :

नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केंवाच जानु कोइ लावा॥
दहै चंद औ चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गँभीरू।
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी। तिल तिल भर जुग जुग जिमि गाढ़ी॥

× × ×

रोवँ रोवँ जनु लागहिं चाँटे। सूत सूत बेधहिं जनु काँटे॥
दगधि कराह जरै जस घीऊ। बेगि न आव मलयगिरि पीऊ॥

जायसी के प्रेम की यह विशेषता है कि वे लौकिक प्रेम दिखाते-दिखाते अलौकिक प्रेम दिखाने लगते हैं। पाठक पहले लौकिक प्रेम में भूला रहता है कि अचानक जायसी का दिव्य प्रेम आ झलकता है। पद्मावती के विरह की कथा ठीक ही चल रही थी कि जायसी को अपनी विरह-कथा याद आ गई और उसमें कवि ने यावत् प्रकृति को ला घसीटा। मज़ाज़ी इश्क़ और हक़ीक़ी इश्क़ दोनों का सामञ्जस्य जायसी द्वारा ख़ूब हुआ है। किसी प्रकार का भी प्रेमी जायसी द्वारा प्रतिपादित प्रेम से ऊब नहीं सकता। सभी प्रकार के प्रेमियों के लिए जायसी ने अपने पद्मावत में मसाला रक्खा है। फिर भी विशेषतः प्रतिपादन जायसी ने ईश्वरीय प्रेम का ही किया है। इसी के लिए उन्होंने नाना प्रकार की व्यवस्थाएँ पात्रों के साथ बैठाई हैं। पद्मावती का विरह-वियोग दिखाना है तो वे उसे ले कर जगत की धधकती हुई विरह-ज्वाला में ला फेंकते हैं :

परी बिरह बन जानहुँ घेरी। अगम असूझ जहाँ लगि हेरी ॥
चतुर दिसा चितवै जनु भूली। सो बन कहँ जहँ मालति फूली ?
कँवल भौंर ओही बन पावै। को मिलाइ तन-तपनि बुझावै ?
अंग अंग अस कँवल सरीरा। हिय भा पियर कहै पर-पीरा ॥
चहै दरस, रबि कीन्ह बिगासू। भौंर दीठि मनो लागि अकासू ॥

अब केवल रत्नसेन की विरह-व्यथा में जायसी की पीड़ा व्यक्त करके इस प्रसंग को हम समाप्त करते हैं। जायसी की व्यापकत्व विधायिनी पद्धति के द्वारा रत्नसेन का वियोग वर्णित है। रत्नसेन के वियोग का वर्णन दूना होना चाहिये क्योंकि जब कि उसे दो विरहिणी नारियाँ प्राप्त हैं। कवि ने इसी से रत्नसेन के विरह-वियोग को ख़ूब दिखाया भी है। आँखों से आँसू की जगह ख़ून जायसी ने गिराया है और कहा है :

नैनहिं चली रकत कै धारा। कथा भीजि भएउ रतनारा ॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसंत, रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती ॥
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू ॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया ॥
ईंगुर भा पहार जौ भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा ॥

इस पर तो बिहारी का तद्गुण अलंकार याद आ जाता है :

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गयी लाल ॥

उत्फुल्ल-प्रेम—जायसी के उत्फुल्ल प्रेम में मानसिक पक्षों की ही प्रधानता है, शारीरिक पक्ष गौण है। चुम्बन, आलिङ्गन आदि का

वर्णन कवि ने बहुत कम किया है। रूप में खुल कर एक स्थान पर कवि ने केवल कहा–'अब वह गाल काल जग भयउ।' इसकी झाँकी पाकर पाठक को कुछ और की आशा होती है पर इससे अधिक जायसी देते नहीं। जैसा कि कहा गया है, जायसी के सभी प्रकार के प्रेम के अवलम्बन उनके मुख्यतः तीन पात्र हैं—रत्नसेन, पद्मावती और नागमती। एक पुरुष की दो रानियाँ हैं। दोनों की अटूट चाह रत्नसेन के लिए है। गोस्वामी तुलसीदास ने ईश्वर की दो रानियाँ बताई हैं—माया और भक्ति। लेकिन उसमें 'माया खलु नर्तकी बिचारी' है। उसी प्रकार रत्नसेन पुरुष ईश्वर के रूप में है, उसकी दो स्त्रियाँ क्रमशः माया और भक्ति के अनुरूप नागमती एवं पद्मावती हैं। पद्मावती से रत्नसेन अधिक ख़ुश रहता है और नागमती का ऊपरी ढिंढोरा मात्र है। नागमती ईश्वर-रूपी रत्नसेन को पाने में बाधा का कार्य सम्पादित करती है। इससे प्रेम की वास्तविक उत्फुल्लता पद्मावती और रत्नसेन के समागम में ही देखना यथेष्ट होगा। जायसी का अपना मिलन भी उसी मिलन में सन्निविष्ट है। पद्मावती के मिलन की अपूर्व तैयारी देखिये :

> **प्रथमै मज्जन होइ सरीरू। पुनि पहिरै तन चंदन चीरू॥**
> **साजि माँगि सिर सेंदुर सारै। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारै॥**
> **पुनि अँजन दुहुँ नैनन्ह करै। औ कुंडल कानन्ह महँ पहिरै॥**
> **पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राता मुख खाइ तमोला॥**
> **गिउ अभरन पहिरै जहँ ताईं। औ पहिरै कर कँगन कलाईं॥**
> **कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। पायन्ह पहिरै पायल चूरा॥**

बारह अभरन अहैं बखाने। ते पहिरै बरहौ अस्थाने॥

पुनि सोरहौ सिङ्गार जस, चारिहु चौक कुलीन।

दीरघ चारि, चारि लघु, चारि सुभर, चौ खीन॥

पद्मावती जब प्रियतम के पास पहुँचती है तो उसे योगी के रूप में पाती है। जानते हुए भी वह परिचय पूछती है। राजा रत्नसेन उत्तर देता है :

मैं तुम्ह कारन, पेम पियारी ! राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी॥

पद्मावती रत्नसेन की बात काट कर परिहास में कहती है :

अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होहिं नहिं राजा॥

अनेक प्रकार के विनोद हो लेने पर राजा-रानी में सच्ची बातें होने लगती हैं। दोनों को परस्पर विश्वास हो जाता है कि दोनों एक दूसरे के अनन्य प्रेमी हैं। इस अनन्य प्रेम का कारण दोनों का सुना हुआ अद्वितीय रूप लावण्य ही है। सुआ ने दोनों के रूप को देख कर ही एक दूसरे से एक दूसरे को पाने की चर्चा की थी। रत्नसेन रूप लिप्सा को यों कहते हैं :

रूप तुम्हारा सुनेउँ अस नीका। ना जेहि चढ़ा काहु कहँ टीका॥

पद्मावती उत्तर देती है :

जस सत कहा कुँवर ! तू मोही। तस मन मोर लाग पुनि तोही॥

जब-हुँत कहि गा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी॥

तब-हुँत तुम बिनु रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत "पीउ पीऊ"॥

भइउँ चकोरि सो पंथ निहारी। समुद सीप जस नैन पसारी॥

लाज की सिहरी जब मिट जाती है तो दोनों के शृङ्गार रस का महा-संग्राम छिड़ता है। जायसी ने संयोग शृङ्गार के इस संग्राम का वर्णन परोक्ष रूप से बड़ा सुन्दर किया है :

भएउ जूझ जस रावन रामा। सेज बिधौंसि बिरह-संग्रामा ॥
लीन्हि लंक, कंचन-गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मैमंत बिधौंसा। बिचला बिरह जीउ जो नासा
टूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी माँग, भंग भए केसा ॥
कंचुकि चूर, चूर भइ तानी। टूटे हार, मोति छहरानी ॥
बारी, टाँण सलोनी टूटी। बाहूँ कंगन कलाई फूटी ॥
चंदन अंग छूट अस भेंटी। बेसरि टूटि, तिलक गा मेटी ॥
पुहुप सिंगार सँवर सब, जोबन नवल बसंत।
अरगज जिमि हिय लाइ कै, मरगज कीन्हेउ कंत ॥

ऐसे व्यवहार पर पत्नी पति से निवेदन करती है :

पै, पिय ! एक बचन सुनु मोरा। चाखु, पिया ! मधु थोरै थोरा ॥

तब जायसी के प्रियतम कहते हैं :

सुनु, धनि ! प्रेम-सुरा के पिए। मरन जियन डर रहै न हिए ॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा। की सो घूमि रह, की मतवारा ॥

रहस्योन्मुख भावना—सूफ़ी भक्तों की रहस्यात्मक पूजा प्रधान गुण है। भगवान के प्रेम को वे लोग रहस्यात्मक ढंग से रखते हैं। उनकी भावना नाना प्रकार के रूप-रंगों में रमती हुई प्रियतम पर जा पड़ती है और वे उन्हें किसी भी आड़ से देख लेते हैं, झाँक लेते हैं। सूफ़ी संतों की रहस्योन्मुख भावना प्रायः सभी माधुर्य

भाव के उपासकों पर पड़ी है। भारत के अधिक प्रेमी-भक्तों ने रहस्योन्मुख-भावना को सूफियों से लिया है। एक कबीर की रहस्यमयी पूजा के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कबीर बड़े रहस्यवादी थे। साथ ही माधुर्य भाव का प्रथम परिचय देने वाले भी थे। माधुर्य भाव का बड़ा सुन्दर परिचय उन्होंने रहस्यात्मक ढंग से अपने निम्न दोहे में दिया है:

नैनो की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥

प्रफुल्ल-प्रेम की कितनी सुन्दर उद्भावना रहस्यात्मक ढंग से की गई है। नेत्रों की कोठरी है, उसमें पुतली का पलँग बिछा हुआ है, प्रियतम को रिझाने के लिये पलकों का ऊपर से पर्दा भी दिया जा रहा है। ध्यान की मुद्रा यह अत्यन्त स्वाभाविक एंव दर्शनीय है। कबीर के साथ दादू-दरिया आदि निर्गुणी फ़कीरों ने भी अपनी प्रेम-साधना में रहस्यात्मकता का पुट बराबर रक्खा है। उनकी रचनाओं से तो साफ़ पता चलता है कि वे ख़ालिस सूफ़ी थे। मगर उन सभी के रहस्यों में अनेक-रूपता नहीं है। कबीर के ही चित्रों को लिजिये। उसमें व्यापकता का समावेश नहीं है। माहात्मा जायसी की रचनाओं में रहस्य की प्रवृति व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर की गई है। उनका रहस्यवाद विश्वव्यापी एंव आनन्दप्रद है। एक चित्र लीजिये:

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी। भा भिनसार, किरिन रवि फूटी॥
कँवल बिगास तस बिहँसी देही। भवँर दसन होइ कै रस लेहीं॥

उपर्युक्त चौपाइयाँ मानसरोवर के वर्णन में से ली गई हैं। इसमें जायसी ने अखंड-ज्योति के आभास से समस्त मानसर को उदित कर दिया है। साथ ही हृदय भी खोल दिया है और शरीर में परमानन्द की जागृति कर दी है। जायसी ने अपनी रहस्योन्मुख भावना का स्फुरण हठ योग, रसायन आदि में भी काफ़ी किया है पर उनका स्थान गौण ही समझना चाहिये। माधुर्य भाव के उपासक जायसी का रहस्य सर्वत्र प्रेमोन्मुख हो कर ईश्वर के पास नाना प्रकृति खण्डों में से होता हुआ पहुँचता दीखता है। बात यह है कि सारे महाभूत उस 'अमरधाम', जहाँ जगन्निवास प्रभु का विश्राम है, तक पहुँचने का सदैव प्रयत्न करते हैं। पर प्रेम-साधना पूरी हुए बिना उनका पहुँचना दुस्तर ही नहीं असम्भव है :

धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चाँद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाईं॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी नियाना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि होइगा धूआ। बहुरा रोइ, आइ भुँइ चूआ॥

असल में जायसी ने पाठ 'पानि उठा उठि जाइ न छूआ' दिया है जिसमें आचार्य शुक्ल ने अपना विचार दिया है 'उठि होइगा धूआ' करने को, क्योंकि इससे अर्थ की संगति ठीक बैठती है। यूरोप में प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने भी ईसाई मज़हब के भीतर रहस्य-भावना की सुन्दर झलक दिखाई थी। ऐसे रहस्यवादियों में सैफ़ो और टेरेसा का नाम अत्यधिक विख्यात हुआ है। दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार

की भक्तिन थी जिसका जन्म सं० ७७३ के लगभग माना जाता है। कहा जाता है एक साधू ने इसे बहुत छोटी अवस्था में एक पेड़ के नीचे पाया था। अन्दाल की रहस्योन्मुख भावना उस समय की है जबकि सूफ़ी संत भारत में नहीं आए थे। अतः अन्दाल पर सूफ़ियों का तनिक भी असर नहीं पड़ा। इससे सिद्ध है कि समस्त धर्म में ईश्वर की उपासना करने के लिये रहस्यात्मक ढंग का सहारा है। और उसके द्वारा प्रायः सभी भक्तों ने भक्ति का अलाप अलापा है। यथा :

"The Passion for intellectual abstractions, when transferred to the literature of imagination becomes a passion for what is grandiose and vague in sentiment and in imagery."

जायसी के प्रियतम—रहीम बड़े भवगद्भक्त पुरुष थे। उनका लिखा एक बड़ा मनोहर दोहा है :

प्रियतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहां समाय ?
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाय ॥

जो पथिक सराय में ठहरने के लिए आता है वह स्वत : उसे भरा देख लौट जाता है। वैसे ही जिसके नेत्रों में प्रियतम की छवि भर रही है उसमें फिर दूसरी छवि कहाँ पैठ सकती है। जगह हो तब न उसमें दूसरी तस्वीर रह सकती है। महात्मा कबीरदास जी लबों से इश्क़ का प्याला लगा कर कहते हैं :

कबीरा प्याला प्रेम का, अन्तरि लिया लगाय ।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल वन्य खाय ॥

इसी प्रकार जो प्रियतम के अनन्य प्रेमी होते हैं उनके हिय में ठौर नहीं रह जाती कि उसमें दूसरे को स्थान मिल सके । रोम-रोम में प्रियतम की सूरत खिल जाती है । महात्मा जायसी उन्हीं भक्तों में से एक थे जिन्होंने अपने हृदय में दूसरे के ठहरने का स्थान नहीं दिया । महात्मा जायसी की उपासना जिन प्रभु की थी वे प्रभु उनके प्रियतम नाम से सम्बोधित थे । अपने प्रियतम की दिव्य झाँकी उन्हें हर जगह मिलती रहती थी । घर में, वन में, कहीं कोई ऐसा स्थान न था जहाँ प्रियतम न छा रहे हों । प्रियतम में जायसी ने अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति एवं अनन्त गुणों की कल्पना की है । प्रथम अनन्त सौन्दर्य में प्रियतम की तस्वीर दिखिये :

दसन चौक बैठे जनु हीरा । औ बिच बिच रंग स्याम गँभीरा ॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी । चमकि उठै तस बनी बतीसी ॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं । हीरा जोति सो तेहि परिछाहीं ॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दियहिं ओही जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥

जायसी ने प्रियतम की पूजा करने के लिए पद्मिनी के ही रूप को लिया है । उसी के रूप में उन्होंने प्रियतम की छवि देखी है । उक्त उद्धृत अवतरण पद्मिनी के दाँतों की छटा का वर्णन है जिसमें जायसी को धरातल के समस्त सौन्दर्य खोये मालूम पड़ते है । वह चरम सौन्दर्य विश्व के कण-कण में व्याप्त हो रहा है । जायसी उसका दर्शन हर

रूपों में किया करते थे। इस अनन्त सौन्दर्य के बाद अनन्त शक्ति का निरीक्षण कीजिये—

कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल खेहा। कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन औतारू॥
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती। कीन्हेसि नखत, तराइन-पाँती॥
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाँहा। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माँहा॥
कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा। कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा॥

इस प्रसंग में जायसी ने सीधे प्रियतम की अनन्त शक्ति का निरूपण किया है। पद्मिनी या अन्य किसी के माध्यम की उन्हें आवश्यकता नहीं रही है। सीधी तौर पर उस प्रियतम की अनन्त शक्ति, जो जगत में बिखरी पड़ी है, जायसी निवेदन कर रहे हैं। सब कुछ उसी प्रभु का रचा हुआ है। उस अपरम्पार ब्रह्म की शक्ति अनन्त है। उसके गुणों का भी थाह पाना मुश्किल है। उसके पास कौन वस्तु, कौन कला या कौन गुण नहीं है? विचित्र उसका भण्डार है :

धनपति उन्है जेहिक संसारू। सबै देइ निति, घटन भँडारू॥

लक्ष्मी का भण्डार तो उसके पास है ही। सरस्वती का भण्डार भी उसी के पास है। अन्योक्ति करके पद्मिनी के निम्न प्रसंग को समझिये :

चतुरवेद-मत सब ओहि पाहाँ। रिग, जजु, साम अथरबन माहाँ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह, बरम्हा सिर धुना॥
अमर, भागवत, पिंगल गीता। अरथ बूझि पंडित नहिं जीता॥

भासवती औ ब्याकरण, पिंगल पढ़ै पुरान।
बेद-भेद सौं बात कह, सुजनन्ह लागै बान॥

इसी प्रकार अनेक गुण, अपार शक्ति तथा अनन्त सौन्दर्य में जायसी ने अपने प्रियतम की तस्वीर देखी है। पद्मावती के रूप या उससे अलग होकर भी जब उनकी दृष्टि उस चरम सत्ता पर जाती है तो सब कुछ खोकर वे उसी का प्रत्यक्षीकरण करने लगते हैं। चरम सत्ता के रूप, गुण अथवा शक्ति जायसी की आँखों से ओझल नहीं होती थी। एक क्षण के लिए भी वे उससे पृथक नहीं होते थे। जायसी के प्रियतम की तस्वीर अत्यन्त मोहक है तथा अनन्त है—उसका लेखा नहीं हो सकता।

जायसी की काव्य-पद्धति

काव्य के कतिपय स्वरूपों में म यहाँ मुख्यतः उसके दो ही स्वरूपों को लेते हैं। प्रबन्ध तथा मुक्तक। कवि की भावुकता की वास्तविक झलक प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन की अनेक मर्मस्पर्शी दशाओं का सन्निवेश प्रबन्ध-काव्य में हुआ रहता है जिसमें भाव-व्यञ्जना के अनेक अवसर आया करते हैं। भाव-व्यञ्जना के इस विस्तृत क्षेत्र में कवि अपना अनुभव और अनुभूति पूरी स्वतन्त्रता के साथ आँकता चलता है। समय-समय पर उसका हृदय जगत के जिन वास्तविक दृश्यों और जीवन की जिन सच्ची दशाओं में रमता रहता है उसे पूर्ण रूपेण व्यक्त करने का सुअवसर उसे प्रबन्ध-काव्य में ही मिलता है। वहाँ, उस बृहद् क्षेत्र में जाकर, उसकी सारी जीवन-पिपासा शान्त ह.   ·   । मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ अपने हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखाकर वह सच्चे कवि के पद का अधिकारी हो जाता है। सच्चे कवि की कविता बड़ी ही स्वाभाविक, सहज एवं सुन्दर हुआ करती है जिसे सहज ही जनता विमुग्धतापूर्वक अपना सकती है। वास्तविकता का आधार तो सच्चे कवियों का एक प्रमुख लक्षण होता है। वस्तु-वर्णन, भाव-व्यञ्जना, चरित्र-चित्रण, प्राकृतिक-सौन्दर्य-विधान, अलङ्कार-विधान आदि सभी काव्यगत लालित्य वे प्रदर्शित

करते हैं, पर अपने प्रधान आधार वास्तविकता की ओर से वे तनिक भी विचलित नहीं होते। यही कारण है कि उनकी कविता में स्वाभाविकता का अंश प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है। और यह मानी हुई बात है कि स्वाभाविक चीज़ें सुन्दर होती हैं। तो, जो सत्य और सुन्दर है वह अकल्याणकारी क्यों कर हो सकता है? साहित्य की परख का सवाल आजकल बड़े ज़ोरों से चल रहा है—साहित्य का मूल्य, सत्य, शिव और सुन्दर में से किस की कसौटी पर परखा जाय? इसका साफ़ उत्तर है सत्य। गुप्त जी ने 'साकेत' में इसका निर्णय यों किया है—'सत्य है स्वयं ही शिव, राम सत्य सुन्दर है।' अतएव केवल 'सत्यं' में 'शिवं' और 'सुन्दरं' दोनों का समावेश हुआ है और सच पूछिये तो उसी की नींव पर इनकी भित्ति खड़ी हुई है। कारणतः प्रबन्ध-काव्य तथा उसके प्रणेता प्रबन्धकार के ज़िम्मे सत्यांश प्रचुरांश में मिला है। अधिकांशतः प्रबन्धकारों ने अपने काव्यों में सत्य का ही प्रतिपादन किया है।

मुक्तक-काव्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उसका क्षेत्र परिमित है तथा उसका वर्णन अतिरञ्जित है। अतिरञ्जित वर्णन सत्य से बिलकुल रिक्त रहता है। अतः सत्यांश से रिक्त होने के कारण वह वर्णन कोरी कल्पना मात्र रह जाता है। कल्पना की उड़ान में मुक्तक क्षेत्र के कवि यदि सौन्दर्य को प्रतिष्ठापना करने बैठते हैं तो असत्यता, अस्वाभाविकता और असुन्दरता की मानो हद कर बैठते हैं। इससे उनकी रचना असत्य, अशिव तथा असुन्दर हो जाती है। कहा गया है कि प्रबन्ध का क्षेत्र विस्तृत और मुक्तक का क्षेत्र परिमित रहता है सो

मुक्तक क्षेत्र की कविता में स्थान की संकीर्णता के कारण शब्दों की तड़क-भड़क तथा अर्थों की कलाबाज़ी के सिवा कुछ अन्य आकर्षण नहीं रह जाता। भाव-व्यञ्जना और उनके रस-सञ्चार से वे कवितायें बिल्कुल वञ्चित ही रह जाती हैं। उद्दात्मक-पद्धति का सहारा लेकर बड़ी देर से कलाभिज्ञ पाठक कवि के वास्तविक अर्थ पर पहुँचता है जिससे दुरूहता स्वभावतः बढ़ जाती है और जन साधारण के लिये वे रचनाएँ दुर्बोध एवं दुर्गम सिद्ध होती हैं। न उनके कवि सर्व-प्रिय होते हैं और न वे कविताएँ ही। कहा गया है कि जो रचनाएँ सर्व-साधारण में समादृत नहीं होतीं वे रचनाएँ असफल होती हैं और उनके प्रणेता बाल-कवि होते हैं। कविता की परिभाषा इस प्रकार बताई गई है :

किरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

तुलसी तथा मलिक मुहम्मद जायसी इसी श्रेणी के कवि थे। उन कवियों के महान् काव्य 'रामचरित-मानस' तथा 'पद्मावत' इसके उदाहरण हैं। रामचरित-मानस की तो एक-एक पंक्ति जनता ने कंठस्थ कर रक्खी है। मानस का जितना प्रचार हुआ उतना हिन्दी की एक भी पुस्तक का नहीं। पद्मावत के भी अधिकाधिक अंश हमारी ज़बान पर चढ़े हुए हैं। यात्रा के समय स्वतः हमारे मुख से आज भी निकल पड़ता है :

अदित सूक पच्छिउँ दिसि राहू। बीफै दखिन लंक-दिसि दाहू॥
सोम सनीचर पुरुब न चालू। मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू॥
अवसि चला चाहै जौ कोई। ओषद कहौं, रोग नहिं होई॥
मंगल चलत मेल मुख धनिया। चलत सोम देखै दरपनिया॥

सूकहिं चलत मेल मुख राई । बीफै दखिन चलै गुड़ खाई ॥
मदित तँबोल मेलि मुख मंडै । बाप बिरंग सनीचर खंडै ॥
बुद्धहि दही चलहु करि भोजन । ओषद इहै, और नहिं खोजन ॥

यहाँ यह सहर्ष कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पद्मावत उस समय की रचना है जिस समय तुलसी के 'मानस' की अवतारणा नहीं हुई थी । शायद 'मानस' से ३४ वर्ष पूर्व पद्मावत लिखी गई थी । तुलसी को 'मानस लिखने के समय शैली अनुकरण की बड़ी कठिन समस्या सामने आई । उनका अधिकार समकालीन काव्य की सभी शैलियों पर था और उन्होंने इसका परिचय भी अपने सभी काव्यों के द्वारा दे दिया है । लेकिन तुलसी मानस के लिये किस शैली का अनुकरण करें यह सवाल उनके लिये अत्यन्त विचारणीय था । बहुत सोच-समझ कर तुलसी ने अन्त में पद्मावत की शैली पसन्द की जो प्रबन्ध-काव्य के लिये सफल शैली प्रमाणित हो चुकी थी । पद्मावत के ही क्रमिक दोहे तथा चौपाई का अनुकरण मानस में किया गया और पद्मावत के प्रसाद से उसे काफ़ी सफलता भी मिली । जायसी और उनके पद्मावत का श्रेय और महत्व समझने के लिये क्या यह कम है कि वे तुलसी और उनके मानस के मार्ग-प्रदर्षक हैं ? जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने मानस का निर्माण-काल 'संवत सोरह सै इकतीसा' दिया है उसी प्रकार विशिष्ट ग्रंथ पद्मावत का निर्माण-काल कवि इस प्रकार स्थिर करता है :

सन नव सै सत्ताइस अहा । कथा अरंभ बैन कवि कहा ॥

कथा के निर्माण-काल पर यहाँ थोड़ा विचार कर लेना असंगत न होगा। कथा का आरम्भिक वचन हिजरी सन ६२७ ई० अर्थात् १५२० ई० था। पर आरम्भिक 'तिवल्क' शेरशाह की प्रशंसा जो ग्रंथ में हुई है वह ६४७ हिजरी की अर्थात् १५४० ई० की थी। इससे विदित होता है कि बहुत थोड़ी कथा जायसी ने ६२७ ई० में लिखी अथवा कथा का आरम्भ भाव उन्होंने उस समय कर दिया। तत्पश्चात् वे भारत-भ्रमण में निकले। भारत का भ्रमण उन्होंने लगातार २० वर्षों तक किया। कथा चूँकि भारत की थी, इससे इस विषय में भी उन्हें काफ़ी जानकारी प्राप्त करनी थी। पहले उन्होंने पद्मिनी के प्रेम-सूचक कथा का आभास-मात्र अपने देश में पाया था और उसी जोश में उसे शुरू भी कर दिया। लेकिन सामान जब घटा तो उन्होंने भारत आकर ब्योरेवार कथा का अनुसंधान कर अपने देश गये। वहाँ जाकर उन्होंने समस्त ग्रंथ की पूर्ति की। इसी से एक स्थान में ऐसी ध्वनि निकलती है 'तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।' ग्रंथारम्भ में जायसी ने दीनतापूर्वक कहा है :

औ बिनती पंडिन सन भजा। टूट सँवारहु, नेरवहु सजा॥

अपने ग्रंथ के आदर की किसे चाह नहीं होती है? महात्मा तुलसी ने भी मानस की प्रस्तावना में दीनतापूर्वक अपनी इस अभिलाषा को प्रकट किया था :

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनित सनमानू॥

पद्मावत के बाद जायसी की दो और छोटी पुस्तके हैं—'अखरावट' तथा 'आख़िरी कलाम'। अखरावट के निर्माण-काल को कवि ने नहीं दिया है पर यह निश्चित है कि उसकी रचना पद्मावत से पीछे हुई

होगी। उसमें सिर्फ़ सूफ़ी मत और अन्यान्य मतों का स्पष्टीकरण एवं प्रेम-मार्ग से सम्बन्ध रखने वाली बातें मिलती हैं। उसकी शैली वही पद्मावत की है। दोहे और चौपाई के साथ-साथ कहीं-कहीं एक-आध सोरठे मिल जाते हैं। बस, जायसी का अधिकार इन्हीं तीन प्रकार के छन्दों पर था भी। उनकी समस्त कृतियाँ इन्ही शैलियों में ढली हैं। दूसरी बात है इस शैली के साथ अवधी भाषा का लाग। 'अवधी' जिस सौष्ठव के साथ दोहे, चौपाई और सोरठे में ढल सकती है उस सौष्ठव के साथ किसी अन्य-छन्द में नहीं। भाषा प्रकरण इसका विशेष विचार किया जायेगा।

अब रहा आख़िरी कलाम। इसमें कवि समय का कुछ आभास अवश्य देता है। पहली बात तो यह है कि उसमें बाबर की प्रसंसा की गई है। बाबर का शासन-काल ६३६ हि० अर्थात् १५२८ ई० के लगभग ठहरता है। अनुमानतः, इस ग्रंथ का निर्माण ६३० हिजरी के बाद ही सम्भव है। इस ग्रंथ की एक चौपाई कहती है :

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कबि बदी॥

इस प्रकार जायसी के क्रमशः तीन काव्य प्रकाश में आ गये हैं। 'नैनावत' तथा 'पोस्ती-नामा' नाम के दो ग्रंथ जायसी के और सुनने में आते हैं। आचार्य शुक्र ने उनका उल्लेख भी किया है किन्तु है केवल वह उल्लेख-मात्र ही। उनके नाम के सिवा और कुछ भी ज्ञात नहीं। अतः अप्राप्य पुस्तकों के विषय में निश्चयपूर्वक क्या मन्तव्य प्रकट किया जा सकता है? जब तक उनका उद्धार नहीं हो जाता तब तक

उसके विषय में हम मूक हैं। इधर अखरावट, तथा आख़िरी कलाम से भी काव्यगत विशेषताओं की वृद्धि में कोई सहयोग प्राप्त नहीं होता। वास्तव में काव्यत्व का उनमें कोई लक्षण भी नहीं है। उनसे जायसी के ग्रंथों की संख्या बढ़ सकती है और बढ़ सकता है उसे लेकर सूफ़ी धर्म। सर्वसाधारण और विशेषतः काव्य-प्रेमियों का उनसे कोई लाभ नहीं है। काव्य की पद्धति की पूरी रक्षा एक मात्र जायसी के पद्मावत में मिलती है। अन्ततः हमें उसी को लेकर सन्तोष करना पड़ता है। कवि के कलापक्ष और हृदयपक्ष दोनों का उसमें ख़ूब समावेश हुआ है। दोनों पक्षों की मात्रा बराबर रहते हुए भी जायसी को हम हृदयपक्ष का कवि मानेंगे और उनके काव्य पद्मावत को हृदयपक्ष-प्रधान काव्य समझेंगे। जायसी के हृदय-पक्ष के सामने उनका कला-पक्ष न्यून और नतमस्तक है। कवि ने जीवन की पाई हुई नाना प्रकार की अनुभूतियों, अनुभवों और विचार-भावनाओं को क़लम की राह बड़ी सहृदयतापूर्वक उतारा है। भावना की किस भावुकता के साथ कवि पाठक के हृदय को छूता है, पद्मावत पढ़ने वाले हृदय भली भाँति जानते हैं। कवि को प्रसंग के अनुरूप साँचे में ढल जाने वाला हृदय प्राप्त था। जिस प्रसंग और जिस विषय में जायसी रहते थे मालूम पड़ता है वे उसी प्रसङ्ग और उसी विषय के अपने अंग हो गये हों और उसमें घुल-मिल गए हों। वास्तव में जायसी का हृदय मुलायम था। वह कवि-हृदय और प्रेम-हृदय था जिस पर शीघ्रातिशीघ्र छाप पड़ जाती है। जायसी कोमल चित के प्रेमी साधु थे। उनके पास बड़ा भारी दिल था और उस दिल में बड़ी भारी

व्यथा थी। उसी व्यथा को अभिव्यक्त करने के लिए प्रेम के विस्तृत क्षेत्र पद्मावत का सहारा उन्होंने लिया। प्रेमी पाठक आसानी से बता सकते हैं कि अपनी प्रबन्ध-पटुता की धारा में जायसी ने भावुकता का कैसा मधु घोला है। तात्पर्य यह कि पद्मावत हिन्दी भाषा का सचमुच एक सुमधुर जगमगाता रत्न है। कवि का व्यक्तित्व प्रदर्शित करने के लिये पद्मावत बहुत है। यद्यपि जायसी की काव्य-पद्धति में उनके अन्यान्य ग्रंथों की उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि किसी कवि की काव्य-समीक्षा करने के लिये उसकी समस्त कृतियों का आश्रय लेना ही पड़ता है।

कवि की भावुकता—यह तो निश्चित ही है कि जायसी प्रबन्धकार कवि थे। प्रबन्धकार कवि की भावुकता की अच्छी परख उस स्थान पर होती है जहाँ प्रबन्ध में मर्मस्पर्शी स्थल आते हैं। पद्मावत में अनेक मर्मस्पर्शी स्थल आये हैं, जैसे—जोगी खण्ड, रत्नसेन-सूली-खण्ड, पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड, गोरा-बादल युद्ध, प्रताप खण्ड, आदि। जायसी ने अपनी भावुकता की सच्ची झलक इन्हीं उक्त स्थानों पर दिखाई है।

यों तो पद्मावत में रतिभाव ही प्रधान है। प्रेम का चरम स्फुरण पद्मावत में हुआ है। शृङ्गाररस के अनेक रस-पूर्ण प्रसंग पद्मावत में आए हैं। शृङ्गार-रस के प्रसंग को अभिव्यक्त करने में जायसी ने कमाल कर दिखाया है। ऐसे प्रसंगों का सम्बन्ध सीधे पद्मावती से है। प्रथम समागम राजा रत्नसेन से होने जा रहा है। पद्मावती पूर्ण शृङ्गार करके राजा के पास जा रही है। हृदय में अजीब उत्कंठा है तथा

मिलन की अपूर्व तैयारी है। असली तैयारी तो मन की है और तन तथा यौवन की तैयारी देख तो कवि सारे उपमानों को असंगत ठहराता है। देखिये :

साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट।
तन, मन, जोबन, साजि कै देइ चली लेइ भेंट॥

पद्‌मिनि-गवन हंस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
गीव देखि कै छपा मयूरू। लंक देखि कै छपा सदूरू॥
भौहन्ह धनुक छपा आकारा। बेनी बासुकि छपा पतारा॥
खड़ग छपा नासिका बिसेखी। अमृत छपा अधर रस देखी॥
पहुँचहि छपी कवँल पौनारी। जंघ छपा कदली होइ बारी॥

इस अपरूप रूप की काम-दशा भी अजीब है :

जरिउँ बिरह जस दीपक-बाती। पंथ जोहत भइ सीप सेवाती॥
भइउँ बिरह दहि कोइल कारी। डार डार जिमि कूकि पुकारी॥

कौन सो दिन जब पिउ मिलै यह मन राता तासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥

'रति' की अन्तिम अभिलाषा धन्य है !! ऐसे उच्च कोटि की कामना में अविश्वास या निराशा फटक नहीं सकती। वहाँ तो सतत् 'विश्वास' एवं 'आशा' से प्रेमी का हृदय ओत-प्रोत रहता है। पद्मावती कब तक झराई है ?

तौ लौं रही झुरानी, जौ लौ आव न कन्त।
एहि फूल एहि सेंदुर, होई सो उठै बसन्त॥

पद्मावत में शृङ्गार के संचारियों की कमी नहीं है, खोजने वालों की अवश्य कमी हो सकती है। नये-नये संचारी उसमें मिलते जाते हैं। शृङ्गार के दोनों विभाग, संभोग तथा विप्रलंभ में ये संचारी प्रचुर मात्रा में आच्छादित किये गए हैं। हलका किन्तु बड़ा ही रोचक उदाहरण एवं 'वितर्क' मैं उपस्थित करता हूँ.:

रहौं लजाइ तो पिउ चलै, कहौं तो मोहि कह ढीठ।

सम्भोग शृङ्गार की रीति के अनुसार जायसी ने अभिसार का पूरा वर्णन किया है। संभोग शृङ्गार में कवि परम्परा के अनुसार प्रतिपादित उनका एक 'हाव' देखिये :

हौं रानी, तुम जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन्ह चिन्हारी॥

एक स्थान पर पद्मावती रत्नसेन को यहाँ तक कह देती है :

जोगि तोरि तपसी कै काया। लागि यहै मोरे अँग छाया॥

वात्सल्य का भी सुन्दर वर्णन जायसी ने किया है। जिस प्रकार कौशल्या के हृदय में बन गमन के समय नाना प्रकार की शङ्काएँ हो रही थीं कि उनके लाल जंगल में किस प्रकार रहेंगे, उनके ऊपर कौन-कौन की आपदाएँ नित्य आवेंगी और उनका वे किस प्रकार निवारण करेंगे; उसी प्रकार बादल रण-क्षेत्र में जाने को तैयार है और उनकी माता परम सशङ्कित हो उठती है। वह नाना प्रकार से शंका की चेष्टाओं को प्रकट करती है :

बादल राय ! मोर तुइ बारा । का जानसि कस होइ जुझारा ॥
बादसाह पुहुमी-पति राजा । सनमुख होइ न हमीरहि छाजा ॥
बरिसहिं सेल बान घनघोरा । धीरज धीर न बाँधिहि तोरा ॥
जहाँ दलपती दलि मरहिं, तहाँ तोर का काज ?
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख साज ॥

ऐसे ही वात्सल्य भरे शब्दों में रत्नसेन की माता रत्नसेन को समझाती है जब वह योगी होने के लिये उद्यत होता है । वहाँ 'सुख के अनिश्चय द्वारा' वात्सल्य व्यक्त हुआ है ।

राजा रत्नसेन के जोगी होने पर महात्मा जायसी ने 'शोक' नामक विराट भाव की अभिव्यञ्जना की है। रत्नसेन उधर घर से जोगी होने के लिये निकलता है और इधर उसके घर विचित्र काण्ड होता है । उसकी रानी विलाप कर रही है । घर में मातम छा रहा है, 'विषाद' ने बसेरा ले लिया है । ज़रा रानी की दशा देखिये :

रोवहिं रानी, तजहिं पराना । नोचहिं बार, करहिं खरिहाना ॥
चूरहिं गिउ-अभरन, उर-हारा । अब कापर हम करब सिंगारा ॥
जा कहँ कहहिं रहसि कै पीऊ । सोइ चला, काकर यह जीऊ ॥
मरै चहहिं, पै मरै न पावहिं । उठै आगि, सब लोग बुझावहिं ॥

बहुत लोगों की दृष्टि में यह पूर्ण करुण-रस भी ठहरेगा । करुण-रस को सिद्ध करने वाले महानुभाव आसानी से उसके सारे मसाले विभाव (सेना), अनुभाव (बाल नोचना) तथा संचारी (विषाद) मौजूद कर देंगे । पर वस्तुतः यहाँ रानी द्वारा 'विषाद' की व्यञ्जना हुई है । यदि कारुणिक चित्र देखना ही अभिष्ट हो तो यह देखिये :

पद्मावति पुनि पहिरि पटोरी । चली साथ पिउ के होइ जोरी ॥
सूरज छपा, रैनि होइ गई । पूनो-ससि अमावस भई ॥

आप पूछ सकते हैं क्यों :

'चाँदहि कहाँ जोति औकरा ? सूरज के जोति चाँद निरमरा ॥'

तो हाँ फिर आगे चलिये :

छोरे केस, मोति-लर छूटीं । जानहुँ रैनि नखत सब टूटीं ॥
सेंदुर परा जो सीस उघारा । आगि लागि चह जग अँधियारा ॥

सारा विश्व इस करुण-रस में सराबोर है । जायसी के सभी भाव विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए दीखते हैं । जायसी की प्रेम-साधना व्यापक थी । उसके साथ सारी सृष्टि का घना सम्बन्ध था । इसी से जिस भाव का चित्रण जायसी करते हैं उसमें सारे विश्व को समेट लेते हैं । फिर अन्त में प्रियतम राजा रत्नसेन के साथ उनकी रानियाँ—नागमती एवं पद्मावती सतीत्व का गंभीर, शान्त तथा मर्म-भेदी उत्सव मनाती हैं :

लेइ सर ऊपर खाट बिछाई । पौढ़ीं दुवौ कंत गर लाई ॥
लागीं कंठ आगि देइ होरी । छार भईं जरि, अंग न मोरी ॥

उत्साह की भाव-व्यञ्जना पद्मावत में हमें गोरा और बादल के प्रसंग में मिलती है । पद्मावती अपने पति के लिये अधीर हो कर जब विलाप करने लगती है तो उन दोनों वीरों से उसका रूदन सुना नहीं जाता । वे आश्वासन भरे वचन में प्रतिज्ञा करते हैं :

जौ लगि जिउ, नहिं भागहिं दोऊ । स्वामि जियत कित जोगिनि होऊ ॥
उए अगस्त हस्ति जब गाजा । नीर घटे घर आइहि राजा ॥

बरषा गये, अगस्त जौ दीठिहि । परिहि पलानि तुरंगम पीठिहि ॥
बेधौं राहु, छोड़ावहुँ, सूरू । रहै न दुख कर मूल अंकूरू ॥

उत्साहपूर्ण वाक्य का तो उक्त यही दृष्टान्त काफ़ी है। अब सेना, सजावट, चढ़ाई की हलचल तथा घमासान युद्ध का वर्णन देखिये। शायद जायसी के प्रेम-प्रधान काव्य में वीर-रस का वर्णन अस्वाभाविक-सा लगे। मगर जायसी वास्तविक कवि थे। उनकी दृष्टि चारों तरफ़ फैली हुई थी तिस पर प्रबन्धकार के नाते उनकी कविता का क्षेत्र मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से जुड़ा हुआ था। इससे उनकी कविता में हर भाव का स्वभावतः प्रस्फुटित होना समुचित ही है। यों तो पद्मावत का सम्पूर्ण "बादशाह चढ़ाई खण्ड" वीर-रस से सराबोर है किन्तु यहाँ संक्षेप में थोड़े उदाहरण ले रहा हूँ :

चलत हस्ति जग काँपा, चाँपा सेस पतार ।
कमठ जो धरती लेइ रहा, बैठि गएउ गजभार ॥

खुरासान औ चला हरेऊ । गौर बँगाला रहा न केऊ ॥
रहा न रूम-शाम-सुलतानू । कासमीर, ठट्टा मुलतानू ॥
जावत बड़ बड़ तुरुक कै जाती । माँडौवाले औ गुजराती ॥
पटना, उड़िसा के सब चले । लेइ गज हस्ति जहाँ लगि भले ॥
लाखन मार बहादुर जंगी । जँबुर, कमानैं, तीर खदंगी ॥
जीभा खोलि राग सौं मढ़े । लेजिम घालि एराकिन्ह चढ़े ॥
चमकहिं पाखर सार-सँवारी । दरपन चाहि अधिक उजियारी ॥
बरन बरन औ पाँतिहि पाँती । चली सो सेना भाँतिहि भाँती ॥
डोले गढ़; गढ़पति सब काँपे । जीउ न पेट, हाथ हिय चाँपे ॥

काँपा बाँधव, नरवर राना। डर रोहतास बिजयगिरि माना॥
काँप उदयगिरि, देवगिरि डरा। तब सो छपाइ आपु कहँ धरा॥

यद्यपि रौद्र-रस का विस्तृत सञ्चार जैसा जायसी ने वीर-रस का किया है, नहीं मिलता। फिर भी 'क्रोध' का हल्का-सा भाव एक स्थान पर आ गया है। बात यह है कि राजा रत्नसेन को एकबारगी अलाउद्दीन की व्यङ्ग भरी चिट्ठी मिलती है। वह चिट्ठी खोलकर ज्यों ही पढ़ता है कि उसका चेहरा क्रोध से तमतमा उठता है। आवेग में स्वतः उसके मुँह से उग्र वचन निकलने लगते हैं। देखिए, वह क्या-क्या कह रहा है :

× × × । जानहुँ देव तापि घन गाजा॥
का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहौं तो सारदूल धरि खाई॥
तुरुक जाइ कहुँ मरै न धाई। होइहि इस कंदर की नाईं॥

'क्रोध' का स्वभावतगत लक्षण है कि उसमें आकर मनुष्य तरह-तरह की बातें सोचने लगता है। अलाउद्दीन भी उधर बादशाह था। इधर रत्नसेन भी अपने यहाँ का राजा था। मुसलमान बादशाह ने उसके पास उसकी रानी से दर्शन की इच्छा प्रकट की थी। इस पर हिन्दू राजा के हृदय में मानों आग लग गई। दोनों दूर थे। किसी से किसी की भेंट न थी। यदि भेंट रहती तो इसका बदला हिन्दू राजा रत्नसेन ने चुका दिया होता। अब दूर से उसका क्रोध-मात्र इतना ही कर सकता था कि उसके विषय में कुछ भले-बुरे शब्द प्रकट कर दे। रत्नसेन प्रथम अपना मिलान अलाउद्दीन से करता है। मिलान में अलाउद्दीन का स्थान उससे बड़ा ही ठहरता है। लेकिन चट उसे

स्मरण आता है कि चाहे कोई लाख बड़ा हो पर वह दूसरे की स्त्री को क्यों माँग सकता है ? यदि माँगेगा तो दूसरे इसे भले माफ़ कर दें पर हिन्दू-हृदय तो इसे सहन नहीं कर सकता। इसी सोच-विचार में उसे अपना गौरव और अपना पौरुष याद आता है और उसे आशा होती है कि सुलतान से कोई उसकी नहीं ख़राबी हो सकती। इन सबका समन्वय यह है :

भले हिजौ साह भूमिपति भारी। माँगन कोउ पुरुष कै नारी॥
और—दौ रनथंम उर नाथ हमीरू। कलपि नाथ जेइ दीन्ह सरीरू॥
हौं तो रतनसेन सकबंधी। राहु बेधि जीता सैरंधी॥
जौ अस लिखा भएउँ नहि ओछा। जियत सिंघ कै गहको मोछा॥

अलङ्कार-विधान—पद्मावत का 'नख-शिख-खंड' जायसी के अलङ्कार-विधान देखने के लिए यथेष्ट है। 'नख-शिख-खंड' की प्रत्येक चौपाई अलंकार की संश्लिष्ट योजना से परिपूर्ण है। भावुक चाहे जो भी कवि होगा उसके हाथ से सादृश्य-मूलक अलंकार अच्छे उतरेंगे। जायसी भावुक कवि थे। उन्होंने भाव की लपेट में अच्छे-अच्छे अलंकारों की उद्भावना की है। अलंकारों की ख़ूबी इसमें है कि वे किसी वस्तु के स्वरूप को झलका दें अथवा किसी भाव की अच्छी व्यञ्जना कर दें। जायसी के अलंकार इसी के लिये अधिक प्रसिद्ध रहेंगे। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की भरमार जायसी द्वारा हुई है। पद्मिनी का रूप जो उन्हें दिखाना था उसके लिये ऐसे अलंकारों के उन्हें अधिक अवसर मिल गये। विरह-वर्णन में भी हितूत्प्रेक्षा

के काफ़ी नमूने आ गये हैं। पहले एक रोचक 'हेतूत्प्रेक्षा' का नमूना लीजिये :

अस पर जरा बिरह कर गठा। मेघ साम भये धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरनि महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाउँ। दहकि पलास जरै तेहि दाउँ॥

यदि इस विरह-वर्णन से उत्पन्न हेतूत्प्रेक्षा की परिमाणगत अधिकता कुछ खटके या किसी अन्यालंकार का बोध हो तो प्रेमी पाठकों को ठंढे दिल से सोच लेना चाहिए कि जायसी का प्रेम केवल लोक में ही सीमाबद्ध नहीं था। उसका उभार विस्तृत एवं वृहद् था। उसका अवलम्बन भी अनन्त विश्व की ओर संकेत करने वाला है। वैसे पाठकों की रुचि के अनुसार भी दो-चार 'हेतूत्प्रेक्षा' के नमूने दे दिए जाते हैं क्योंकि जायसी किसी सीमा के कवि नहीं हैं :

(क) जेहि पंखी के निपर होई, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाई जारि, तरिवर होहिं निपात॥

(ख) रोवँ रोवँ वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे॥
नैनहि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रह नारा॥
सूरज बूड़ि उठा होई ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥

(ग) दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि।

(घ) सहस किरिन जो सुरूज दियाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई॥

पर सबमें अतिशयोक्ति का भ्रम सबको होगा! वास्तव में जायसी के गूढ प्रेम को समझ लेने पर ये उत्प्रेक्षा ही सिद्ध होंगे।

चलिए अब 'नख-शिख-खंड' में जहाँ अलंकार के भंडार भरे हैं। स्वरूप पर आरोपित अलंकार 'वस्तूत्प्रेक्षा' का प्रचुर दर्शन वहाँ होता है। कुछ चित्रों को क्रमशः देखते चलिए। सर्वप्रथम कवि उस माँग की शोभा का बखान करता है जिसपर अभी सिंदूर नहीं चढ़ा है। विचित्र शोभा है :

बिनु सेंदूर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैनि महँ कीआ॥

काला केश ही अँधेरी रात है जिसमें उजाले रास्ते रूपी सिन्दूर के रिक्त स्थान की अभिव्यक्ति की गई है। अँधेरी रात में उजले रास्ते की चमक और सौन्दर्य अत्यन्त भव्य होती है जिसकी कल्पना जायसी ने अपनी काव्य-शक्ति से की है। उस माँग पर कवि का अधिकाधिक ध्यान रहा है। जब 'रास्ता' बनाने से उसकी इच्छा नहीं भरती तो उस पर वह कुछ और उत्प्रेक्षा बैठाता है। यथा :

कंचन-रेख कसौटी कसी। जनु घन मह दामिनि परगसी॥

उसी पद्मिनी का ललाट जब जायसी देखते हैं तो उन्हें उसकी शोभा कुछ और ही लगती है। पहले वे कहते हैं :

... ... । दुइज पाट जानहु ध्रुव दीठा॥
कनक-पाट जनु बैठा राजा। सबै सिंगार अत्र लेइ साजा॥

ललाट और केश देखने के बाद कंठ देखना भी आवश्यक हो जाता है। कारण कि शरीर में इसका स्थान भी कुछ कम नहीं है। पद्मिनी का कंठ अत्यन्त सुन्दर है। कवि उसे यों लिखता है :

बरनौ गीउ कंबु कै रीसी। कंचन तार-लागि जनु सीसी॥

वस्तूत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा के बाद भी अनेक उत्प्रेक्षा के विभेद

मिलते हैं। रूप वर्णन के अन्तर्गत ही 'क्रियोत्प्रेक्षा' की भी उद्भावना जायसी ने की है। पद्मावती जब चलती है तो उसकी क्षुद्रघंटिका से विचित्र आवाज़ निकलने लगती है। उस पर कवि कहता है :

मानहुँ बीन गहै कामिनी। गावहिं सबै राग रागिनी॥

जायसी ने यदि उस आवाज़ पर राग-रागिनियों की उत्प्रेक्षा बैठाई तो क्या अत्याचार किया? वे तो उसकी बोली से भी 'अमर भागवत पिंगल-गीता' निकालते हैं और प्रत्युत् उन्होंने कहा है कि उसके 'एक-एक बोल का अर्थ चौगुना' है जिन्हें 'अर्थ बूझि पंडित नहिं जीता।' ऐसी पद्मिनी के विषय में जो कुछ भी कहा जाय थोड़ा है। यह भीमसेन की पद्मिनी नहीं है वरन् जायसी की रत्नसेन की पद्मिनी है। इसकी तारीफ़ करने में जायसी ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। 'फलोत्प्रेक्ष' का एक नमूना-मात्र रक्खा जाता है :

पुहुप सुगन्ध करहिं एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा॥

जायसी के 'उत्प्रेक्षा' का प्रसंग लम्बा हुआ जा रहा है। अब केवल एक 'गम्योत्प्रेक्षा' का वृतान्त देकर उत्प्रेक्षा का प्रसंग हम समाप्त करते हैं। पद्मिनी के ग्रीव का प्रसंग है :

गये मयूर तमचूर जो हारे। उहै पुकारहिं साँझ सकारे॥

उक्त पद में 'मानो' लुप्त है।

'व्यतिरेक' और 'प्रत्यनीक' के क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। ध्यान दीजिये—

(क) नासिक खरग देउं कहँ जोगू। खरग खीन, वह बदन-संजोगू॥

(ख) परिहँस पियर भये तेहि बासा। लिये डंक लोगन्ह कहँ डसा॥

महात्मा जायसी को 'रूपकातिशयोक्ति' बड़ी प्रिय थी। 'उपमा' आदि की चर्चा हटाकर कुछ इने-गिने सुन्दर अलंकारों को ही हम अब दिखाएँगे। 'रूपकातिशयोक्ति' के अनेक नमूने पद्मावत में मिलते हैं। पर विस्तार-भय से यहाँ कुछ का ही दिग्दर्शन कराया जाता है :

(१) को देखै पावै वह नागू। सो देखै जेहि के सिर भागू॥

(२) बेधे भौंरकंट केतकी। चाहहिं बेध कीन्ह कंचुकी॥

(३) दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥

(४) खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस कोउ पाव कि नाहीं॥

(५) जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। असवै भँवर चक्र कै जोरा॥

समुद हिलोर फिरहिं जनु झूले। खंजन लरहिं, मिरग जनु भूले॥

जायसी की एक रूपकातिशयोक्ति तो बहुत दुर्बोध हो गई है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसकी काफ़ी अंश में चर्चा की है। वह अतिशयोक्ति इस प्रकार है :

जौ लगि कालिंदि, होहि बिरासी। पुनि सुरसरि होइ समुद परासी॥

पर खेद है कि शुक्ल जी को अप्रसिद्ध उपमानों से खीझ है। उनका कहना है कि काले केशों के लिये कालिन्दी तथा श्वेत केशों के लिये गंगा की उपमा प्रसिद्ध नहीं है। ठीक है, मैं भी इसे मानता हूँ। पर यहाँ विचार यह करना है कि कवि ने रूप, रंग तथा भाव में यहाँ रंग कर सादृश्य दिखाने के लिये ही गंगा तथा यमुना का आश्रय लिया है। जब काले तथा उजले केश हैं तो उनके रंग की उपमा में काली तथा उजली नदियाँ यमुना तथा गंगा का क्रमशः नाम ले लेना

असंगत नहीं होगा। गंगा और यमुना के रंग तो नये नहीं हैं। वे तो सदा से :

सिता सिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासोदिवमुत्पतन्ति ।
येवैतन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जना सोऽमृत्वं भनन्ते ॥

—श्रुति ।

श्रुति में 'सितासिते सरिते' पर ध्यान दीजिये। और इन पावन नदियों का जहाँ मिलन हुआ है वह पुण्य क्षेत्र प्रयाग के नाम से विख्यात है। तीर्थों का राजा प्रयाग एक स्वर से सिद्ध है। इस पुण्य क्षेत्र का महात्मा सरल साधु जायसी को अच्छी तरह से ज्ञात था। वहाँ पर मिलने वाली तीनों नदियों के प्रति भी जायसी की श्रद्धा थी। इससे अनेक बार उन्होंने उन नदियों को याद किया है :

(१) **जमुना माँह सुरसती देखी ।**
(२) **जमुना माँझ गंग कै सोनी ।**
(३) **कि कालिंदी बिरह सताई । चलि पयाग अरइल बिच आई ॥**
(४) **जनु पयाग अरइल बिच आई ।**

हाँ, तो अलंकार प्रकरण में अलंकार की ही चर्चा अच्छी लगेगी। अतएव, कुछ अन्याय अलंकारों की और झाँकी लीजिये—

देखत नैन परी परछाहीं । तेहि ते रात साम उपराहीं ॥

(तद्गुण)

गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओही के हने ॥

(निदर्शना)

हीरा जोति सो तेहि परिछाहीं । **(तृतीय निदर्शना)**

जीउ नाहि पै जियै गुसाईं। कर नाहीं पै करै सबाईं॥
स्रवन नाहि, पै सब किछु सुना। हिया नाहिं, पै सब किछु गुना॥

(प्रथम विभावना)

रतन चला भा घर अंधियारा। (परिकराङ्कुर)

भूलि चकोर दीठि मुख लावा। (भ्रम)

का भा जोग कथनि के कथे। निकसे घिउ न बिना दधि मथे॥

(दृष्टान्त)

पारस रूप चाँद देखराई। देखत सूरुज गा मुरझाई॥

(विनोक्ति)

चांद के हाथ दीन्ह जयमाला। चाँद आनि सूरज गिउ थाला॥
सूरज लीन्ह, चाँद पहिराई। हार नखत तराइन्ह ज्यों पाई॥

(सम्बन्धातिशयोक्ति)

मिलिहहिं बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहंत।
तपनि मृगसिरा जे सहहिं, ते अद्रा पलुहंत॥

(अर्थान्तरन्यास)

उपरोक्त अर्थान्तरन्यास में प्रियतम की भेंट होने की विशेष बात (Paticular Fact) है। उसका समर्थन सामान्य बात (General truth) मृगशिरा की गर्मी सहने पर आर्द्रा का पानी पड़ने द्वारा किया गया है। शायद इसका उल्लेख किया जा चुका है कि काले और उजले केशों का निर्माण करने के लिये जायसी रंग सादृश्य की कोई वस्तु लाने का दुस्साहस कर सकते हैं, करते हैं। गंगा और यमुना के रंग दिखा कर अब जायसी की उस पंक्ति को हम लेते हैं जिसमें गंगा

का रंग हंस का नाम देकर और यमुना का रंग भ्रमर का नाम देकर यौवन और बुढ़ापा के दृश्य समझाये गये हैं किन्तु इस प्रकार इसे आप 'रूपकातिशयोक्ति' कह सकते हैं; रूपकातिशयोक्ति'.हो लेने पर सुन्दर सांग रूपक (Sustained Metaphor) भी उतर जाता है। प्रसंग यह है कि देवपाल की भेजी दूती पद्मिनी को भुलावे में डाल रही है। वह कहती है कि जब तक जवानी है अपना सारा समय राग-रंग में काट ले नहीं तो फिर :

जोबन-जल दिन दिन जस घटा। भँवर छपान हंस परगटा॥

पद्मावत में इस दूती के कतिपय अलंकारमय वाक्य हैं और रहस्य-मय वाणियाँ हैं। ऐसी दूती को जो किसी भले घर की रानी को बहकाने जा रही हो, अवश्य सर्व-कलाग्र-गण्य होना ही चाहिये। जायसी ने उसके मुँह से बहुत से कलात्मक वाक्य कहला कर अपनी काव्य-पद्धति की पूरी रक्षा की है।

यहाँ तक तो हुए अर्थालङ्कार। शेष थोड़े शब्दालङ्कार पर भी ध्यान देना चाहिये। कहना नहीं होगा कि इसकी भी जायसी को अच्छी जान-कारी थी। काव्य-पद्धति के विस्तृत क्षेत्र में जायसी ने कुछ भी छोड़ा नहीं है। प्रथम अनुप्रास की बहार देखिए :

(अ) चीर चारु औ चंदन चोला। हरी हार नग लाग अमोला॥

(आ) कँवल कली कोमल रंग भीनी।

(इ) साजा राजा, बाजन बाजे।

(ई) अलिफ एक अल्ला बड़ सोई। दाल दीन दुनिया सब कोई॥

(ड) बड़ परताप आप तप साधे।

(ऊ) भएऊ चेत चित चेतन चेना।

श्लेष भी काफ़ी परिमाण में लीजिये :

(१) सोन रूप जासौं दुख खोलौं। गरुड़ भरोस तहाँ का बोलौं॥

(२) जहाँ लोन बिरवा कै जाती। कहि कै संदेस आन को पाती॥

(३) कै जो पार हरतार करीजै। गंधक देखि अबहि जीउ दीजै॥

(४) जो एहि घटी मिलावै मोही। सीस देउँ बलिहारी ओही॥

'यमक' की चर्चा जायसी ने बहुत कम की है पर जो कुछ एक-दो यमक उनकी रचना में मिल जाते हैं वे ही उन्हें समझने के लिये बहुत हैं। खिलते हुए यमकालङ्कार को पद्मिनी के कपोल की 'तिल' में देखिये—

तेहि कपोल बायें तिल परा। जेइ तिल देखि सो तिल तिल जरा॥

मनुष्य की मिट्टी पर सुन्दर उक्ति में यमक की व्यवस्था की गई है। यों तो माटी का कुछ भी मूल्य नहीं और फिर सब मूल्य भी है। यथा—

माटी मोल न किछु लहै, औ माटी सब मोल।

दिष्टि जो माटी सो करै, माटी होइ अमोल॥*

---

*माटी खुदी केरदीं पार।

माटी जोड़ा माटी घोड़ा, माटीदां असवार॥

माटी माटी नूं मारन लागी, माटी दे हथियार।

जिस माटी पर बहुती माटी, तिस माटी हंकार॥

माटी बाग बगीचा माटी, माटी दी गुलजार।

बुल्लेशाह बुझारत बूझी, लाह सिरो भो भार॥

इसी प्रकार भोजन का स्वाद कुछ नहीं ज्ञात होता। लिखा गया है—'रसनहि रस नहिं एकौ भावा।' 'भंग-यमक' खोजने से बहुत मिलेंगे, पर यह भी कोई अलंकार है? यदि किसी अलंकार की बिशेषता चली गई तो वह अलंकार कैसे हुआ?? अभंग यमक बनाने वालों हो ने 'भंग पदक्रमालंकार' बनाया है। अस्तु भंग यमक जायसी के निम्न हैं—

(१) रसना कहौं जो कह रस बाता।

(२) रूख माँगत रूख तारहु भयउ।

पात्र-चरित्र-चित्रण—Characterisation के आधार हैं पात्रों के कार्य तथा उनके स्वभाव। कार्य और स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए पात्रों की कतिपय श्रेणियाँ हो सकती हैं। यहाँ हमें पद्मावत के पात्रों का चरित्र-चित्रण करना है। अतः पद्मावत के जितने पात्र हैं उनके अनुसार पात्रों की यहाँ दो श्रेणियाँ हो सकती हैं। एक तो आदर्श-चित्रण, दूसरा सामान्य-चित्रण। आदर्श-चित्रण वह है जिसमें प्रेम का आदर्श पाया जाय, वीरता का आदर्श पाया जाय या तामसी विभूतियों का आदर्श पाया जाय। सामान्य-चित्रण वह है जिसमें कवि ने कथानक को आगे ले चलने में सहारा लिया हो या सामान्यतः कार्यों का प्रतिपादन उनके द्वारा कराया हो। पद्मावत में मुख्यतः तीन ही पात्र ऐसे हैं जो आदि से लेकर अन्त तक गये हैं। दो स्त्री हैं—नागमती तथा पद्मावती और एक पुरुष—राजा रत्नसेन। इनके सिवा बीच-बीच में रत्नसेन की माता, बादल की माता, राघव चेतन, गोरा, बादल, बादल की स्त्री, देवपाल की दूती और अलाउद्दीन के नाम

भी प्रसंगगत आते हैं। इन सब पात्रों में राजा रत्नसेन और पद्मावती तो बेजोड़ सात्विक आदर्श हैं। राजा रत्नसेन तो कथानक का प्रधान नायक ही है। कवि ने उसको अनन्य प्रेमी के रूप में आँका है। पद्मावत एक प्रेम-परक ग्रंथ है। उसमें प्रेम की ही व्याख्या की गई है। प्रेम के विशिष्ट ग्रंथ में कवि का प्रधान नायक रत्नसेन, प्रेम का अनन्य समर्थक ठहरता है। वस्तुतः कवि के लक्ष्य की पूर्ति उसी से होती है। उसमें प्रधानतः सभी गुणों की प्रतिष्ठापना इसीलिए कराई गई है। उसके कुछ कार्य अनुचित से भी लगते हैं। पर जब प्रेम का हम आश्रय ले लेते हैं तो उसका निवारण हो जाता है और रत्नसेन प्रेम का ज्वलन्त आदर्श उदाहरण ठहरता है।

उसकी रानी पद्मावती भी प्रेम-पथ में उससे किसी भाँति हीन नहीं है। जिस प्रकार राजा प्रेम का आदर्श पात्र है उसी प्रकार रानी भी। इन दोनों के प्रेम का स्वरूप अत्यन्त विशुद्ध है। विशुद्ध प्रेम होने के कारण ये दोनों आदर्श पात्र होते हुए सात्विक आदर्श कहे जाएँगे। सात्विकता जायसी की अपनी सम्पत्ति थी। इन दोनों के चरित्र में सात्विकता भर कर जायसी ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है।

अलाउद्दीन भी राजा रत्नसेन की ही तरह एक आदर्श पात्र है। जिस प्रकार राम का आदर्श उनके रामत्व के कारण था उसी प्रकार रावण का आदर्श उसके रावणत्व के कारण था। इस उभयपक्ष को काव्य में रख कर कवि लोग संसार की मर्यादित व्यवस्था को दर्शाते हैं। रत्नसेन का आदर्श सात्विकता को लिये हुए था और अलाउद्दीन का आदर्श उसके तामसीपन के कारण था। उसका प्रेम भी था पर उस प्रेम का

रूप लोभ का था। कवि ने इसी से उसका स्पष्टीकरण किया है —'भाया अलाउदीं सुलतानू।'

नागमती, गोरा, बादल तथा बादल की स्त्री राजस आदर्श हैं। नागमती तथा बादल की स्त्री एक अच्छी गृहस्थिनी के रूप में पाई जाती हैं। इन दोनों ही क्षत्राणियों का सतीत्व धन्य है। गार्हस्थ में रह कर इन दोनों ने गार्हस्थ्य की पूरी रक्षा की है। परम वीर गोरा और बादल स्वामिभक्ति तथा वीरता के राजस आदर्श कहलाएँगे। इसी प्रकार राघव चेतन तथा देवपाल की दूती की भी दशा है। वे जिस प्रकार राजस भक्त हैं उसी प्रकार ये तामस सामान्य प्रवृत्ति के पात्र हैं। उनकी तामसिकता अलाउद्दीन जैसी न थी पर उससे निम्नकोटि की अवश्य थी।

सामान्य चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत रत्नसेन की माता और बादल की माता आती हैं। मातृत्व का भाव इन दोनों औरतों में जायसी ने अनूठे ढंग से दर्शाया है। रत्नसेन के जोगी होने के समय माता का हृदय वात्सल्य प्रेम से भर जाता है। वह पुत्र से निवेदन करती है :

बिनवै रतनसेन कै माया। माथे छात, पाट निति पाया॥
बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी। राज छाँड़ि जिनि होहु भिखारी॥
निति चंदन लागै जेहि देहा। सो तन देख भरत अब खेहा॥

ऐसे ही बादल की माता के हृदय में भी अपने पुत्र के प्रति अमूल्य स्नेह भरा रहता था। लड़ाई में जाने पर जब बादल एक छोटा-सा लड़का (जिसे अभिमन्यु कह सकते हैं) तैयार होता है तो उसकी माता उसके पैरों पड़ कर उसे रण-क्षेत्र में जाने से रोकती है :

बादल केरि जसोवै माया । आइ गहेसि बादल कर पाया ॥

अन्यान्य वर्णन एवं चित्रण—जायसी की पहुँच और उनकी जानकारी बहुत थी। यह बात उनके अन्यान्य वर्णन देखने से पता चलती है। सिंहलद्वीप का वर्णन, चित्तौरगढ़ का वर्णन, षट् ऋतु बर्णन, स्त्री-भेद-वर्णन तथा बारहमासा वर्णन इत्यादि तो बहुत उच्च कोटि के वर्णन हुए हैं। इनमें जायसी की विशेष प्रतिभा झलकती है। सिंहलद्वीप के वर्णन में जायसी ने प्राकृतिक सौंदर्य का भी विधान किया है। यथा :

फरे आँब अति सघन सोहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए ॥
कटहर डार पींड सन पाके। बड़हर, सो अनूप अति ताके ॥
खिरनी पाकि खाँड अस मीठी। जामुन पाकि भँवर अति डीठि ॥
नरियर फरे, फरी फरहरी। फुरै जानु इंद्रासन पुरी ॥
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ, पुहुप जस बासू ॥

और

नारँग नींबू सुरँग जँभीरा। औ बदाम बहु भेद अँजीरा ॥
गलगल तुरँज सदा फर फरे। नारँग अति राते रस भरे ॥
किसमिस सेव फरे नौ पाता। दारिउँ दाख देखि मन राता ॥
फरे तूत. कमरख औ न्योजी। रायकरौंदा बेर चिरौंजी ॥

इसी प्रकार इन पेड़ों पर भाँति-भाँति के पक्षी भी बोल रहे हैं। ख़ैर, उन्हें बोलने दीजिये। उन पक्षियों की भी ऐसी ही सुन्दर सूची बनाई गई है। जायसी के वर्णन में एक यही विशेषता है कि सर्वत्र वर्णन सूची के अनुरूप होता जाता है। उसमें कोई आकर्षणकारी तथ्य नहीं होता। किलकिलादि समुद्रों का वर्णन भी इसी प्रकार सूचनात्मक हो

गया है। पद्मावत में हर जगह ऐसे सूचनात्मक वर्णन मिलते जाते हैं। उदाहरणार्थ भोजन की सामग्रियों का वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है :

लुचुई और सोहारी धरी। एक तौ ताती औ सुठि कोंवरी ॥
खँडरा बचका औ डुभकौरी। बरी एकोतर सौ, कोहँडौरी ॥
पुनि सँधाने आए बसाँधे। दूध दही के मुरंडा बाँधे ॥

षट्-ऋतु का वर्णन तो जायसी ने अधिक लम्बा किया है। बादशाह-भोज-खण्ड में जायसी ने उपरोक्त भोज्य सामान से बढ़ कर पकवानों की सूची बनाई है। तात्पर्य यह कि उनका प्रत्येक विषय का वर्णन भले अरुचिकर हो मगर लम्बा अवश्य है! अब चित्तौर-गढ़ के वर्णन को ही लीजिये—

पवँरी सात, सात खँड बाँके। सातौ खंड गाढ़ दुइ नाके ॥
सातौ पँवरी कनक-केवारा। सातौ पर बाजहिं घरियारा ॥
राजा कै सौरह सै दासी। तिन्ह महँ चुनि काढ़ीं चौरासी ॥

(क्रमशः)

स्त्री-भेद वर्णन में जायसी ने चार प्रकार की स्त्रियों की चर्चा की है। उनके नाम ये हैं—हस्तिनी, संखिनी, चित्रिणी तथा पद्मिनी। ज्योतिष का पेचीदा रूपक उन्होंने रत्नसेन की विदाई-खण्ड में बाँधा है। उसे देख कर जायसी को कोई अंधभक्त ज्योतिष का आचार्य अवश्य मान लेगा। पर सभी उनकी बातें ज्योतिष-शास्त्र के अनुकूल ही नहीं हैं। हाँ, बारहमासे का वर्णन जायसी ने अवश्य सुन्दर किया है। बारह-मासा का वर्णन कोरा वर्णन ही या सूची-मात्र नहीं है, वह है एक

वियोगिनी की हार्दिक पीड़ा। कंत की बिछुड़ी हुई पत्नी के नाना प्रकार का विलाप ही जायसी को दिखाना अभीष्ट था। किस-किस महीने में प्रोषित पतिकाओं को विशेष दुःख होता है—इसका जायसी ने यथाविधि लेखा लिखा है। जायसी के सभी वर्णनों में उनके बारहमासे का वर्णन अत्यन्त सुन्दर उतरा है। इसके बाद कुछ उनके गान हैं जो क्रमशः नीचे दिये जाते हैं। द्रव्य-गान :

दरब तें गरब करै जे चाहा। दरब तें धरती सरग बेसाहा॥
दरब तें हाथ आव कबिलासू। दरब तें अछरी छाँड़ न पासू॥
दरब तें निरगुन होइ गुनवंता। दरब तें कुबुज होइ रुपवंता॥
दरब रहै भुइँ, दिपै लिलारा। अस मन दरब देइ को पारा?

दान-महत्व :

दिया सो जप तप सब उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं॥
दिया करै आगे उजियारा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा॥
दिया मँदिर निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा॥

पानि-महात्म्य :

एहि सेंति बहुरि जूझ नहिं करिए। खड़ग देखि पानी होइ ढरिए॥
पानिहि काह खड़ग कै धारा। लौटि पानि होइ सोइ जो मारा॥
पानी सेंति आगि का करई? जाइ बुझाइ जौं पानी परई॥

वैचित्र्यपूर्ण उक्तियाँ—कुछ विलक्षणता तथा साथ ही सरसता से किसी तथ्य, वस्तु या भाव को व्यक्त कर जाने की शैली का नाम उक्ति वैचित्र्य अथवा सूक्ति है। जायसी की सूक्तियाँ बड़ी ही गूढ़ एवं रस-व्यापिनी हैं। प्रेम की लगन या उसकी वेदना यदि किसी के

हृदय में सच्ची है तो जायसी कहते हैं वह उसे अवश्य प्राप्त है। इसके एकत्व का प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने दो सुदूर रहने वाली वस्तुओं का मिलाप कराया है। एक में सूर्य और कमल तथा दूसरे में आम और मछली। दोनो का क्रमशः नीचे पद देखिये—

(क) **जल अंबुज, रबि रहै अकासा। जो इन्ह प्रीति जानु एक पासा॥**

(ख) **बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।**
जौं पिरीत पै दुवौ महँ, अंत होहिं एक पास॥

जायसी की उक्तियाँ विलक्षणता से अधिक सरसता की ओर झुकी हुई हैं। काव्याभास की दो उक्ति हम ऊपर दे चुके हैं। अब तथ्य-प्रकाश की विशेष बानगी लीजिये—

मुहमद बिरधि जो नइ चलै, काह चलै भुइँ टोइ।
जोबन-रतन हेरान है, मकु धरती महँ होइ॥*

सूर के दृष्टि कूपदों की समता करती हुई जायसी ने एक उक्ति इस प्रकार लिखी है—

धनि नौ सात, सात औ पाँचा। पूरुष दस ते रह किमि बाँचा॥

पद्मावती सरोवर में स्नान करने को गई है। उसके अपूर्व सौन्दर्य का प्रकाश समस्त सरोवर में आच्छादित हो रहा है। जायसी अनेक वस्तुओं पर उस प्रकाश का आरोप करते हुए नाना प्रकार की उक्ति कहते चलते हैं। यथा :

***बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।**
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस?

बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा । भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा ॥
पावा रूप, रूप जस चहा । ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा ॥
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर ॥

यह वस्तु वर्णन की उक्ति है । तात्पर्य यह कि जायसी की उक्तियाँ हर प्रकार की हैं । कहीं भाव की व्यंजना करने वाली हैं तो कहीं तथ्य का प्रकाशन करने वाली हैं । और वस्तु के वर्णन में तो हर जगह वे विद्यमान हैं ।

प्रबन्ध-पटुता— आरम्भ में ही कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जायसी की प्रबन्ध-पटुता गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' की प्रबन्ध-पटुता जैसी नहीं बन पड़ी है । पर 'मानस' के बाद हिन्दी-साहित्य में और दूसरा कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं जो जायसी के पद्मावत का मुक़ाबला कर सके । समासोक्ति तथा अन्योक्ति के सहारे कवि ने एक लौकिक प्रेम-गाथा का वर्णन किया है । पर वास्तव में जायसी का लक्ष्य पारलौकिक प्रेम का ही वर्णन करना रहा है । यही कारण है कि समस्त कथानक का भाव ही अन्ततः उसने अन्योक्ति द्वारा बदल डाला है ।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि पद्मावत शृङ्गार-रस प्रधान काव्य है । कथा का विसर्जन कवि ने अन्ततः शान्त-रस में कर दिया है । यद्यपि पद्मावत के ५८ खण्ड बहुत होते हैं पर उन खण्डों के लिये विभाजन से प्रबंध-पटुता की सरसता पर कोई आघात नहीं पहुँचता । इत्तिवृत्त का वेग प्रत्येक खण्ड पर उसी हौसले और उत्साह से बना रहता है ।

प्रबन्ध-काव्य की यह विशेषता है कि उसके खण्डित खण्ड एवं नीरस पद भी कथानक के प्रवाह में सरस जान पड़ते हैं। गोस्वामी जी के मानस में 'आगे चले बहुरि रघुराई' जैसी भी नीरस चौपाई प्रबन्ध की विशिष्टता से कुछ कम सरस नहीं जान पड़ती है। यदि प्रबन्ध-काव्य से उस चौपाई को निकाल दिया जाय तो हम समझते हैं कि उसमें काव्यत्व का कोई मूल्य नहीं ठहरेगा। पद्मावत में प्रबन्ध की ही धारा को याद रक्खा जाय तो उसकी क़ीमत बहुत है। और वह एक सफल प्रबन्ध है। इत्तिवृत की कौन कहे, जायसी के प्रबन्ध में एक-एक खण्ड के बीच के कितने प्रसंगों का ताँता टूट गया है। सिंहलद्वीप, नखशिख, बारहमासा, भोज, युद्ध तथा उसकी चढ़ाई के वर्णन इत्यादि इसी के अन्तर्गत आते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जायसी अनेक वस्तुओं से परिचित थे किन्तु प्रबन्ध सौष्ठव दिखाने वाले कवि के लिये अन्यान्य एवं अप्रासंगिक वस्तुओं का विस्तृत वर्णन देना प्रबन्ध को बिगाड़ना है। वह तो दाल में नमक सदृश चाहिए था।

पद्मावत की कथा—पद्मावत की समस्त कथा को दो भागों में हम विभक्त कर सकते हैं—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध कथा कवि की कल्पना है। उत्तरार्ध का आधार इतिहास है। इतिहास में भी भीमसिंह की रानी पद्मिनी कही जाती है और उसका जो वर्णन मिलता है उससे पद्मावत का उत्तरार्ध बिलकुल मिलता है। अन्तर इतना ही है कि जायसी ने नायक का नाम रत्नसेन लिखा है जिसे इतिहास में भीमसिंह नाम मिलता है। भीमसिंह का नाम रत्नसेन जायसी ने 'आईने अकबरी' के आधार पर लिखा है। कुछ भी हो पर जायसी की कथा जो

पद्मावत में वर्णित है वह अत्यन्त रोचक एवं हृदयस्पर्शी है। थोड़े में उसकी तस्वीर यहाँ दिखाई जाती है।

राजा रत्नसेन चित्तौरगढ़ का राजा था। उसकी स्त्री का नाम नागमती था। पद्मिनी सिंहल द्वीप के राजा की लड़की थी। वह अत्यन्त सुन्दर थी। उसके पास एक चालाक सुग्गा था। सुग्गा से पद्मिनी ने अपनी सारी विरह-व्यथा कह सुनाई और निवेदन किया उसके योग्य वर को निर्वाचित करने का। सुग्गा पकड़ते, छुटते और बिकते चित्तौर में रत्नसेन के घर आया। रत्नसेन उसे बहुत योग्य वर जँचा। पद्मिनी के रूप का उससे वर्णन सुना कर रत्नसेन को लेकर वह सुग्गा सिंहल आया। वहाँ के राजा के साथ घोर युद्ध करने के पश्चात् पद्मिनी से उसका विवाह हुआ। कुछ काल बीत जाने पर राजा ने अपने देश को प्रस्थान किया। दहेज में उसे बहुत-सी क़ीमती चीज़ें मिलीं। लेकिन जहाज़ से आते समय समुद्र में उसके सभी जहाज़ टूट गए। फिर समुद्र ने उसकी रक्षा करके और बहुत-सा धन और अपनी लड़की देकर उसे भेजा। रत्नसेन ख़ुशी-ख़ुशी घर आया और जीवन-यापन करने लगा।

इसके बाद कथा का उत्तरार्ध शुरू होता है। अलाउद्दीन की जो कथा इतिहास में दी गई है वह यहाँ से ठीक मिलती है। इसमें राघव चेतन आदि की कहानियाँ कुछ बढ़ाई गई हैं। गोरा और बादल का युद्ध राजा के लिए बड़ा घमासान हुआ है जो शायद इतिहास में नहीं मिलता। देवपाल की लड़ाई भी अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। कथा इसी प्रकार पूर्ण की गई है।

भाषा और त्रुटियाँ—जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। इस पर जायसी का पूर्ण आधिपत्य था। जायसी अन्यान्य भाषाओं के भिज्ञ नहीं थे। लेकिन एक-मात्र उनकी 'अवधी' ही अगाध थी। विशुद्ध 'अवधी' का प्रयोग महात्मा जायसी ही कर सकते थे। उसमें दूसरी भाषाओं का मेल कराने की उन्हें आवश्यकता न थी। तुलसी की भी 'अवधी' प्रसिद्ध है। पर जो माधुर्य और मिठास जायसी की भाषा में हम पाते हैं वह मीठापन किसी में नहीं—तुलसी में भी नहीं। तुलसी का अधिकार अनेक भाषाओं पर था। वे कोई भाषा आसानी से लिख सकते थे। लेकिन किसी एक भाषा की विशुद्धता उनमें नहीं रह सकती थी। जायसी ने अपनी भाषा का सुन्दर भोला-भाला स्वरूप दर्शाया है। उन्होंने अवधी की कोमलता और भाव-प्रवणता का वह अनुपम स्वरूप दर्शाया है जिसकी मधुरता की बराबरी शायद ब्रजभाषा भी नहीं कर सकती। जायसी की भाषा एक ही ढंग की सही पर उसमें कवि का नैपुण्य पाया जाता है। उनकी भाषा अत्यन्त मीठी है। चाशनी लेने के लिए समस्त पद्मावत है, पाठक ले सकते हैं—कहीं और किसी भी पृष्ठ पर।

लेकिन जिस पर इतना प्रशंसात्मक-पत्र लिखा जा सकता है उस पर स्पष्ट रूप से दो-चार खटकने वाली बातें भी कही जा सकती हैं। जो प्यार करता है वह मार भी सकता है क्योंकि उस मार में भी प्यार ही है। इसको हम कहीं कह चुके हैं कि जायसी ने अनपेक्षित प्रसंगों का अधिकाधिक सन्निवेश किया है तथा अरुचि पैदा करने वाली वस्तुओं की सूची तैयार की है। पुनरुक्ति दोष पद्मावत में बहुत जगह हैं।

जायसी को पिंगल-शास्त्र का पूरा ज्ञान न था। अतः उनकी बहुत चौपाइयाँ, बहुत दोहे मात्रा में घटते-बढ़ते हैं। भाषा का निखार है पर उनकी अवस्था ठीक नहीं है। सर्वनाम, अव्यय तथा कारक की विभक्तियों का इतना अधिक लोभ कवि ने किया है कि तनिक असावधानी से अर्थ ही बदल जाता है। यह सब 'न्यून पदत्व' का प्रताप है। बहुत से शब्द अशुद्ध कर दिये गए हैं जो संस्कृत की अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। संस्कृत की अनभिज्ञता इतनी दूर पहुँची हुई थी कि जायसी ने 'रावण' का अर्थ ठीक नहीं पाया और चन्द्रमा को स्त्री समझ लिया। 'गतिभंग' भी पद्मावद में काफ़ी है तथा ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता तो ख़ूब है।

——:o:——

सूर

सूर का उपासना-क्षेत्र

उपासना के दो स्वरूप हमें मिलते हैं—सगुण या साकार तथा निर्गुण या निराकार। दोनों ही पथों के द्वारा शान्ति और सिद्धि हमें मिली है तथा दोनों पथों में अनेकानेक संत हुए हैं। पर इनमें भी एक सुलभ है, दूसरा दुर्लभ। महात्मा ही लोग सगुणोपासना को सरस तथा सरल बताते हैं। निर्गुणोपासना सबके लिए दुर्लभ कही गयी है। निर्गुण अथवा निराकार प्रभु गुण रहित और आकार रहित है। उसमें चित्त को स्थित करना ज़रा असम्भव-सा है। चित्त का अथवा समस्त शरीर का संचालक है नेत्र। अतः अपने नेत्र से निर्दिष्ट की हुई वस्तु पर विश्वास होता है। इधर विश्वास के ही अनुसार फल की प्राप्ति भी होती है। ऐसी दशा में जब तक विश्वास की उत्पत्ति नहीं कराई जायेगी तब तक फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है? विश्वासहीन वह प्रेम भी कैसा होगा, किससे होगा?

ज्ञान और भक्ति के समन्वय में जिस प्रकार तुलसीदास ने 'ज्ञान पंथ कृपान कै धारा' कहा है, ठीक उसी प्रकार निर्गुण और सगुण के समन्वय में निर्गुण मार्ग को कृपाण की धार कह देना बिलकुल अनुचित नहीं जँचता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान-मार्ग अथवा निर्गुण-मार्ग बुरा है। बुरा क्या सर्वश्रेष्ठ है। पर इसको प्राप्त करना

आसान नहीं है। इस मार्ग के यात्री को बड़ी बुद्धिमानी की अपेक्षा होती है, अन्यथा पैर में कण्टक गड़ जाने से आगे बढ़ना तो दूर रहा अपने बचने की भी सम्भावना नहीं रहती। लम्बे पेड़ खजूर पर जो चढ़ गया उसने प्रेम-रस अवश्य चखा और जो बीच रास्ते में ही अधीर होकर गिरा, वह बचा नहीं—'गिरै तो चकनाचूर।' अब जिन लोगों ने अपनी शक्ति को तौला और उसे इस मार्ग के उपयुक्त समझा, वे इसी मार्ग से होकर प्रभु के पास गये। जिन लोगों ने निर्गुण मार्ग की विघ्न-बाधाओं को सहना स्वीकार नहीं किया उन्होंने सहारा सहित सगुण-मार्ग को पकड़ लिया। इस सगुणोपासना की प्रधानता अन्यान्य देशों से अधिक भारत में रही है और उसमें भी हिन्दुओं की यह विशेष सम्पत्ति रही है। सगुणोपासना की पद्धति से हिन्दुओं ने अपना मन ख़ूब बहलाया है। इसके लिये वे दीवाने रहे हैं, इसके द्वारा उन्हें शान्ति भी काफ़ी मिली है और उनका जी भी खूब भरा है।

सगुणोपासना की अभिव्यक्ति भारत के संतों ने बड़े सरल ढंग से की है। उन्होंने भगवान् के अलौकिक विग्रह का रूप लावण्य ले कर उसकी झाँकी जनता के सामने इस प्रकार रक्खी है जिसे देखकर सहज ही सबका हृदय रम सकता है। सगुणोपासना की अभिव्यक्ति में यही विशेषता होनी चाहिये कि उसकी अभिव्यञ्जना सरल तरीक़े से हो। नहीं तो फिर सगुण और निर्गुण दोनों हर दृष्टि से एक ही हो जाएँगे। लावण्य के बाद दूसरी अभिव्यक्ति प्रभु की जो हुई है वह हैं उनकी अद्भुत लीलाएँ। लावण्य के साथ रुचिर लीलाओं का जब

साक्षात्कार भक्तों ने किया तो सबका मन स्वयमेव परमात्मा की ओर आकृष्ट हो गया। सबने जब प्रभु को मानव की गोद में 'शिशु चरित' करते हुए देखा, सखाओं के साथ खेलते हुए पाया, सखियों में विनोद करते हुए पकड़ा तो उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान हमारे जीवन के साथ-घुले मिले हुए हैं। हमारे घर में, हमारे साथ वन में, हमारे दुःख में, हमारे साथ सुख में कौन ऐसा स्थान है जहाँ प्रभु नहीं हैं ?

कहहुँ सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ?

विचार कीजिये कि जब ऐसा सरल सन्मार्ग विद्यमान है तब जान-बूझ कर कण्टक भरे रास्ते पर जाने से क्या फ़ायदा ? जहाँ नहीं का सवाल रहता है वहाँ बाध्य होकर जो कुछ वर्त्तमान रहता है उसी पर सन्तोष करना पड़ता है। जब काफ़ी मात्रा में चादर है, लम्बी-चौड़ी है तो पैर फैला कर आनन्द से सोइये। इस आनन्द रस में छक कर सोने वाले संतों ने जब ग़ौर से सगुण और निर्गुण मार्ग पर सोचा है तो स्वतः उन्होंने अपने को धन्य माना है। दुनिया की पुकार शान्ति की है, न कि अशान्ति और अवसाद की ? भक्ति और प्रेम की शरण में जाकर जब हृदय को बोध नहीं मिला, तथा मानव की भूख-प्यास नहीं मिटी तो उस प्रेम और भक्ति से क्या लाभ हुआ ? ठीक ही कहा है :

अविगत गति कछुक कहत न आवै।
ज्यों गूँगहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन लीलापद गावै॥

सखा-भाव की उपासना—महात्मा सूरदास की उपासना सखा-भाव की कही जाती है। सखा-भाव भक्ति-भाव का तीसरा सोपान माना जाता है। इसमें श्रद्धा और प्रेम दोनों की मात्रा समान रहा करती है। मानिए तो एक प्रकार से यह भक्ति की साम्यावस्था है। इसका भक्त बाहर से जितना ही दूरस्थ दीखता है अन्दर से उतना ही निकटस्थ। अजीब खींचा-तानी का यह भाव है। इसके भक्त की बोली बड़ी अटपटी होती है पर उसके कर्म बड़े दिव्य होते हैं। 'प्रेम लपटे अटपटे' कर्म का नाम आपने अवश्य सुना होगा; किन्तु उसका दृश्य नहीं देखा होगा। सखा-भाव का यह दिव्य दृश्य निम्न है :

बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि?
हिरदय ते जब जाहुगे, सबल बदौंगे तोहि॥

बाँह छुड़ा कर निकल-भागने से तो छुट्टी मिल नहीं सकती। असली पकड़ तो हृदय की लगी हुई है। और सच पूछिये तो वहीं पकड़ने की आवश्यकता भी है। मन का मनका करके मनका से श्रेष्ठ बताया गया है न? प्रेमी ने सखा श्याम को अपने हृदय में जकड़ रक्खा था! अतः हाथा-पाई करके निकल भागना उनकी व्यर्थ की एक शारीरिक कसरत-मात्र हुई। वस्तुतः प्रेमी से प्रिय का पिण्ड न छूटा। फिर तो प्रेमी भक्त सूरदास जी ने अपना एक भी संकल्प उठा नहीं रक्खा। एक दिन वे श्यामसुन्दर को 'बिरदु बिन' करने पर उद्यत हो गये। इसके लिए उनकी अपूर्व तैयारी थी :

आजु हौं एक एक करि टरिहौं ।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं ॥
हौं तो पतित सात पीढ़िनको पतिते ह्वै निस्तरिहौं ।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हैं बिरदु बिनु करिहौं ॥

'बिरद विनु' करने के लिए 'उघरि नचन' चाहना भक्त का कैसा अटपटा संकल्प है !! आप पूछेंगे सूरदास अपने श्याम के समक्ष इतना निर्लज्ज क्यों हो गये थे ? इसका कारण यह था कि सूरदास ने अपना सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से मित्र के रूप में जोड़ा था। सेवा-भाव का यदि कोई उपासक होता तो उसका परमात्मा के सामने ऐसी ढिठाई करने को नहीं साहस पड़ता। पर मित्र तो आपस में आसानी से सब कुछ, हृदय की गुप्त बातें खोल सकते हैं। मित्र जब सब प्रकार से खुल कर मित्र से नहीं मिलेगा तो वह मित्र कैसा ? मित्रता तो इसी के लक्ष्य से होती है कि दो हृदय एक हृदय बन जाएँ। एक मित्र का दुःख-सुख दूसरा मित्र सुने-समझे और दूसरे का दुःख-सुख पहला मित्र। मित्रों में किसी प्रकार की लज्जा या संकोच इसी से नहीं रह जाता है। वे निरावरण होकर परस्पर मिल जाते हैं, एक हो जाते हैं। वास्तव में सूरदास जी ने अपने उक्त पद में आत्मा और परमात्मा के उस मिलन की ओर संकेत किया है जिसे Lifting of the veil कहा जाता है। इसका स्पष्ट उदाहरण उन्होंने गोपियों के चीर-हरण के प्रसङ्ग में रक्खा है। वहाँ खुलकर जीवात्मा (गोपियाँ) और परमात्मा (कृष्ण) का मेल हुआ है।

जीवन में सच्चे साथी की आवश्यकता सभी को है। जिसे यह जीवन-सखा या प्राण-सखा प्राप्त हो जाता है उसे बड़ी भारी सम्पत्ति मिल जाती है। सच्चे मित्र से बहुत कुछ काम निकलता है। वह नाव की पतवार की तरह काम करता है। यह बात मैं आम मित्रों के लिये कह रहा हूँ और जिसे परम गुणवान मित्र मिल जाता है उसका तो हृदय ही गौरव से फूल जाता है। सूर को इसका अभिमान था कि उनके मित्र श्याम-सुन्दर थे। श्याम-सुन्दर का यह गुण था कि वे महान् पापी को भी अपनाया करते थे और उसका उद्धार कर दिया करते थे। इधर सूरदास अपने से बड़े अधम थे। 'जिसके घर में वैद्य वही रोग से मरे'—सूर से देखा न गया। उन्होंने जाकर चट अपनी फ़रियाद सुना ही डाली। पर उनका यह सुनना वस्तुतः फ़रियाद के रूप में न था, तुलसी के विनय की अर्ज़ियाँ न थीं; वह थी एक ढीठ मित्र की आज्ञा। मानो श्याम को अवश्य ही करनी पड़ेगी। नहीं करते हैं तो बाजी लग गई :

मोहि प्रभु तुम सो होड़ परी।
ना जानो करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी॥

नीचे के पद में भक्त का अविश्वास जो भगवान के प्रति है उससे किसी के मन में शंका हो सकती है। यह शंका ठीक है। पर सूर के श्याम 'नागर नवल' हैं जिन पर बिलकुल विश्वास कर लेना सखा सूर के लिए सम्भव नहीं है। नवयुवक नागरिक ज़रा कम विश्वसनीय होते हैं न? यहाँ जरा मज़ाक भी है जिसे करने को सूरदास को अधिकार प्राप्त है। ऐसा उच्च-कोटि का मज़ाक बहुधा नागरिकों ने किया है। जैसा कि कहा गया है सूर के श्याम सखा थे। श्याम के

उपासकों में यह विशेषता होती है कि वे उन्हें किसी भी रूप में भज सकते हैं। श्रीकृष्ण का हर एक द्वार भक्तों के लिये खुला रहता है। श्रीराम का केवल एक सेवा-भाव का दरवाज़ा खुला रहता है जिससे कतिपय भक्तों की तृप्ति नहीं होती। जिन्हें प्रेम के अत्यन्त निकट सम्बन्ध जोड़ने होते हैं उन्हें राम के पास शरण नहीं मिलती। वे सीधे कृष्ण की शरण में चले आते हैं। कृष्ण में भक्ति का स्थान 'सख्य से' प्रारम्भ होता है और चला जाता है अन्तिम छोर, माधुर्य तक; राम में शान्त से शुरू होकर भक्त सेवा-भाव तक अधिक से अधिक जाता है। राम का भक्त अधिक से अधिक सेवक है और कृष्ण का भक्त कम से कम सखा है। राम का भक्त उनसे दूर रहता है और उसकी भक्ति श्रद्धा प्रधान होती है। और कृष्ण का भक्त उनके अत्यन्त समीप रहता है और उसकी भक्ति प्रेम-प्रधान होती है। महात्मा सूरदास जी श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेमी भक्त थे। उनका हृदय श्याम के लिये प्रेम से ओत-प्रोत था। रात और दिन वे उसी सखा के लिये विकल रहा करते थे। जब श्रीकृष्ण ब्रज से चले गये हैं तो ब्रजवासियों ने उनके लिये अपनी बड़ी विकलता प्रकट की है। उसी विकलता में महात्मा सूरदास जी ने अपनी विकलता को जोड़ कर अपनी भावना की पुष्टि की है। सखा भाव की पुष्टि की वह तस्वीर आँखों से ओझल नहीं होती। अपने हृदय की वेदना को भक्त ने किन सरस शब्दों में रख दिया है जिसे बार-बार पढ़ने की रुचि होती है :

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस-रितु हम पर जबते स्याम सिधारे ॥

इसी विकलता में आजीवन सूरदास विकल रहे। इसमें यदा-कदा भगवान् का दिव्य रूप आँखों के सामने झलक जाता था जो भक्त के लिये सहारा था, भक्ति मार्ग में अग्रसर होने का। सिद्ध और अनन्य भक्तों को भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन मिला करते हैं इसमें शंका करने की कोई बात नहीं। तुलसी और सूर को अपने-अपने भगवान् के दर्शन मिले थे। इसका उन दोनों भक्तों ने संकेत भी अपनी-अपनी कविता में किया है। पर तुलसी ने राम को अदब क़ायदे से देखा था और सूरदास ने अपने साथी को लीला-विहार करते हुए पाया था। राम की जो कुछ मर्यादा थी वह कृष्ण के पास लीला के रूप में परिणित थी। सूर कृष्ण की विविध लीलाओं को स्वतः लिखने लगे हों। अथवा कृष्ण से लड़ने-भिड़ने और बाज़ी लगाना स्वयं सीख गए हों, सो बात नहीं थी। उन्होंने कृष्ण को आदि से ही लीला में रत देखा था। अतः वे समझ गये थे कृष्ण को लीलाएँ ही अधिक प्रिय थीं। इधर अपने साथ भी जो बर्ताव उन्होंने कृष्ण का देखा वह अत्यन्त लीलापूर्ण ही था। वही न था कि जिस समय भगवान् कृष्ण सूर को कमज़ोर समझ कर बाँह छुड़ा कर भाग गये थे। भक्त और भगवान् के बीच की वह हाथा-पाई सूर को भूलती न थी। तभी से उन्होंने अपने को उनके योग्य मान लिया था। उस समय से जो कुछ उन्हें निवेदन करना होता था शान से करते थे। कभी लड़ने को तैयार हो जाते थे तो कभी होड़ ले बैठते थे। मज़ाक तो सूर कृष्ण से हर समय करते रहते थे। कृष्ण के प्रति उनके अनेक विनोद के वाक्य मिला करते हैं। कृष्ण ने आदि से ही लेकर सूर को इन्हीं विषयों का पाठ पढ़ाया था और सूर के उन्हीं

कार्यों से कृष्ण को आनन्द मिलता था। यह एक ध्रुव सत्य है कि अपने से श्रेष्ठ और अपने प्रियजनों को खुश करने वाला व्यक्ति नाना प्रकार से समय-समय पर श्रेय, प्रेय का अन्दाज़ करता रहता है। जब कुछ दिनों में उसे ज्ञात हो जाता है कि हमारे श्रेष्ठतम और प्रियतम अमुक वस्तु को अधिक पसन्द करते हैं या अमुक व्यवहार से उनका जी अधिक प्रसन्न होता है तो वह पुरुष उसके सामने उसी रूप में आता है। महात्मा सूरदास जी कृष्ण को प्रसन्न करने का दर्रा पा गये थे। वे उसी प्रकार उनको प्रसन्न किया करते थे। कृष्ण को भी सूर के मुँह से ऐसा सुनना भाता था :

माधव ! मोहि काहे की लाज ?

तारीफ़ यह कि उस लाज को रखने वाला व्यक्ति भी वहीं मौजूद है और वह इसे प्रसन्न-चित्त सुन रहा है।

प्रेम की अनन्यता—महात्मा सूरदास जी श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेमी थे। प्रेम की अनन्यता उनमें चरम सीमा को पहुँची हुई थी। इसको प्रत्यक्ष करने के लिए कुछ लोग उनके ग्रंथारम्भ के सुप्रसिद्ध पद 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ' को लेते हैं और कहते हैं कि सूरदास जी कृष्ण के इतने अनन्य उपासक थे कि उन्होंने अपने ग्रंथ का आरम्भ भी गणेश वन्दना से न करके हरिवन्दना से किया है। ठीक है। पर भक्त की अनन्यता देखने की सुन्दर कसौटी ग्रंथारम्भ की वन्दना नहीं है, वह है भक्त-हृदय का स्थायी भाव। यदि प्रारम्भ में वाह्याडम्बर देखने वालों के लिए कोई एक पद लौकिक नियमों की उपेक्षा करके अनन्यता पर लिख दे और सर्वत्र अनन्यता पर उसका

ध्यान न जाय तो चक्कमे में पड़ने वाला व्यक्ति उसको कैसे समझ सकेगा ? वह तो यही न समझेगा कि भक्त परम अनन्य है। दूसरी ओर यदि ग्रंथारम्भ गणेशवन्दना से किया गया हो और सर्वत्र अनन्यत की झलक दिखाई गई हो, तो क्या ऐसा लोक-व्यस्थापक अनन्यता प्रेमी अनन्य प्रेमी नहीं कहा जायेगा ? अतः सूर की मदद अनन्य में ग्रंथारम्भ के विश्लेषण से नहीं मिल सकती। उनके अनन्य प्रेम की सूचना तो उनके सभी पदों से मिलती है। प्रेम की अनन्यता का मधुर संकेत सूर ने प्रत्येक पद में किया है। उदाहरणार्थ एक पद लीजिये :

अब कैसे दूजे हाथ बिकाऊँ ?
मन मधुकर कीने वा दिनतें, चरन-कमल निज ठाऊँ ॥
जो जानो औरे कोउ कर्ता, तऊ न मन पछिताऊँ।
जो जाको सोई सो जानै, अघतारन नर नाऊँ ॥
या परतीत होय या जुग की, परमित छुटत डराऊँ।
सूरदास प्रभु सिंध-सरन तजि, नदी-सरन कत जाऊँ ?

'अब कैसे दूजे हाथ बिकाऊँ ?' अनन्य प्रेम को कितना अटल ध्येय है ! दूसरे के हाथ बिकने में प्रिय और प्रेमी दोनों के शर्म की बात है। पहले ही से यदि होता ता जहाँ इच्छा होती सूर बिक गए होते। अब जब कृष्ण के हाथ वे बिक गये तो कौन-सा मुँह लेकर दूसरे के यहाँ जाएँ ? महारानी पार्वती ने अपने इसी अनन्य प्रेम को सप्त ऋषियों से समझा कर कहा था कि उन्होंने विष्णु को ही वरण करने का उद्योग किया होता यदि ऋषि लोग पहले मिले होते। उस समय तक तो उन्होंने अपना सिद्धान्त बना लिया था कि–'बरौं सम्भु न तो रहौं कुँवारी।' प्रेमियों की, अनन्य प्रेमियों की, यही

अनन्यता है कि 'जिसके आशिक़ हो गये वे उसके आशिक़ हो गये।' आशिक़ होने के बाद उनके निकट यह प्रश्न नहीं रह जाता कि अमुक 'अवगुन भवन' है और अमुक गुनधाम हैं। उन्हें सिर्फ़ यही दीखता है कि उनके जो हैं वे परम गुणवान हैं, परम सुन्दर हैं। उनमें यदि असुन्दरता या अवगुण भी है तो उन्हें प्रेमीजन देखा नहीं करते, देखकर भी ध्यान में नहीं लाते, ध्यान में लाते भी हैं तो सौन्दर्य और गुण के रूप में। प्रेमियों की आँख प्रिय के लिए पैनी होती है तथा प्रिय के अवगुण और असौन्दर्य की उपेक्षा करने के ही कारण प्रेम को अंधा कहा गया है। सूरदास जी ने कृष्ण की उपासना दृढ़ कर ली थी। उनके पास यदि कोई कह सुनाता कि कृष्ण जिन्हें उन्होंने लोककर्त्ता समझा है वास्तव में नहीं हैं तो इसका उन्हें तनिक भी पछतावा नहीं है। सूर कृष्ण को लोक-कर्त्ता समझकर प्रेम करने लगे हों—यह कदापि नहीं है। उन्हें कृष्ण की मूर्ति अच्छी लगती है, उनकी लीलाएँ पसन्द आती हैं, यही कारण है कि सूर कृष्ण को प्यार करते हैं। उपासना में भगवान की हैसियत को समझना नितान्त मूर्खता है। उनसे माँगना कुछ थोड़े है? भक्ति में माँग की गुंजाइश नहीं है। हाँ, जो कुछ प्रसन्न मन से परमात्मा भक्त को दे दें उसी में सन्तोष करना है। परमात्मा की इच्छाओं में सुख मानने वाला सन्तोषी भक्त भगवान को प्राणों से भी प्रिय होता है। सूरदास जी भगवान के द्वारा मिले हुए हर अवस्थाओं को हितकर मानते थे। वे कृष्ण से कहते थे :

जैसेहि राखौ तैसहिं रहौं।

जानत हौ सब सुख दुःख जनकौ, मुख करि कहा कहौं

कबहुँक भोजन देत कृपानिधि, कबहुँक भूख सहौं।
कबहुँक तुरङ्ग महागज बैठौं कबहुँक भार बहौं॥

प्रभु की इच्छाओं में ख़ुशी मानने वाले ही पूरे मर्द और सुसंत हैं। इसी सन्तोष की मस्ती में झूमने वाला परम संत नज़ीर था। वह कहता था :

गर यार की मर्ज़ी हुई सर जोड़ के बैठे।
घर बार छुड़ाया तो वहीं छोड़ के बैठे॥
मोड़ा उन्हें जिधर वहीं मुँह मोड़ के बैठे।
गुदड़ी जो सिलाई तो वही ओढ़ के बैठे॥
औ शाल उढ़ाई तो उसी शाल में ख़ुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में ख़ुश हैं॥
गर खाट बिछाने को मिली खाट में सोये।
दूकाँ में सुलाया तो वो जा हाट में सोये॥
रस्ते में कहा सो तो वो जा बाट में सोये।
गर टाट बिछाने को दिया टाट में सोये॥
औ खाल बिछा दी तो उसी खाल में ख़ुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में ख़ुश हैं॥

वैसे सूरदास की उपासना प्रेम की एकान्तिक साधना थी। लोक-व्यवहार से उस साधना का कोई सम्बन्ध न था। इसी से सूरदास की भक्ति अनन्यता में अधिक बढ़ गई थी। लोक में फँसा न रहने के कारण उनके प्रेम को विकासोन्मुख होने का समय मिला है। वे सभी वासनाओं और इच्छाओं से रहित अपनी और अपने कृष्ण की लीला मे

रत हैं। उस सतह पर किसी की अपेक्षा नहीं है। कृष्ण हैं और सूर हैं—इनके सिवा वहाँ कोई नहीं है। वहाँ न सूर को किसी का भय है न किसी प्रकार का सङ्कोच है। लज्जा और आवरण भी वहाँ नहीं है। सूर बिलकुल मस्त हैं, अपने सखा श्याम के संग दुनिया की कुछ भी परवाह उन्हें नहीं है। वहाँ नित्य प्रति सूर-श्याम के बीच हुआ करती हैं तरह-तरह की लीलायें। इससे भला कौन ऐसा साधक होगा जो घबड़ाए। साधना भार रूप जहाँ होती है वहाँ साधक कभी सिद्ध नहीं हो सकता। सूर की साधना प्रीति का विषय है। वह प्रीति असाधारण और अलौकिक है। प्रेम-साधक की पहली साधना प्रभु का साक्षात्कार करना है। आँखें दर्शन की 'भूखी' और 'प्यासी' हैं। आँखों की इन साधों की क्रमशः झाँकी लीजिये :

(क) अखियाँ हरि दर्शन की भूखी।

अब क्यों रहति स्याम रँग राती, ए बातैं सुनि रूखी॥

(ख) अखियाँ हरि-दरसन की प्यासी।

देख्यो चाहत कमल नैन को, निसि दिन रहत उदासी॥

काहू के मन की को जानत? लोगन के मन हाँसी।

सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिन, लैहौं करवत कासी॥

प्रेम साधकों की पीड़ा किसी ने न समझी। दुनिया ने उन्हें एक हास्य-रस का सामान समझा। मीरा ने 'मेरो दरद न जानै कोय' द्वारा दुनिया को कोसा था पर जब उसे याद पड़ा कि 'घायल की गति घायल जानै, तो स्वतः समाधान कर लेना पड़ा कि दुनिया का दोष ही क्या है? वह किस-किस की सुध लेती फिरेगी? जिसने दुनिया को

ठुकरा कर किसी 'और' की शरण ले ली उसे दुनिया समझने ही क्यों जाय, कहाँ जाय ? फिर भी परमात्मा के अनन्य से अनन्य प्रेमी को भी जब दुनिया याद पड़ जाती है तो उसकी चिंता शीघ्र धर दबाती है। सूरदास ने 'लाज' को तिलाञ्जलि दे दी थी। फिर 'लाज रखने' की प्रार्थना क्यों होने लगी :

अब की टेक हमारी। लाज रखो गिरधारी ॥
जैसी लाज रखी पारथ की, भारत जुद्ध मँझारी।
सारथि होके रथ को हाँक्यौ, चक्र सुदर्सन धारी।
भगत की टेक न टारी ॥ अब की० ॥१॥
जैसी लाज रखी द्रौपदि की, होन न दीन्हि उघारी ॥
खैंचत खैंचत दोउ भुज थाके, दुस्सासन पचि हारी ॥
चीर बढ़ायो मुरारी ॥ अब की० ॥२॥
सूरदास की लज्जा राखो, अब को है रखवारी।
राधे राधे श्रीवर प्यारी, श्री वृषभानु दुलारी ॥

इसका मतलब यह है कि मानव अन्तःप्रकृति कहीं से अपना समर्थन चाहती है। वह समर्थन कहाँ से मिले ? इसका उत्तर है, परमात्मा से मिले या संसार से मिले। जब भक्त भगवान की परिचर्या में है तो इसको दुनिया समझे। जब भक्त का उद्धार होगा और उसका जीवन विशिष्ट बनेगा तब दुनिया स्वतः समझ लेगी कि अमुक भक्त था। सूर को इसी की लज्जा थी जिसके लिये वे भगवान से विनय कर रहे हैं। पर इस प्रकार के झटकों से उनकी अनन्यता में कमी नहीं आती या उनके प्रभु कुछ कम प्रेमी नहीं दिखाई पड़ते ? सूर को तो ऐसा कोई भिन्न ही

नहीं दीखता था—'हरि सो मीत न देखौं कोई।' और इसी कारण वे इस सम्बन्ध को बखानते थे। यदि जगत् के सारे सम्बन्धों में कोई सूर से पूछे कि कौन नाता उत्तम है तो वे डंके की चोट कहेंगे—'**सब सों ऊँची प्रेम सगाई।**' कृष्ण के प्रेम-सम्बन्ध की या मैत्री की सचमुच बलिहारी है :

> **ऐसी प्रीत की बलि जाऊँ।**
> **सिंहासन तजि चले मिलन को सुनत सुदामा नाउँ॥**
> **गुरु बाँधव अरु विप्र जानि कै चरनन हाथ पखारे।**
> **अंकमाल दै कुसल बूझि कै सिंहासन बैठारे।**
> **अरधंगी बूझत मोहन को कैसे हितू तुम्हारे?**
> **दुर्बल हीन छीन देखति हौं पाउँ कहाँ ते धारे?**

आज के बड़े आदमियों के पास यदि उनका 'दुर्बल हीन छीन' मित्र चला जाय तो वे इज़्ज़त बिगड़ने के भय से शायद उससे बातचीत भी नहीं करेंगे!

हृदय की विशालता—संतों का हृदय विशाल होता है। उसमें छोटी-छोटी बातों की संकीर्णता नहीं होती। उनका जो एक सिद्धान्त होता है उसी के पक्के होते हैं। उसके बाद अन्यान्य बातों को वे समान दृष्टि से देखा करते हैं। साधारण वस्तुओं के प्रति उनका सम-दर्शिता का भाव होता है। किसी के प्रति न उनका राग होता है न किसी के प्रति द्वेष। वे सबके हितचिन्तक होते हैं। उनका हृदय सरल और साफ़ होता है। उसमें किसी प्रकार का मल नहीं होता। वे स्पष्टवादी और न्यायी होते हैं। भलाई करना उनका कर्त्तव्य होता है

और जीवों की रक्षा करना उनका धर्म होता है। यह परिभाषा प्रायः सभी संतों की है। पर सूरदास जी उन उच्चकोटि के महात्माओं में से थे जिनके अन्दर बड़ी से बड़ी बातों को भी हृदय-संकीर्णता न थी। सूर कृष्ण के उपासक थे। कृष्ण पर उनका समस्त जीवन अर्पित था। उनके जितने कर्म थे श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ थे, उनकी वाणी का जो कुछ व्यय था वह श्रीकृष्ण के लिये था और उनकी सारी मानसिक भावनाएँ श्रीकृष्णमय थीं। इतना होते हुए भी राम के लिए उनके हृदय में स्थान था। केवल राम ही नहीं, सीता-लक्ष्मण समेत राम की दिव्य झाँकी उनके हृदय पटल पर अंकित थी। उन्होंने राम का समस्त चरित्र ही लिख डाला था। तुलसी की श्रीकृष्ण गीतावली और सूर की राम गीतावली भक्त-हृदय के यथेष्ट प्रमाण हैं। उन दोनों संतों के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा उनके अनुयाइयों का क्रमशः बहुत संदेह कटा है और आज तो ऐसी अवस्था आ गई है कि राम का भक्त कृष्ण के भक्त को राम का ही भक्त समझता है और कृष्ण का भक्त वैसे ही राम के भक्त को कृष्ण का ही भक्त समझता है। यहाँ कृष्ण के अनन्य भक्त सूर द्वारा अंकित राम का वह लुभावना दृश्य दिखाया जा रहा है जिस दृश्य का शायद गीता में तुलसीदास ने भी प्रत्यक्षीकरण नहीं किया है। राम, लक्ष्मण और सीता का वन-गमन हो रहा है और सूरदास उन पर लुभे हुए लिख रहे हैं :

पथिक मोहनियाँ डारे जात।

विहँसत मंद बिलोकत जेहि तनु प्रापान सहित बिकात॥

तजत निमेष विसेष नयन युग दरसत स्यामल गात।

अधरन स्रवत मधुर वचनामृत क्यों ये श्रवन अघात ॥
धरनी रहत सकुच उर पग-पग परसि चरन जलजात ।
इनहि रह्यो बन बास योग सखि बिधि ते कहा बपात ॥
मनसहुँ अगम कि मिलहिं बहुरि यह निमिष भेंट के नात ।
ए जड़ प्रान अपान विगत सँग अजहुँ न लागे जात ॥
करतल खोइ सहज चिंतामनि अँत रहहिं पछितात ।
बहुरि कहा करनी फल भोगते सूरज निज जलजात ॥

यह हुआ सूरदास के हृदय की विशालता का एक नमूना। इस प्रकार के अनेक नमूने उनके हृदय के विशाल-क्षेत्र में भरे पड़े हैं। संत हृदय ही बड़ा कोमल होता है। उस पर बड़ी बड़ी बातें स्वतः अंकित हो जाती हैं। ऐसा लगता है मानो संत-हृदय सतत जागरूक रहता है। उसे सिर्फ़ देखने या सुनने भर की देर रहती है, ग्रहण करते देर नहीं लगती। काल हमारे घर में प्रवेश कर नित्य प्रति असंख्य मनुष्यों को लिए जा रहा है। हम नित्य इसे देख रहे हैं, फिर भी हम बिलकुल असावधान हैं। हमें पता नहीं है कि हमें भी कभी मरना होगा। यह महान् आश्चर्य का विषय है। राजा युधिष्ठिर ने यक्ष के पूछने पर इस मृत्यु पर विचार किया था। उसके बाद सूर ने ही इसका व्यवस्थित रूप दिखाया :

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तनु-तरुवर के, सबै पात झरि जैहैं ॥
घर के कहिहैं वेगहिं काढ़ौ, भूत भये कोउ खैहैं।
जा प्रीतम सो प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहैं ॥

कहँ वह ताल कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहैं।

भाई बंधू कुटुंब कबीला, सुमिरि सुमिरि पछितैहैं॥

बिनु गोपाल कोऊ नहिं अपनो, जस अपजस रहि जैहैं॥

भक्त मृत्यु और भगवान को कभी विस्मरण नहीं करते। दोनों को वे दुनिया में सच मानते हैं। शेष समस्त चीजें अस्थिर हैं—ऐसा उनका विश्वास है। पर जिस मृत्यु से हम डरते हैं और घबड़ाते हैं उसका भक्त गण हार्दिक स्वागत करते हैं। मृत्यु भक्तों और प्रेमियों की पिया-मिलन की मंगल मयीशुभ घड़ी है। इसी की प्रतीक्षा में आजीवन वे व्रती रहते हैं। मृत्यु की भयङ्कर पीड़ा को भक्त सुख के साथ आलिङ्गन कर लेते हैं। जबकि सांसारिक वस्तुओं की कामना रखने वालों के सामने मृत्यु के समय में काञ्चन, कामिनी और कीर्ति का लुभावना दृश्य रहता है उस समय भक्तों के सामने भगवान की बाँकी अदा रहती है। जिस समय सूर के प्राण पखेरू उड़ रहे थे उस समय वे मस्त और बेसुध होकर, तल्लीन और तन्मय होकर गा रहे थे :

खंजन नैन रूप रस माते।

अतिसै चारु चपल अनियारे, पल-पिंजरा न समाते॥

चलि-चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते।

सूरदास अंजन-गुन अटके, न तरु अबहिं उड़ि जाते॥

बुढ़ापे का चित्र भी सूरदास जी ने बड़ा सुन्दर खींचा है। मतलब यह है कि जिसका सम्बन्ध भगवान से जुड़ जाता है और जो भक्त हो जाता है वह संसार से विमुख हो जाता है। सांसारिक पदार्थों में उसका रमना बन्द हो जाता है। उसके सामने ऐसे ही चित्र रहते हैं

जो प्रभु के पास पहुँचाने में सहायक होते हैं। पाप-कर्म से उसकी गति मुड़कर पुण्य-कर्म में लग जाती है। एक तो शरीर ही को वह पापमय मानता है क्योंकि यह त्रिगुणात्मक शरीर सदा झुका ही रहता है। वह चाहता है कि शीघ्र से शीघ्र यह मायिक शरीर छूट जाय या जब तक रहे तब तक पुण्यकर्म में रत रहे। पुण्य-कर्म में रत रखने की कोशिश सन्त ख़ूब रखते हैं। इसी की वह साधना करता है किन्तु तो भी उसका जी इस शरीर से विलग रहता है। सूरदास जी अपनी शारीरिक सभी दशाओं की व्याख्या करते हैं :

सबै दिन गये बिषय के हेत।
तीनौं पन ऐसे ही बीते, केस भये सिर सेत॥
आँखिन अंध स्रवन नहिं सुनियत थाके चरन समेत।

विशाल हृदय की विविध हृदय-स्पर्शी बातों को देखकर आप कहेंगे कि सन्त उसे प्राप्त कैसे करता है? इसका उत्तर है कि वह सन्तसमागम करता है। सन्तों के सत्संग से और गुरु के प्रताप से उसे बहुत कुछ मिलता है। गुरु का तो सन्त बड़ा ऋणी होता है। लेकिन सत्संग के द्वारा भी वह काफ़ी ज्ञानार्जन करता है। वह जीवन में अपना स्वभाव हंस का-सा बनाने की चेष्टा करता है, वह गुण को जहाँ पाता है चुन लेता है और अवगुण का त्याग कर देता है। भले आदमियों के सहवास में वह ख़ुशी से रहता है और उस सुसहवास की वह अत्यन्त अभ्यर्थना करता है किन्तु इससे विपरीत गोष्ठी की वह बड़ी निन्दा करता है। कुसंग और सुसंग की बड़ी मनोहर उद्भावना सूर ने की है। कुसंग को तो सूर ने इतना हेय और त्याज्य

माना है जितना सुसङ्ग को उच्च और ग्राह्य। कुसङ्ग से विमुख कराने का सूर का उपदेश यह हैं :

छाँड़ि मन हरि-विमुखन को संग।
जिनके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराये, बिष नहि तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हावाये गंग॥
खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग॥
पाहन पतित बाण नहिं बेधत, रीतो करत निषंग।
सूरदास खलकारो कमरी, चढ़त न दूजो रंग॥

खल और दुष्ट काले कम्बल की तरह हैं, जिन पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। महान् पुरुष यदि चाहें कि दुष्टों को सुधार दें और उनकी मूल दुनिया से नष्ट कर दें तो यह कभी हो नहीं सकता। दुष्ट सदा से हैं और सदा रहेंगे। उपदेश देकर थोड़ी देर को आप उन्हें कुछ शान्त कर दें फिर वे हाथी की तरह सिर पर घर उठा कर रख लेंगे! भलेमानसों का यह कर्त्तव्य है कि वह उनका संग ही न करें, उनसे कोसों दूर रहें। संग में रहना हो तो अच्छे पुरुषों के संग में रहें। सबसे सुन्दर तरीक़ा तो रहने का यह है कि सब प्रकार के संग को छोड़कर अपने संग में आप रहे। अपना केवल सुधार करे, अपने को बनावे। सोचिये कि यदि प्रत्येक आदमी अपने को सुधार ले और बना ले तो फिर उपदेश देने का काम ही न पड़े। यह काम हो कैसे? इसमें सन्तों की राय है कि प्रथम मन को जीतो। सुख का साधन तन

और धन नहीं है, केवल मन है। मन के द्वारा ब्रह्मानन्द मिल सकता है। इसे धीरे-धीरे वश में करना चाहिये।* इसका अभ्यास करना चाहिए कि कुवृत्ति से विरक्त रहें और सुवृत्ति से अनुरक्त रहें। गीता का बताया हुआ अभ्यास और वैराग्य ही मन को वशीभूत करने का सरल उपाय है। किसी ने कहा है 'Control the shifts of attention rathar than controlling it from shiftings.' सन्तों और अनुभवी पुरुषों की अनुभूति यही है :

> चेत रे नर चेत प्यारे, अब तो मन में चेत रे।
> मिटी न मन की आशा तेरी, बाल हो गये स्वेत रे॥

चारों तरफ़ से मन-सुधार की आवाज़ आ रही है—मन को जीतो, मन को जीतो। एक मात्र 'चंचल मन को करिये बस' का सारा काम ठीक है।

राम-नाम-भजन—महारानी पार्वती नित्य-प्रति विष्णु-सहस्र-नाम का जाप किया करती थीं। कार्यवश एक दिन जाप में त्रुटि हो गई। उन्होंने इसके प्रायश्चित का उपाय शंकर जी से पूछा। शंकर जी ने इसकी निवृत्ति का बड़ा सहल उपाय बताया। उन्होंने पार्वती के लिए महामन्त्र की रचना की :

> * तन धर सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया रे।
> धूत दुखी अवधूत दुखी है, रंक दुखी धन रोता रे॥
> कहै कबीर वोही नर सुखिया, जो यह मन को जीता रे॥

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्र नाम तत्तुल्यं राम नाम वरानने ॥*

तब से इसी मंत्र के द्वारा पार्वती अपना काम निकाल लिया करती और तभी से राम-नाम के महत्व का साक्षात्कार हुआ। भगवान के अनेकों नाम में राम-नाम सिरमौर हुआ। चाहे किसी भाव का भक्त हो और चाहे भगवान के किसी रूप का उपासक हो पर राम-नाम का भजन उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया। कोई कहे कि यह नाम दशरथ सुवन श्री रघुनाथ जी का ही है तो ग़लत है। यह नाम उनका भी है पर उन्हीं तक सीमित नहीं है। यह बड़ा व्यापक नाम है। अर्थ भी यह बड़ा व्यापक रखता है। यही कारण था कि विचारशील तुलसी ने ब्रह्म राम और कोशलेश राम से बड़ा उनके नाम राम-नाम को सिद्ध किया :

ब्रह्म राम तें नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि ॥

निर्गुण की कट्टर उपासना करने वाले सन्त कबीर को भी क्या आवश्यकता पड़ी थी कि राम-नाम के पचड़े में पड़ें। लेकिन उन्होंने भी राम नाम के महत्व को ख़ूब समझा और समझाया। उन्होंने बार बार-हमें कहा है :

*** परमेश्वर नामानि सन्त्यनेकानि पार्वति।**
परन्तु रामनामेवं सर्वेषांमुत्तमोत्तमम् ॥
नारायणादिनामानि कीर्तितानि बहून्यपि।
आत्मा तेषां च सर्वेषां राम नाम प्रकाशकः ॥

(क) राम नाम छाड़ि के पूजन लागे पथरा।

(ख) जो सुख है बंदे राम-भजन में सो सुख नहीं अमीरी में।

(ग) दुनियाँ झामर-झूमर अरुझी राम नाम नहीं सरुझी।

मीरा का हृदय यद्यपि प्रेम के अनियारे बाण से बिद्ध था तथापि राम-नाम के भजन में उसे भी शान्ति का बोध होता था। देखिये नाम-स्मरण का चसका वह किस प्रकार लगा रही है :

(क) मेरो मन रामहि राम रटै रे।

राम नाम जप लीजै मनुआँ कोटिक पाप कटै रे॥

(ख) राम-नाम-रस पीजै मनुआँ, राम-नाम-रस पीजै॥

तात्पर्य यह कि प्रायः सभी प्रकार के सन्तों ने अनमोल राम-नाम का भजन किया है। यह निर्विवाद सत्य है कि सूरदास जी कृष्ण के अनन्य भक्त थे किन्तु सन्त-परिपाटी का परिपालन करते हुए उन्होंने भी राम-नाम का भजन ख़ूब किया है। राम-नाम के भजन के सम्बन्ध में तो उनका विचार था कि बिना राम-नाम का भजन किए किसी का भक्त नाम नहीं पड़ सकता, और चाहे जो नाम पड़ जाय :

जो तू राम-नाम चित धरतौ।

अबको जन्म आगिलो तेरो, दोऊ जन्म सुधरतौ॥

जम को त्रास सबै मिट जातो, भक्त नाम तेरो परतौ।*

---

* **अखण्ड ईश-चिन्तन द्वारा यीशू ने भी सर्व-सुख की प्राप्ति बताई है**–"But seek ye first the kingdom of heaven and His righteousness and all other things shall be added unto you." **सर्व-सुख का मतलब है 'अबको जन्म' और 'आगिलो' अर्थात् लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख।**

भक्तों की श्रेणी में बैठने की जिसे बड़ी अभिलाषा हो वह राम-नाम का अखण्ड स्मरण करे। इसके समान सरल, मधुर और महत्व-प्रद वस्तु कहीं खोजे न मिलेगी। होशियारी इसी में है कि इस को शीघ्रातिशीघ्र जमा कर लिया जाए। राम-नाम का यह बहुमूल्य धन चारों ओर बिखरा पड़ा है। जो इस धन को जमा कर लेगा उसका भण्डार जीवन भर खाली नहीं हो सकता। सूरदास जी अपने चित्त को सावधान करके अब हमारे लिए कहते हैं :

जो पै राम-नाम धन धरतो।
टरतो नहीं जनम, जनमांतर, कहा राज जम करतो॥
लेतो करि ब्योहार, सबनि सो मूल गाँठ में परतो।
भजन प्रताप सवाई घृत मधु पावक परे न जरतो॥

राम-नाम-धन स्वयं तो बड़ा बहुमूल्य है; किन्तु इसके लेने में, इसको जमा करने में कुछ भी खर्च नहीं होता। 'सूरदास कछु खरच न लागत, राम-नाम मुख लेत।' पर सभी को यह धन मिल भी नहीं सकता। पड़ा है चारों तरफ़ पर कुछ पारखी विशेष हैं जिन्हें यह प्राप्त हो सकता है। वे पारखी जो यत्नपूर्वक इसको बटोर रहे हैं, बड़े होशियार हैं और साथ ही भले भी हैं:

सोई भलो जो रामहिं गावै।
वादविवाद यज्ञ व्रत साधे कतहूँ जाइ जन्म डहकावै।
होइ अटल जगदीस भजन में सेवा तासु चारि फल पावै॥
कहूँ ठौर नहिं चरन-कमल बिनु भृंगी ज्यों दसहूँ दिसि धावै।
सूरदास प्रभु संत समागम आनन्द अभय निसान बजावै॥

गुरु-भजन—सूरदास का जन्मकाल और उनके सम्बन्धी ज्ञातव्य, बातें जिनकी उनकी जीवन में आवश्यकता है, अंधकार के गर्त में छिपी हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेई ने उनका जन्म-काल सं० १५४० माना है और प्रो० वेणीप्रसाद ने सम्भवतः सं० १५४५ निर्णय किया है। प्रो० साहेब ने सूरदास को सीही गाँव (देहली के आसपास) का निवासी और सारस्वत ब्राह्मण रामदास का पुत्र गोकुलनाथ कृत वार्ता के आधार पर लिखा है। प्रस्तुत उन्होंने सूरदास को जन्मांध भी माना है और इधर वाजपेई जी ने सूरदास का पीछे से अंधा होना बताया है।* सूरदास की कतिपय बातों को लेकर विद्वानों में अभी मत-भेद है और चल रहा है। लेकिन उनके गुरु का नाम सभी वल्लभाचार्य ही घोषित करते हैं। सूर के गुरु वल्लभ एक स्वर से माने जाते हैं। वल्लभाचार्य पुष्टि-मार्ग के संस्थापक थे। उनका सं० काल १५३५ से लेकर १५८७ तक था। उनके पुत्र का नाम विट्ठलनाथ था। जब पिता का स्वर्गवास हो गया तो विट्ठलनाथ उनकी गद्दी पर बैठे। उन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप के कवियों या भक्तों में चार शिष्य वल्लभ के थे—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास और कृष्णदास तथा चार शिष्य स्वयं विट्ठल के थे—छीतस्वामी, गोविन्द-स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। अष्टछाप में विट्ठलनाथ ने प्रधानता सूरदास को दी। सूरदास आठों में कवि और भक्त दोनों रूपों में अग्रगण्य थे। अपनी अष्टछाप की इस प्रधानता की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है—

---

*सूरदास जनम को अंधो मोते कौन न कारो। —सूरदास

'थपि गुसांई करी मेरी अष्ट मध्ये छाप ।'

और अपने गुरू का नाम सूरदास ने इस प्रकार लिया है :

'श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ।'

कहा गया है कि भक्त-जन अपने गुरू के बड़े ऋणि होते हैं। जो गुरु उनको भक्ति-मार्ग में अग्रसर करते हैं उनको साक्षात् वे ईश्वर मानते हैं। साधुओं और भक्तों की परम्परा में गुरु-भजन का महत्व भी राम-भजन के ही समान अनिवार्य हो गया है। वे सब कुछ उसी लगन से करते हैं किन्तु गुरू के प्रति उनकी असीम श्रद्धा-भक्ति होती है। सबसे विशेष जो गुरू में उनका होता है वह है विश्वास। गुरू के वचनों में भक्त ख़ूब विश्वास रखते हैं। सूरदास की तो यह दिन-चर्या थी :

गुरु के बचन अटल करि मानहिं, साधु समागम कीजै ।
पढ़िये गुनिये भगति भागवत, और कहा कथि कीजै ॥

भक्त का दैन्य—उपासना के भीतर सबसे प्रसिद्ध वस्तु है भक्त का दैन्य। दैन्य के द्वारा भक्त भगवान् से अपनी दीनता-हीनता का निवेदन करता है। वहाँ, उस समय क्षण भर भी जब भक्त अपने व्यक्तित्व पर दृष्टि डालता है तो उसको अपने समान दुनिया में कोई क्रूर, कुटिल, कुविचारी, मूर्ख, पापात्मा, कामी नहीं दिखाई पड़ता। बात भी बहुत कुछ क्या, बिलकुल ठीक है। सूर को ही लीजिए। उनकी आँख फोड़ने का क्या कारण था, यह कौन नहीं जानता? अपनी करनी पर जब उनकी दृष्टि गई है तो स्पष्टवादी सूर ने खोल कर कहा है :

मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक हरामी ॥
भरि भरि उदर विषय को धायो, जैसे सूकर ग्रामी ।
हरिजन छाड़ि हरि बिमुखन की, निसि दिन करत गुलामी ॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें, सब पतितन में नामी ।
सूर पतित को ठौर कहाँ है, तुम बिनु श्रीपति स्वामी ॥

सखा-भाव की उपासना के नाते सूर की दीनता ज़रा खटक सकती है। जहाँ उन्होंने श्याम से होड़ लेना सीखा था वहाँ उनके मुँह से दैन्य का भाव ठीक नहीं लगता। दैन्य तुलसी के ही मुँह से शोभा देता है। वस्तुतः तुलसी का दैन्य भारी भी था। फिर भी भक्तों के भाव में क्रमशः पीछे के भावों का सन्निवास हुआ करता है। जो सखा-भाव का उपासक है उसकी उपासना में सेवा-भाव का भी समावेश रहता है। इसी प्रकार और भावों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। सूर जब शान्त-सेवा से सखा पर पहुँचने लगते हैं तो स्वतः शान्त और सेवा की भी पुकार हो जाया करती है। और यह मानी हुई बात है कि शान्त और सेवा में दैन्य का चरम स्फुरण हुआ है। सूर की दीनता के बहुत से वाक्य उनके पदों में हैं। यहाँ कुछ को हम लेते हैं :

(क) हरि हौं सब पतितन को राव ।
को करि सकै बराबरि मेरी, सो तो मोहि बताव ?

(ख) प्रभु हौं सब पतितन को राजा ।
पर निंदा मुख पूरि रह्यो, जग यह निसान नित बाजा ॥

(ग) हरि हौं सब पतितन को [illegible]।

[illegible] [illegible], और [illegible] [illegible] [illegible]॥

सूर के श्याम—तुलसी ने अपने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में लिया था। सूर ने अपने श्याम को लीला पुरुषोत्तम के रूप में ली है। सूर के श्याम विष्णु के अवतार हैं। उनके लिए भक्त ने बराबर हरि शब्द व्यवहृत किया है। रूप उनका वही है जो भागवत-कार का है। श्याम विष्णु भगवान हैं। देवकी और वासुदेव के घर उनका जन्म हुआ है। जन्म क्यों हुआ है? चूँकि भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें पहले पुत्र होने का वरदान दिया था। भक्त-वत्सलता उनकी विरद जो है। वे मानव के घर आते हैं मनुष्य के रूप में। पर जन्म के समय वे अपनी ईश्वरत्व-शक्ति की सूचना दे जाते हैं। सूरदास ने कृष्ण का जन्म होने पर उनकी विचित्र वेशभूषा दिखाई है। वह दिव्य और विचित्र झाँकी साश्चर्य देवकी अपने पति को दिखा रही है :

कमल नयन ससि बदन मनोहर, देखहु हो पति अति विचित्र गति।
स्याम सुभग तनु पीत बसन दुति, उर बाने सोहैं अद्भुत अति॥
नख मनि मुकुट प्रभा अति उद्दित, चितै चकित उनमान न आवति।
अति प्रकास निसि बिमल तिमिर छुटि, कर मलि मलि सो पतिहि जगावति॥
दरसन सुखी दुखी अति सोचति, षट सुत सांक सुरति उर आवति।
सूरदास प्रभु लेहु पराकृत, भुज के आकृत चिन्ह दुरावति॥

इस पद में विष्णु भगवान का यथावत् स्वरूप सूरदास ने खींचा है। कृष्ण बक़ायदे 'सपीत वस्त्रं' 'सहारवक्षः' तथा 'शिरसा चतुर्भुजम्' की स्थिति में खड़े हैं। इस रूप को देखकर देवकी पति सहित आश्चर्य-

चकित और भयभीत हो जाती है। थोड़ी ही देर में कृष्ण अपना स्वरूप कृष्णावत् बना लेते हैं तथा उसी रूप में तब से वे अपनी विविध लीलाएँ शुरू करते हैं। कृष्ण की सारी लीलाएँ विचित्र होती हैं। जबकि उन्हें अभी चलने का शहूर नहीं है तभी पूतना जैसी विकट राक्षसी का वध कर डालते हैं। वह बेचारी 'योजन एक परी मुरझाई।' इसके बाद आता है कृष्ण को मारने के लिए सिदर नाम का ब्राह्मण। है तो वह ब्राह्मण किन्तु कर्म उसके कसाई के हैं। कृष्ण ब्राह्मण का वध करना उचित नहीं समझते। केवल अंग-भंग करके उसे वापस कर देते हैं :

> **जबहीं ब्राह्मण हरि ढिग आयो। हाथ पकरि हरि ताहि गिरायो ॥**
> **गांस चार सौ जीभ मरोरी। रुधि ढरकायो आजन फोरी ॥**

इतना करके पालने में कृष्ण सो रहते हैं। सब लोग समझते हैं कि कृष्ण ने केवल दही खाया है, यह नहीं समझते कि किसी को दण्ड भी उन्होंने दिया है। कंस वास्तव में कृष्ण को मारने के लिये समय-समय पर एक न एक राक्षस को भेजा करता था। ज्यों-ज्यों कृष्ण सयाने होते जाते थे त्यों-त्यों विकट से विकट राक्षस उनके पास आते जाते थे और क्रमशः कृष्ण उन्हें मारते जाते थे। बचपन में ही उन्होंने कंस के भेजे अनेक राक्षसों को मार डाला। अनेक प्रकार की मनहरण लीलाएँ भी उन्होंने उसी समय कीं। ग्वालों और गोपियों के साथ उनकी विचित्र लीलाएँ हुई। ग्वालों के साथ धेनु चराया, गोदोहन किया, गोपियों के साथ रास और चीर-हरण किया। बीच-बीच में अवसर पाकर कृष्ण गोपियों को रास्ते में घेर कर भी अनेक विनोद किया करते थे। कभी उनके घर में घुस कर वे माखन की चोरी भी कर लिया करते थे।

इसके सिवा कृष्ण का महाभारत के युद्ध में गीता का उपदेश और रणक्षेत्र की कला-कुशलता और कालीय नाग आदि का नाथना भी दृष्टिगोचर हुआ। राधा के साथ दान-लीला और मान-लीला का दृश्य भी सूर ने कृष्ण में दिखाया। तात्पर्य यह कि सूर ने अपने श्याम को उसी प्रकार का सिद्ध किया है जिस प्रकार एक निपुण नागरिक को होना चाहिए। उनके श्याम ईश्वर थे और मनुष्य में होकर मनुष्य में रमे थे। यही सूर के श्याम की विशेषता है।

श्याम की सभी लीलाएँ जैसी कि सूर ने दिखाई हैं विचित्र हैं। मगर श्याम का चीर-हरण और रास बहुतों की समझ में नहीं आता। इन दोनों का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। भागवतकार और सूरदास दोनों ने इनके रहस्य पर काफ़ी प्रकाश डाला है। चीर-हरण का प्रसंग सूरसागर में वंशी वादन के पश्चात् आया है। उस समय तक गोपियाँ कृष्ण की रूप माधुरी, वंशी ध्वनि और प्रेममयी लीलाओं का साक्षात्कार कर चुकी थीं। उनके अन्दर रोम-रोम में कृष्ण प्रविष्ट हो चुके थे। कृष्ण-प्रेम की साधना में उन गोपियों का पग पड़ चुका था। अब वे कृष्ण को पूर्ण आत्म-समर्पण करने के लिए विकल थीं। पूर्ण आत्म-समर्पण करने में उन्हें कमी क्या थी? केवल उनका वस्त्र ही प्रेम में आवरण डाले हुए था। परमात्मा कृष्ण अपने भक्त-गोपियों से निरावरण होकर मिलना चाहते थे और उनको अपने में लीन कर लेना चाहते थे। इस कार्य के लिए यथेष्ट अवसर कृष्ण ने स्नान के समय को चुना। गोपियाँ जब अपना-अपना चीर रख कर नग्न स्नान करने लगीं, कृष्ण उनके चीर लेकर कदम्ब पर जा विराजे।

और वे जब उसी नग्न अवस्था में उनके पास गईं तो उनके चीर कृष्ण ने दिए। प्रेम-साधना की पूर्ण सिद्धि मिल गई। चीरहरण के द्वारा कृष्ण ने उन गोप-बालाओं की मानो कामना की पूर्ति कर दी। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि जिन गोपियों का चीर-हरण हुआ था वे गोपियाँ उस समय कुमारी थीं। कृष्ण की अवस्था भी आठ-नौ से अधिक उस समय नहीं होगी। अतः इस रहस्यमई लीला को किसी अन्य दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

रास के सम्बन्ध में निवेदन यह करना है कि इसकी गूढ़ता चीर-हरण से भी बढ कर है। इसका अर्थ जो हमारी विषयस्त बुद्धि सोचती है वह ग़लत है। रास का भाव दूसरे ढंग से खोला गया है। 'रास' शब्द का मूल 'रस' है और इधर रस के मूर्त्तिमान अवतार भगवान कृष्ण हैं। कहा गया है 'रसो वैसः'। अतः जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त एवं अनादि रस का समास्वादन करे; एक रस ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन तथा उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करें उसका नाम रास है। यह रास केवल वृन्दावन में ही हुई हो सो बात नहीं। गोलोक में यह रास साश्वत हुआ करती है। पर जब कृष्ण गोलोक से पृथ्वी तल पर आये थे तब वहाँ के पूर्ण उपादान और उपकरण यहाँ भी उनके साथ आये। उनके द्वारा दिव्य लीलाएँ हुईं और इस प्रकार अपना नित्य का मनोरंजन करते हुए और मेदिनी को भाग्यशाली बनाते हुए अन्त में भगवान अपने दिव्य धाम में पधार गये। उनकी अलौकिक लीलाएँ हमारे लिये आश्चर्य का

विस्मय बन गई। पर इसमें वस्तुतः आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है और न इसे अपनी तर्क-शक्ति पर चढ़ा कर तौलने की आवश्यकता है। भगवान कृष्ण को ईश्वर का अवतार समझ कर उनकी प्रेममयी, रहस्यमयी लीलाओं में विज्ञजन को गोता लगाना चाहिए। भगवान सर्व शक्तिमान हैं। उनका जो कुछ होता है, वह उन्हीं के द्वारा हो सकता है। दूसरे उसका आचरण नहीं कर सकते। जब आचरण कोई नहीं कर सकता तो उसकी समीक्षा करने का भी किसी को अधिकार नहीं है। 'समरथ के कछु दोष न गुसाईं।'

सूरदास जी ने कृष्ण की अलौकिक लीलाओं को जिस प्रकार आँका है उसी प्रकार उन्होंने उनके अद्भुत लावण्य को भी दिखाया है। लीला के मूल में ही सूर के श्याम का महान सौन्दर्य है। श्याम के अद्भुत सौन्दर्य से ही उनकी कतिपय लीलायें निकलती हैं अथवा लीला करने का उन्हें अवसर मिलता है। कृष्ण का सौन्दर्य दिखाने में सूरदास ने क़लम तोड़ दी है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने राम में सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना की है। मगर जिस सीमा पर सूर के श्याम का सौन्दर्य है उस पर तुलसी के राम का नहीं। यह ठीक है कि शक्ति और शील का या केवल शक्ति का प्रतिपादन सूर ने नहीं किया है। सौन्दर्य की पराकाष्ठा कृष्ण में उन्होंने दिखाई है। कृष्ण का परम सुन्दर रूप ही था कि उन पर गोपियाँ बिकी थीं, उनके साथ परम रूपवती राधा भी निछावर थीं। कृष्ण साधारण रूपवान नहीं थे, शोभा के समुद्र थे। जन्मते ही यह समुद्र उमड़ कर ब्रज की वीथियों में बहने लगा था।

नदी बढ़ती है तो उसमें केवल कूल-कछार परिप्लावित होते हैं और समुद्र के ज्वारभाटा का क्या हाल कहा जाय ?

सोभा सिंधु न अंत रहोरी ।

नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिन फिरति बहोरी ॥

महात्मा सूरदास जी के श्याम का रूप इतना सुन्दर था कि उसे किसी शोभा-सजावट की आवश्यकता न थी । वास्तविक सौन्दर्य की परिभाषा यही है कि उसमें किसी अन्य आधार-आश्रय की आवश्यकता नहीं रहती । वह स्वतः इतना सुन्दर होता है कि उसके आश्रय भी उससे सुन्दर हो उठते हैं । और वैसे तो प्रेम की दृष्टि से कोई भी रूप सुन्दर लगता है । पर प्रेम की दृष्टि सौन्दर्य की वास्तविकता को ठीक उसी प्रकार नहीं बता सकती है जिस प्रकार भूखा व्यक्ति भोजन के वास्तविक स्वाद को नहीं बता सकता । भूख लगने पर तो सभी भोजन स्वादिष्ट लगता है । तब 'वही पाक है जो बिना भूख भावै ।' रूप और उसका सौन्दर्य भी वही है जो प्रेमी की कौन कहे दुश्मन को भी आकर्षित कर ले । तुलसी के सुन्दर राम जब खरदूषण के सामने होते हैं तो उसके मरने का संकल्प बदल जाता है । वह कहता है—'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।' और तटस्थ होकर उस रूप-सागर में डूब जाता है । महात्मा सूरदास जी अपने श्याम के लिए निम्न आशय का सौन्दर्य दिखाते हैं :

सोभा मेरे स्यामहिं पै सोहै ।

बलि बलि जाऊँ छबिले मुख की, पटतर को को है ?

'शोभा' जिस वस्तु का नाम है वह सूर के श्याम ही पर शोभा पाती है । उससे श्याम के सौन्दर्य में वृद्धि नहीं होती वरन श्याम के ही

सौन्दर्य से उसकी वृद्धि होती है। ऐसे अनुपम सौन्दर्य का उपमान कहाँ मिल सकता है? अतः बलिहारी है इस रूप की :

'नंद सुवन की या छवि ऊपर सूरदास बलिहारी।'

इसी अनुपम लावण्य और अद्भुत लीला को लेकर सूर ने अपने श्याम का स्वरूप तैयार किया है। लावण्य और लीलाधाम कृष्ण की वे उपासना भी करते थे। कृष्ण का लावण्य देखने के लिये उनके बन्द नेत्र खुल जाते थ और उनकी दर्शनाभिलाषा शान्त हो जाती थी। कृष्ण की लीलाओं से उन्हें आनन्द मिलता था और वे उनसे मस्त होते थे। सूर को आकृष्ट करने वाली बस कृष्ण की दो विभूतियाँ थीं— सौन्दर्य और लीला। इन दोनों के महासागर सूर ने तैयार किये। सूरसागर लीला और लावण्य का महासागर है। कहीं भी कोई स्थल नहीं जहाँ सूरसागर में कृष्ण की अलौकिक लीला न हो अथवा उनका अनुपम सौन्दर्य न हो। सूर के कृष्ण लीला और लावण्य के मानो स्थूल स्वरूप लगते हैं, यद्यपि वे और बातों का भी ध्यान रखते हैं अथवा उनमें बहुधा महान् गुण हैं। पहली बात यह है कि श्याम बड़े भारी योगी हैं। वे एक निपुण नीतिज्ञ भी हैं और गीता का उपदेश देने के कारण एक बड़े भारी उपदेशक के रूप में भी कृष्ण आते हैं। मगर उनके सौन्दर्य के आगे उनके सभी गुण और उनकी सभी शक्तियाँ गौण लगती हैं। त्रिभुवन सुन्दर नन्द-नन्दन की छवि ही मोहक है। यद्यपि सूर ने अपने निम्नपद में कृष्ण के गुणादि को भी रक्खा है लेकिन उसमें अधिक झलक पड़ता है रूप ही :

सुन्दर मुख की हौं बलि बलि जाऊँ।

लखननिधि गुणनिधि सोभानिधि, निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ॥

अंग अंग अति अमित माधुरी, प्रकटित रस्मि रुचिर ठाऊँ-ठाऊँ।

तामें मृदु मुसुकानि मनोहर न्याय कहत कवि मोहन गाऊँ॥

नैन सैन दैदै जब टेरत ता छबि पर बिनु मोल बिकाऊँ।

सूरदास प्रभु मन-मोहन छबि यहि सोभा उपमा नहिं पाऊँ॥

ख्याति—सूरदास की उपासना प्रेम के उच्च स्वरूप को लेकर चली है। उसी के सूरदास निष्णात भक्त थे। संसार की व्यवस्था बाँधने का यद्यपि अवकाश उन्हें न था पर उससे उन्हें घृणा भी न थी। सूरदास जी प्रेम के स्वयं मूर्ति थे। अपनी उपासना में उन्होंने प्रेम की अजस्त्र धारा बहाई है। जयदेव और विद्यापति की वाक् धारा में सहयोग देकर उसे प्रखर गति से बहाने का सूर ने ही काम किया है। सूर की वाणी में प्रेम के गूढ़ तत्व को सहलतापूर्वक खोलने की शक्ति है। लगन और इश्क़ के मारे दीवानों को इससे काफ़ी सहायता मिल सकती है। सिद्धान्त के पक्के सांसारिक भी सूर की वाणी से काफ़ी लाभ उठा सकते हैं। हर विषय पर सूर की लेखनी उठे यह आवश्यक नहीं है। उनके एकाध ही उद्गार जब हमारे काम के हैं तो उन्हें लेकर हम सूर को जान सकते हैं और परख सकते हैं। सूर की परख का सवाल आने पर हमें बराबर याद रखना होगा कि सूर शूर हैं। वे हृदय के साफ़ हैं। वे लल्लो-चप्पो करने वाले नहीं हैं। उनके हृदय में कोई मैली बात नहीं टिक सकती। वे स्पष्टतापूर्वक हृदय के सभी भाव किसी के सामने रख देंगे। उनके पास किसी प्रकार का बखेड़ा नहीं है। एक

के सिवा 'हिय' में रखने का 'ठौर दूसरे के लिये नहीं है तथा उनका चित्त भी चञ्चल नहीं है। आज एक कल दूसरा—'ऊधो मन न भये दस-बीस'—ऐसा स्वभाव सूर का नहीं है।

सूर की भक्ति कृष्ण भक्ति है। कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति का जहाँ अलग-अलग विवेचन होगा वहाँ सूर कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में रक्खे जाएँगे। कृष्ण की उपासना करने का सूर ने यथेष्ट हृदय पाया था। जिस प्रकार तुलसी की उपासना राम के लिये उपयुक्त थी उसी प्रकार सूरदास की उपासना कृष्ण के लिये। तुलसी राम-भक्ति के क्षेत्र में जिस स्थान पर हैं ठीक उसी स्थान पर सूर कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में हैं। तुलसी से सूर की ख्याति तनिक भी हीन नहीं है। क्योंकि राम और कृष्ण इन दोनों स्वरूपों की बराबर प्रतिष्ठापना हो गई है। राम जिस प्रकार राम हैं कृष्ण उसी प्रकार कृष्ण हैं। उनके उपासक भी अपने क्षेत्र में विशिष्ट हैं। पर प्रेम को श्रद्धा से जब ऊपर स्थान मिलेगा तो सूर का उपासना-क्षेत्र तुलसी से अत्यन्त गूढ़ और व्यापक होगा।

सूर का महाकाव्य

महाकवि महात्मा सूरदास जी का सूर-सागर एक महाकाव्य है। उसमें छोटे-बड़े बारह स्कन्ध हैं। लोगों की धारणा है कि कुल मिला कर सूर-सागर के सवा लाख पद होंगे। पर पूरे पद आज तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। सूर-सागर का एक विशिष्ट संस्करण राधाकृष्ण द्वारा सम्पादित है, उसमें ४०१८ पद पाए जाते हैं। रत्नाकर जी ने अपने जीवन में इस ग्रन्थ का पूर्णोद्धार करने का संकल्प किया था। काम भी प्रारम्भ किया था किन्तु काल ने बाधा डाल दी। सुनते हैं विद्वान लोग इस अधूरे कार्य की पूर्ति कर रहे हैं। सचमुच सूर-सागर का वह संग्रह अपूर्व होगा। फिर भी सूरसागर के लगभग पाँच हज़ार पद उसके महत्व को समझने के लिए बहुत हैं। महाकवि का लिखा हुआ एक भी पद उसके महत्व का साक्षात्कार करने के लिए बहुत होता है। एक ही पद की बानगी से कवि की प्रतिभा विदित हो जाती है और यहाँ तो महात्मा जी की काव्य-कुशलता की समीक्षा करने के लिए अगाध महासागर भरा पड़ा है जिसमें हज़ारों तरंगें खेल रही हैं। एक कवि के गीतात्मक पाँच हज़ार पद क्या कम होते हैं!

सूर-सागर के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ भी सूरदास जी द्वारा रचित कहे जाते हैं—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी, पद संग्रह, नाग लीला,

दशम स्कन्ध टीका, ब्याहलो तथा नल-दमयन्ती। इसमें सूरसारावली तो महाकाव्य सूर-सागर का सार-मात्र या सूची-मात्र है। साहित्य-लहरी सूर-सागर की वे लहरें हैं जिनमें पड़ कर बड़े से बड़ा विद्वान भी डूबने-उतराने लगता है। तात्पर्य यह कि सूरसागर के क्लिष्ट और कूट पदों का संग्रह साहित्य-लहरी है। पद-संग्रह और नागलीला खण्ड-काव्य हैं जिनकी उत्पत्ति महाकाव्य सूरसागर से हुई है। दशम स्कन्ध टीका, ब्याहलो और नल-दमयन्ती अप्राप्य पुस्तकें हैं और ऐसी पुस्तकें हैं जिनके सम्बन्ध में अभी भ्रान्ति है कि वे सूरदास की रची हुई हैं या नहीं। मेरा तो विश्वास यह है कि सूरदास की लिखी उक्त तीनों पुस्तकें नहीं हैं और सूरसागर के अतिरिक्त और कोई भी पुस्तक उनकी लिखी नहीं है। सुतराम् सूरदास जी का एक-मात्र महाकाव्य सूरसागर ही है जिसके लगभग पाँच हज़ार पद लभ्य हैं।

अब प्रश्न यह है कि सूर-सागर का विषय क्या है। 'मानस' का आधार बाल्मीकि रामायण माना जाता है जो कवि द्वारा खोला नहीं गया है। कवि ने 'तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई' कह कर अपने कथानक को सन्देह-ग्रस्त रक्खा है। सूरदास जी स्पष्टवक्ता थे। उन्होंने सूरसागर का कथानक श्रीमद्भागवत से लिया था और स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था :

श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा कर गाइ॥

'पढ़िये गुनिए भगति भागवत' आदि के द्वारा सूरदास ने सैकड़ों बार नम्रतापूर्वक कहा है कि केवल भागवत् के अनुसार सूरसागर की रचना करते हैं। भागवत् श्रीकृष्ण-चरित्र का उत्कृष्ट काव्य है। एक तरह से वह श्रीकृष्ण-चरित्र का प्रबन्ध भी है। उसी का अनुवाद सूर ने पदों मे करके सूरसागर तैयार किया है; पर यह सूरसागर कोरा अनुवाद ही नहीं है। उसकी कविताएँ स्वतन्त्र प्रणाली पर की गई हैं। सूरदास की शैली बिलकुल स्वतन्त्र और मौलिक है। शैली मौलिकता सूरदास ने हिन्दी साहित्य में विलक्षण बनाई है। सूरसागर अपनी शैली का बेजोड़ ग्रंथ है। अनुवाद के विचार से उसके भी भागवत्-जैसे बारह स्कन्ध हैं किन्तु उन स्कन्धों की रक्षा पूर्ण रूप से नहीं हो पाई है। वास्तव में सूरदास जी का मुख्य उद्देश्य श्रीकृष्ण चरित्र को आँकना था। इस अर्थ से संक्षिप्त रूप में उन्होंने ग्यारह स्कन्धों की रचना कर दी है और शेष एक स्कन्ध, जो दशवाँ स्कन्ध है, उसका खूब विस्तार किया है। यही दशम स्कन्ध कृष्ण-चरित्र है जिसमें कवि की काव्य-कला का पूर्ण रूपेण विकास हुआ है। ग्यारह स्कन्धों को हम कवि की परम्परागत भूमिका और उपसंहार के रूप में रख सकते हैं। दशम स्कन्ध में काव्य का रूप प्रबन्ध जैसा हो गया है। प्रबन्ध-काव्य की पूरी रक्षा सूरदास ने दशम स्कन्ध में की है और वही कवि की अपनी काव्य-निधि है। उसमें क्रमशः कृष्ण जन्म, उनकी बाल्य और कैशोरलीला, मथुरागमन, कंस बध आदि-आदि बड़ी विशदतापूर्वक दर्शाया गया है। सूरदास को जो लोग प्रबन्धकार नहीं मानते उन्हें सूरसागर के दशम स्कन्ध का पाठ करना चाहिए। उसमें काव्य की सभी

कलाओं से कवि परिपूर्ण है और वहीं उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी विकसित है।

भाव-व्यञ्जना—सूरदास जी के काव्य की यह विशेषता है कि उसमें एक साथ ही कृष्ण जीवन का परिचय भी मिल जाता है और अत्यन्त मनोरम रूप में भाव-सृष्टि भी। सूरसागर में 'वात्सल्य' और 'शृङ्गार' का विशद और विस्तृत वर्णन मिलता है। उक्त दोनों रसों का सूरदास ने कोना-कोना छान डाला है। सूरदास को सारतः शृङ्गार और 'वात्सल्य' का ही कवि समझना चाहिए यद्यपि अन्य रसों का भी अच्छा वर्णन मिलता है। गोपियां के विलाप और क्रन्दन में करुण-रस का नमूना देखिए :

नाथ अनाथन की सुधि लीजै।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दीन मलीन दिनहि दिन छीजै॥
नैन सजल धारा बाढ़ी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी बिनती सुनहु हमारी बारकहूँ पतियाँ लिखि दीजै॥
चरन-कमल-दरसन तव नौका करुना सिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै॥

शान्तरस का वर्णन तो सूरदासजी ने तब तक किया जब तक कि उनके गुरु वल्लभाचार्य ने यह नहीं कहा–'सूर ह्वै के घिघियात काहे को है, कछू भगवत्-लीला वर्णन करि।' सूरसागर के प्रथम और द्वितीय स्कन्ध में शान्त-रस के सुन्दर से सुन्दर वर्णन हैं। देखने के लिए एक दृष्टान्त काफ़ी होगा :

जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये॥
दिए लेत नहिं चारिपदारथ चरन कमल चित लाये।
तीनि लोक तृण सम करि लेखत नंदनंदन उर आये॥
बंसी बट वृंदाबन जमुना तजि बैकुंठ को जाये?
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आवै॥

सूर-सागर में भयानक-रस का भी एक अच्छा वर्णन मिल जाता है। कृष्ण अपने सखाओं के साथ वन में गाय चराने को गए हैं। वहाँ सभी अपनी-अपनी गाय नित्य चराने को जाया करते थे। वहाँ नाना प्रकार की लीला और खेल हुआ करते हैं। यदि कभी कोई महान् विपत्ति आती है तो उसका निवारण भगवान कृष्ण चट अपनी अलौकिक शक्ति से कर डालते हैं। आज अचानक सभी को अग्नि का भीषण-काण्ड दृष्टिगोचर होता है। देखिए :

झहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायो॥
बरत बन बाँस, थहरात कुस काँस, जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि, चटकि लट लटकि द्रुम फटि न वायो॥
अति अगिनि झार भंभार, धुंधार करि, उचति अगार झंझार छायो।
बरत बन पात, झहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनि गिरायो॥*

* ऐसा ही भयानक रस गोवर्धन धारण के समय भी आया है जबकि इन्द्र ज़ोरों से वर्षा कर रहे हैं।

जैसा कि प्रसिद्ध है सूरदास की उपासना सखा-भाव की थी। सखा-भाव के द्वारा ही उन्होंने अपनी उपासना परमात्मा के प्रति दिखाई। इसी सख्य-भाव से आचार्यों ने प्रेयान्-रस की सिद्धि की है। प्रेयान्-रस सूर के अपने अन्तरतम के भाव का रस है। इसका वर्णन भक्त और भगवान् के सम्बन्ध का वर्णन है। 'सख्य' में प्रेयान् का जो प्रगाढ़ आनन्द-रस है वह सूरदास के निम्न पद में छलक रहा है :

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब ते स्याम सिधारे॥
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥
आँसू सलिल भए पग थाके, बहे जात सित तारे।
सूरदास अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे॥

सूरदास ने मानव-हृदय के भीतर धँस कर भावों की सृष्टि की है। प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है, मानो हम उसे स्वयं अनुभव कर रहे हैं। कहीं उनके भावों में आह से ज्वाला निकल रही है, कहीं वेदना से आँसू टपक रहा है, किसी में विदग्धता का सहज कम्पन हो रहा है। ऊपर के पद में सूर का जो भाव व्यक्त हुआ है वह अपने जन्म-मरण के साथी को लौटाने के लिए वेदना के रूप में हुआ है। अद्भुत्-रस का आविर्भाव सूरदास ने वहाँ किया है जहाँ कृष्ण ने अपनी बाईं उंगली पर गोवर्धन पर्वत को धारण कर लिया है। ग्वालादि आश्चर्य-चकित होकर इस लीला को देख रहे हैं :

चकृत भये देखत यह लीला सबै परत हरि चरनन धाइ।
गिरवर टेकि रहे बाँये कर दछिन कर लियो सखन उठाइ॥

और सभी कहते हैं :

गिरि जनि गिरे स्याम के करते।

पर जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, सूर वात्सल्य और शृङ्गार के ही महान् कवि हैं। वात्सल्य और शृङ्गार में उनकी पहुँच बहुत गहरी है। इन दोनों में जितना सूर पैठ सके हैं उतना हिन्दी-साहित्य का कोई भी कवि नहीं। वात्सल्य का अवसर कृष्ण जन्म के अनन्तर आता है। श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर कौमार्य तक वात्सल्य के अनेक चित्रों की सृष्टि सूरदास ने की है। यशोदा कृष्ण को पालने में झुला रही है और नाना प्रकार से अपना वात्सल्य-प्यार जता रही है और इधर कृष्ण भी पालने में बाल-सुलभ क्रीड़ा कर रहे हैं। देखिये माता का सुलाना और पुत्र का आँख मूँद लेना कितना स्वाभाविक है

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइसोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आव निदरिया काहे न आनि सुवावै॥
तू काहे नहिं वेगि सों आवै तोको कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत है कबहुँ अधर फरकावै॥

कुछ दिन बाद माता अपने 'नान्हरिया गोपाल' के बड़ा होने की अभिलाषा प्रगट करती है। उसकी क्या-क्या लालसा है, देखिये :

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै॥

कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै ।
कब नंदहि कहि 'बाबा' बोलै कब जननो कहि मोहि हरै ॥
कब मेरो अंचरा गहि मोहन जोइ सोइ करि मोसे झगरै ।
कब धौं तनक तनक कछु खैहैं अपने कर सो मुखहि भरै ।
कब हँसि बात कहैंगे, मोहि सो छबि देखत दुख दूरि करै ॥

माता की सारी इच्छाएँ धीरे-धीरे पूरी हुईं । कृष्ण में शनैः-शनैः सब कुछ करने की शक्ति आने लगी । माता को अपनी अभिलाषाएँ पूरी होती देख बड़ा आनन्द होने लगा । कृष्ण का 'ठुमक ठुमक' कर चलना माता के लिये अत्यन्त आनंन्द का विषय था । उसे देख कर पुत्र-सुख की प्राप्ति करने लगी । कृष्ण चलते-फिरते एक दिन माता से माखन माँगने का भी अनुरोध करने लगे । माता की यही अभिलाषा भी तो थी । वह तो मना रही थी कि कृष्ण उससे कुछ माँगने के लिए लड़ते-झगड़ते । लेकिन अभी लड़ते-झगड़ते नहीं, सीधे से कहते हैं

माखन तनक दे री माय !
तनक कर पर तनक रोटी माँगत चरन चलाय ॥

जब कृष्ण 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?' की 'स्पर्द्धा' करते हैं तो यशोदा कहती हैं— 'कजरी को पय पिअहु लाल तेरी चोटी बढ़ै ।' एक बालक की जितनी प्रकार की चेष्टाएँ होती अथवा हो सकती हैं, उन सब का संग्रह सूरसागर में है । सूरसागर बाल-मनोभावों का अपूर्व भण्डार है । ऐसे भण्डार से कितने चित्रों का स्पष्टीकरण किया जाय ? लिखते-लिखते हम थक जाएँगे और पाठक उन्हें सुनते-सुनते अघा जाएँगे । फिर भी हमारा लोभी हृदय मानता नहीं अतः कुछ का दिगदर्शन करें

(१) बार बार जसुमति सुत बोधति आउ चंद तोहि लाल बुलावै ।
मधु मेवा पकवान मिठाई आपु न खैहैं तोहि खवावै ॥
सूरदास प्रभु हँसि मुसकाने बार बार दोऊ कर नावै ॥

(२) लैहौं री मा चंदा चहौंगो ।
इह तौ झलमलात झकझोरत कैसे कै जु लहौंगो ?

(३) मैया री मोहि माखन भावै ।
मधु मेवा पकवान मिठाई मोहिं नहिं रुचि आवै ॥

(४) दै मैया भँवरा चक डोरी ।
जाइ लेहु आरे पर राखो कालिह मोल लै राखै कोरी ॥
लै आये हँसि श्याम तुरत ही देखि रहै रंग रंग बहु डोरी ।
मैया बिना और को राखै बार बार हरि करत निहोरी ॥

एक दिन 'दाऊ' ने कृष्ण को बहुत प्रकार से चिढ़ा दिया । कृष्ण ने जाकर यशोदा से शिकायत कर दी । अजीब मुद्रा बना कर कृष्ण अपनी 'खीझ' प्रकट कर रहे हैं :

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मों सो कहत मोल को लीनो तू जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जातु ।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तातु ?
गोरे नंद जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर ।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहिं कबहु न खीझै ॥
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै ॥

भक्ति की उत्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के सहयोग से होती है और प्रेम की उत्पत्ति या तो सौन्दर्य से होती है या संग-साथ से शृङ्गार-रस के अन्तर्गत सूर ने कृष्ण-प्रेम का जो वर्णन किया है वह सौन्दर्य और साहचर्य दोनों से उत्पन्न है। उसमें भी प्रथम स्थान कृष्ण के रूप का ही है। जब राधा अथवा गोपियों ने कृष्ण के अपरूप-रूप को देखा तो उन पर वे बर-बस बिक गईं। यह सौन्दर्य-जनित प्रेम ही आगे साहचर्य का संयोग पाकर परिपुष्ट हो गया और जिसने गोपियां को ऐसा करने के लिये बाध्य किया—'लरिकाईं को प्रेम कहौ, अलि, कैसे छूटै ?' कृष्ण जैसे सयाने हुए कि खेलने के लिये सर्वत्र जाना शुरू कर दिया। एक दिन ब्रज की बीथियों में वे खेल रहे थे कि राधा से अचानक सक्षात्कार हुआ। विशेष परिचय के बाद उन दोनों में प्रेम हो गया। वे एक साथ ही तब से नित्य-प्रति खेलने लगे और अनेक प्रकार से आपस में विनोद करने लगे। प्रेम ने धीरे-धीरे अपना प्रगाढ़ स्वरूप धारण कर लिया और राधा-कृष्ण में दाम्पत्य के भाव आने लगे। दाम्पत्य-निपुण कृष्ण कुमार की लीला देखिये :

नीवी ललित गही जदुराई।
जबहिं सरोज धरो श्री फल पर तब जसुमति गई आई॥
तत्त्तण रुदन करत मनमोहन मन में बुधि उपजाई।
देखो, ढीठ देत नहि माता राखी गेंद चुराई॥

कृष्ण के संयोग शृङ्गार का वर्णन एक क्षणिक घटना ही तक सीमित नहीं है। वह जीवन की धारा में चलती हुई अविच्छिन्न प्रेम-संगीत है। उनका समस्त संयोग-वर्णन प्रेममय और आनन्दमय दिनचर्या है,

जिसमें उल्लास के न मालूम कितने भावों का विधान है। पनघट प्रसंग, वंशी-वादन, चीरहरण, मान-लीला, दान-लीला, रास-लीला इत्यादि सभी उसी के अन्तर्भूत हैं। एक छोटी झाँकी देखिये जिसमें राधा-कृष्ण स्वाभाविक रीति से एक दूसरे पर हाथ रख कर स्थित हैं :

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर स्याम भुजा अपने उरधरिया॥
क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर स्यामा-स्याम उमँगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर उर ज्यों मरकत मणि कँचन में जरिया॥

अलंकार का विषय न होने के कारण हम इस पद की विशेष तारीफ़ नहीं कर सकते।

प्रेम में एक दिन कृष्ण को ऐसा सूझा कि नित्य-प्रति राधा अब आने लगी, कहीं ऐसा न हो कि हमारे खिलौनों को वह चुरा ले जाए। इस हेतु माता यशोदा से समझाकर उन्होंने कहा—यह आशंका है:

जहँ तहँ डारे रहत खिलौना, राधा जनि लै जाइ चुराई।
साँझ सबारे आवन लागी, चितै रहत मुरली तन आई॥
इनहिं में मेरो प्रान बसत है तेरे भाये नेकु न माई।
राखि छिपाइ कह्यो करि मेरो बलदाऊ को जनि पतिआई॥

विप्रलम्भ के भी सहज-सुन्दर वर्णन सूरसागर में मिलते हैं। सूर का वियोग-वर्णन बिलकुल खिलवाड़ जैसीं हान हो पाया है। उसमें विरह की वेदना और गम्भीरता है। कृष्ण के वियोग में कभी ऐसा लगता है कि कृष्ण आ तो नहीं गए? पर ज्योंही मालूम होता है कि वे वास्तव में

नहीं आए तो सहज पछतावा होने लगता है। देखिए स्वप्नावस्था का दृश्य :

(क) **मैं जान्यो री आये हैं हरि चौंक परेते पछितानी।**

(ख) **ज्यों जागो तो कोऊ नाहीं अंत लगी पछितानी।**

वियोगी जनों का मन सदा खिन्न रहता है। दुनिया के सुख के साधन उनके लिये दुखदायी हो जाते हैं। कृष्ण के बिना ब्रजवासियों को सुन्दर और लुभावने दृश्य भी भयङ्कर और दुखदाई लगते हैं। उनमें से दो-चार दृश्यों का नमूना देखिए :

(१) **बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।**

जो वै लता लगत तनु सीतल अब भईं विषम अनल की पुंजै॥

(२) **चातक न होइ कोउ बिरहिन नारी।**

अजहूँ पिव पिव रजनि सुरति करि झूठेहि माँगत वारि॥

(३) **हौं तो मोहन के विरह जरी रे तू कत जारत।**

रे पापी तू पंखि पपीहा पिउ पिउ पिउ अधिरात पुकारत॥

(४) **कोऊ बरजोरी या चन्द्रहिं।**

अतिही क्रोध करत हम ऊपर कुमुदिनी कुल आनंदहि॥

उक्त सभी उपकरण कृष्ण-विरह में उद्दीपन होंगे। कृष्ण आलम्बन होंगे और गोपियों का हृदय आश्रय होगा। राधा का वियोग बहुत ही भयंकर है। अतः उसको मैंने छोड़ दिया है। उसे छोड़ने का दूसरा कारण यह है कि उस विरह का स्वरूप कुछ खेल-सा लगता है।

सूरदास और ब्रजभाषा—यदि भाषा की दृष्टि से हम सूर और उनके महाकाव्य सूरसागर को देखते हैं, तो वह ब्रज की चलती

बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है। भाषा की दृष्टि से सूरदास पहले कवि हैं जिन्होंने भाषा को साहित्यिक रूप दिया है। जिस समय सूरदास का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा विचारों को व्यक्त करने तथा गाने के स्वरों में कुछ व्यवहृत होती थी। उसके सौष्ठव की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान था। सूरदास ने अपने गीत-काव्य के लिए इसी ब्रजभाषा को चुना। यद्यपि उनकी भाषा भी गवाँरूपन के बोझिल भार से प्रभावित रही पर उसका परिष्कार बहुत कुछ सूर ने किया। पहली बात तो यह हुई कि सूरदास ने साहित्यिकता के साथ ब्रजभाषा में संस्कृत शब्दों का मेल कराया। इससे ब्रजभाषा का स्वरूप चमक उठा। देखिए नीचे के शब्दों में संस्कृत शब्दों की कितनी बाहुल्यता है :

जमुना-जल विहरति ब्रजनारी।
तट ठाढ़े देखत नंद नंदन मधुर मुरलि करधारी॥
मोर मुकुट श्रवनन मनि कुंडल जलज माल उर भ्राजत।
सुन्दर सुभग स्याम तन नव घन बिच बग पाँति विराजत॥
उर बनमाल सुभग बहु भाँतिन सेत लाल सित पीत।
मनो सुरसरि तट बैठे सुक बरन बरन तजि भीत॥
पीतंबर कटि मैं छुद्रावलि बाजत परम रसाल।
सूरदास मनो कनक भूमि ढिग बोलत रुचिर मराल॥

सूर की भाषा बिलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है। उससे काव्य-भाषा का एक व्यापक स्वरूप झलकता है। सिर्फ़ ब्रजभाषा के ही विशुद्ध स्वरूप को लेकर देखिए तो यद्यपि चलती ब्रज के छींटें

'जाको', 'तासो', 'वाको', मोको' आदि जिस प्रचुर परिमाण में मिलते हैं, उसी परिमाण में ब्रजभाषा के पुराने रूप 'जेहि', 'तेहि', 'केहि', 'मोहि' आदि भी पाए जाते हैं। पूर्वी का प्रयोग तो सूर की भाषा में ख़ूब हुआ है। पूर्वी के ये शब्द सूर की रचना में सर्वत्र भरे हैं—आपन, हमार, राउर, तोहार आदि। इनके सिवा भी कई देश की बोलियाँ सूरसागर में संग्रहीत हैं। अवधी के एकाध शब्द, एकाध शब्द पंजाबी के तथा इसी प्रकार और भी कुछ भाषाओं के शब्द सूरसागर में हैं। सूरसागर की भाषा को कवि ने काव्योपयोगी बना दिया है।

ब्रजभाषा को सजा कर सूरदास ने उसे दूना मधुर बनाया है। एक तो ब्रजभाषा स्वयं ही मधुरता के लिए विख्यात थी। मधुरता फ़ारसी की भी कही जाती है। एक बार फ़ारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कवि अलहिजी ने ब्रजभाषा की मधुरता सुनने के उद्देश्य से भारत को प्रस्थान किया था। सुना जाता है कि ब्रज प्रान्त के मार्ग में अचानक ब्रज बोली की आवाज़ उसके कान में पड़ी। बात यह थी कि एक ग्वालिन घड़े में पानी लिए जा रही थी। उसके पीछे एक कोमल वय की बालिका यह कहते हुए दौड़ी जा रही थी—'माय रे माय महि साँकरी पगन मैं काँकरी गड़तु है।' इस कथन को सुनना था कि अलहिजी का अपने देश को प्रस्थान करना था। उसका पहला उद्देश्य कवियों से मिलने का था। पर जब ही उसने गँवारिन बालिका के मुख से ऐसा माधुर्यपूर्ण वाक्य सुना तो उसके होश उड़ गए और अपने पहले उद्देश्य को उन्होंने त्याग दिया। ब्रज भाषा को अथवा सूर की भाषा

को समझने के लिए ऊपर की कथा बहुत ही यथेष्ट है। कहना नहीं होगा कि ब्रजभाषा पर कवि सूर का पूर्ण अधिकार था। भाषा पर जब पूर्ण अधिकार कवि करता है तभी उसकी कविता सुन्दर बन पड़ती है। भाषा के बल से ही कवि अपने भावों को यथासाध्य खोल सकता है, उसमें कुछ चमत्कार दिखा सकता है और अपने व्यक्तित्व को रख सकता है। फिर जो कवि किसी अनुवाद की रुचि रखता है उसे तो अवश्य ही भाषा में निपुण होना चाहिए। सूर और तुलसी दोनों के विषय में विख्यात है कि वे बड़े भारी अनुवादक थे। संस्कृत के अनेक श्लोकों का भाव उन्होंने अपनी भाषा के प्रताप से अनुवाद करके हिन्दी में ज्यों का त्यों रख दिया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने अद्वितीय भाषा-बल से पदों को श्लोकों से भी चढ़ा-बढ़ा दिया है। संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक हिन्दी अनुवाद सहित नीचे दिया जाता है:

श्लोक—मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्॥

अनुवाद—मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन॥
चरन कमल बंदौ हरि राई। —तुलसी।

—जाकि कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कुछ दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।—सूर।

भाषा की सफ़ाई और वाक्य रचना की निर्दोषता तो सिवा सूर और तुलसी को छोड़ हिन्दी के किसी कवि में नहीं आई। सूर और तुलसी के

कहीं-कहीं ऐसे पद मिलते हैं जिनमें सर्वनामों की एक भी त्रुटि नहीं आने पाई है और पद भर में एक ही वाक्य व्यवस्थित रूप से चला गया है। यह क्या साधारण भाषा की जानकारी है अथवा साधारण भाषा का अधिकार है? तुलसी का अधिकार जितना 'अवधी' पर था, सूर का अधिकार 'ब्रज' पर उससे कुछ भी कम न था। राम और कृष्ण के काव्यों को लिखने के लिये उनके अपने प्रिय स्थानों की बोलियाँ ही क्रमशः अवधी और ब्रज यथोचित प्रमाणित हुईं। तुलसी और सूर ने उन भाषाओं को अच्छी तरह पहचाना और अपने-अपने काव्य उन ही भाषाओं में लिखे। सूर और तुलसी के एक-एक व्यवस्थित पद लेकर आप मिलाइये :

सूरदास—**बंदौ चरन सरोज तुम्हारे।**

जे पद पदुम सदासिव के धन सिंधु सुता उरते नहिं टारे॥
जे पद पदुम परसि भइ पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पद पदुम परसि रिस पत्नी बलि नृग व्याध पतित बहु तारे॥
जे पद पदुम रमत वृंदावन अहि सिर धरि अगनित रिपु मारे।
जे पद पदुम परसि ब्रज भामिनि सर बस दै सुत सदन बिसारे॥
जे पद पदुम रमत पांडव-दल दूत भये सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पद पंकज त्रिबिध ताप दुख हरन हमारे॥

तुलसीदास—**कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।**

जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे॥
जेहि कर कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो॥

जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ उदक देइ निज लोक दियौ।
जेहि कर बालि बिदारि दास-हित कपि कुल पति सुग्रीव कियौ॥
आए सरन सभीत बिभीषन जेहि कर कमल तिलक कीन्हो।
जेहि कर गहि सर-चाप असुर हति अभय दान देवन दीन्हो॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटत पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

अलङ्कारों की उद्भावना---सूरदास का काव्य-ज्ञान बहुत ऊँचा था। भावों और रसों के बराबर उनके काव्य में वक्रता और विदग्धता भरी है। सूरदास जितने सहृदय थे उतने ही चतुर भी थे। पर तारीफ़ यह थी कि उनकी चतुरता विदग्धता में भी उनका हृदय लिपटा हुआ था। अतः उनके अलंकार कोरे अलंकार नहीं हैं। उनमें भावों को स्पष्ट करने तथा उनमें शक्ति भरने की शक्ति सन्निविष्ट है। सूरदास की अन्तर्दृष्टि बहुत तीक्ष्ण थी, यह बात उनके अलंकारों को ही देखने से विदित होती है। नेत्र रूपी खञ्जन का अञ्जन रूपी रस्सी से अटकाना कितना सौन्दर्यपूर्ण और भावपूर्ण लगता है :

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल-पिंजरा न समाते॥
सूरदास अंजन गुन अटके न तरु अबहि उड़ि जाते॥

अर्थालंकारों की प्रचुरता सूर में है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि-आदि अलंकार भावुक कवियों से अधिक खिलते हैं। सूरदास के सभी उपमान परम्परागत और प्रसिद्ध हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा की अधिकता श्रीकृष्ण के रूप में और विशेषतः बाल्य-काल के रूप में कवि ने दिखाई

हैं। कृष्ण ने शंकर जी का वेश बनाया है। इस पर कवि तरह-तरह की उत्प्रेक्षा बनाता है—

(१) जलज माल गोपाल पहिरे कहौं कहा बनाइ।
मुंडमाल मनोहर गर ऐसी सोभा पाइ॥
(२) स्वाति सुत माला बिराजत स्याम तन यौं भाइ।
मनौं गंगा गौरि डर हर लिये कंठ लगाइ॥
(३) केहरी कै नखहि निरखत रहीं नारि बिचारी।
बाल ससि मनौ भालते लै उर धर्यो त्रिपुरारि॥

इस प्रकार कृष्ण के सभी अंग बहुत विचित्र लगते हैं। एक-दो झाँकी और देखिये—

(१) दमकति द्वै द्वै दँतुलियाँ बिहँसत मानौ सीपिज घर कियो लिलार पर।
(२) लघु लघु सिर लट घुँघुर बारि लटकि लटकि रह्यो लिलार पर।

× × ×

नूतन चन्द्र रेख मधि राजति सुरगुरु शुक्र उदोत परस्पर॥

अंग-शोभा और वेश-भूषा के वर्णन में सूरदास उपमा पर उपमा, रूपक पर रूपक और उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा बैठाते चले जाते हैं—ऐसा ही उनका नियम है। साहित्य के प्रसिद्ध उपनामों को लेकर सूर ने बड़ी लीला दिखलाई है। एक स्थान पर ऐसी ही लीला की उद्भावना 'रूपकातिशयोक्ति' द्वारा हुई है—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।

रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग ॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर एक मणिधर नाग ॥
अंग अंग प्रति और और छबि उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पिवहु सुधारस मानो अधरनि के बड़भाग ॥

राधा के रूप पर सूर की दूसरी अतिशयोक्ति देखिये :

विधि के आन विधि को सोचु ।
निरखि छबि बृषभानु तनया सकल ममकृत पोच ॥
रमा गौरी उरबसी रति इंदिरा विभव समेति ।
तुल्य दिन मनि कहाँ सारँग नाहि उपमा देति ॥

एक स्थान पर अपनी करतूतों का दिग्दर्शन कराते हुए सूरदास ने सांग रूपक द्वारा नाच का स्वाङ्ग रचा है। वे गोपाल से विनीत स्वर में कह रहे हैं:

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल ।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल ॥
महामोह को नूपुर बाजत निंदा सब्द रसाल ।
भरम भये मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल ॥
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना बिधि दे ताल ।
माया को कटि फेंट्या बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल ॥
कोटिक कला काँछि देखराई जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नंदलाल ॥

रूपक के और भी सुन्दर नमूने सूरसागर में हैं जिनका दिग्दर्शन कराना यहाँ सम्भव नहीं है।

गोपियों के वचन में हम स्वाभाविक व्यङ्ग की स्पष्ट झलक पाते हैं। वचन की वक्रता और विदग्धता में सूर का हृदय लिपटा हुआ है। देखिये—

कौन बात यह कहत कन्हाई।
समुझति नहीं कहा तुम माँगत डरपावत करि नंद दुहाई॥
डरपावहु तिनको जो डरपहिं तुमते घटि हम नाहीं।
मारग छोड़ि देहु मन मोहन दधि बेचन हम जाहीं॥
भली करी मोतिन लरी तोरी जसुमति सों हम कैहैं।
सूरदास प्रभु इहाँ बनत नहिं इतना धन कहँ पैहैं॥

उद्धव सँदेसा लेकर गोपियों के पास गये हैं। वहाँ पर सूर ने नाना प्रकार के प्रेममय, हासमय, विनोदमय और क्रीड़ामय वचन तैयार किये हैं। 'तद्गुण' के आपने बहुत नमूने देखे होंगे पर निम्न प्रकार के एक भी नहीं। कृष्ण के काले रङ्ग से स्थान ही काला हो गया है और इसलिये जो वहाँ से आता है, काला हो जाता है। इसी को गोपियाँ उद्धव के आगे इस प्रकार कहती है:

वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे॥

फिर रंग के साथ कुछ गुण भी उद्धव ने कृष्ण के ही ले लिये हैं 'तुख्म तासीर सोहबत असर' वाली कहावत चरितार्थ होती है:

मधुकर जानत है सब कोऊ।

जैसे तुम श्रौ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ।

पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे श्रौ श्रोऊ॥

'वक्रोक्ति' को कुछ लोगों का कहना है कि अलंकार नहीं है। यह एक प्रकार का भाव है। वास्तव में है तो यह अलंकार ही पर इसमें भाव का काफ़ी संयोग है। सूरदास वक्रोक्ति ख़ूब लिखते थे। जैसा कि कहा गया है, उनके ऐसे ही अलंकार अधिक हैं जिनमें चमत्कार के साथ भाव का सामञ्जस्य है। 'वक्रोक्ति' की उद्भावना देखिए :

मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।

सोई नाथ तुम्हारे ढोटा लीनो है पहिचानि॥

बूझी ग्वालिन घर में आयो नेकुन संका मानी'।

सूरदास यह उतर बनायो 'चींटीं काढ़त पानी'॥

नत्र और कृष्ण की मुरली को लेकर बड़ी लम्बी-चौड़ी चर्चा सूर ने की है। उस चर्चा में अलङ्कारों की भी अत्यधिक सृष्टि हुई है। नेत्र पर सूर को एक भी उपमान नहीं जँचते। वे कहते हैं :

उपमा एक न नैन गही।

कविजन कहत कहत चलि आये, सुधि करि करि काहु न कही॥

कहे चकोर, मुख बिधु बिनु जीवन, भँवर न: तहँ उड़ि जात।

हरिमुख कमल कोस बिछुरे ते ठाले क्यों ठहरात॥

खंजन मन रंजन जन जो पै कबहुँ नाहिं सतरात।

पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर समीप बिकात।

आए बधन ब्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय।

देखत भागि बसै घन बन में, जहँ कोउ संग न धाय ॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त ।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाढ़त ॥

इस तरह कहीं पर उपमानों को उपयुक्त ठहरा कर भी उपमा की सुन्दर झलक दिखाई गई हैं। कहीं प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत वर्णन और अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत वर्णन भी किया गया है। व्याज-निन्दा और व्याज-स्तुति के अच्छे-अच्छे चित्र सूरसागर में मिलते हैं। अब लीजिए मुरली को। सूर ने कृष्ण की मुरली की महिमा ख़ूब गाई है। मुरली जब कृष्ण बजाने लगते हैं उस समय की दशा का क्या उल्लेख किया जाय ? यह ठीक है कि उस मुरली द्वारा सहस्त्रों गोपियाँ नाचने लगती हैं, किन्तु साथ ही यह भी ठीक है कि उसके द्वारा कृष्ण स्वयं भी नाचने लगते हैं। और उनका नाच कोई ऐसा वैसा नहीं होता। वह होता है विचित्र नाच। देखिए शायद इसमें भी कोई अलङ्कार ही है :

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन री सखि जदपि नंद नंदहि, नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पाँय ठाढ़ो करि, अति अधिकार जनावति ।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति ॥
अति अधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नारि नवावति ।
आपुन पौढ़ि अधर-सज्या पर, कर सो पद पलुटावति ॥
भृकुटि कुटिल फरक नासा पुट, हम पै कोप कुपावति ।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, अधर सुसीस डुलावति ॥

अर्थालङ्कार की तरह शब्दालङ्कार की भी सूरसागर में भरमार है। सोचने की बात है कि कोई जब कविता करता है तो उस कविता में एक न एक अलङ्कार अथवा काव्योपयोगी सामग्री अवश्य ही होती है। उसको भिज्ञजन चाहें तो खोज कर निकाल सकते हैं और अमुक कवि को प्रशंसा का पात्र बना सकते हैं। इस प्रकार बहुत से आलोचकों ने अनेक कवियों का उद्धार किया है। जिन कवियों को हम आज जानते भी न होते उनको भी जब किसी बड़े आलोचक ने पकड़ा है तो उन्हें साहित्य के इतिहास में प्रतिष्ठित कर दिया है और उनके मूल्य को वास्तव में बहुत अधिक बढ़ा दिया है। ऐसा करना हमें पसन्द नहीं है। वैसी आलोचनाओं में कवि की प्रतिभा नहीं प्रकट होती वरन् आलोचक की भावभंगी और जानकारी विदित होती है।

सूरदास जी तो साधारण कवि कौन कहे, महाकवि थे और थे उन इने-गिने कवियों में जिनका स्थान साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है। तब भला उनका कौन ऐसा पद होगा जिसमें अनुप्रास न मिल जाय, कहीं यमक न मिल जाय? सूरसागर श्लेष का तो ख़जाना कहा जाता है। उसके दृष्टि कूट पद जितने हैं सभी में इसके चित्र मौजूद हैं। सूर के दृष्टिकूटों की चर्चा आगे की जाएगी। यहाँ शब्दालङ्कार के कुछ चलते नमूने दिये जाते हैं। खोज कर सुन्दर नमूना देना मुझे अच्छा नहीं लगता। पहले अनुप्रास की कुछ बानगी लीजिये :

(१) हरि अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय ते गरल गरे।

(२) सोभित सहित सुगंध स्याम कच कल कपोल अरुझाने ।

(३) कामी कान्ह कुँवर के ऊपर सरबस दीजै वारि।
(४) जनु सुक निकट निपट सर साधे षटपद सुभट पराने।

भंग यमक :

मोर मुकुट रचि मौर बनायो।

विशुद्ध 'यमक' देखिए :

(१) 'ऊधो ! जोग जोग हम नहीं।'
(२) नीके गोप बड़े गोबरधन जब नीके ब्रज हेरेउ।
(३) पद्मनि सारँग एक मझारि।
आपुहि सारँग नाम कहावै सारँग बरनी बारि।
तामें एक छबीलो सारँग अर्ध सारँग उनहारि॥

(क्रमश.)

सूर-सूक्ति-सुधा—महात्मा सूरदासजी जी ने अपनी सुधा-सनी वाणी में बहुत-सी सुन्दर उक्तियाँ कही हैं। सूरसागर में उन सुन्दर उक्तियों की इतनी प्रचुरता है कि सूर के प्रेमी संग्रह-कर्त्ताओं ने सूर-सूक्ति-सुधानाम से एक अलग मुक्तक काव्य का संकलन ही बना लिया है। सम्भव है जो सूर का साहित्य-लहरी नामक ग्रंथ कहा जाता है वह भी उनके दृष्टिकूट पदों के प्रेमियों द्वारा सूरसागर से ही निकाल कर संग्रहीत किया गया हो। जो भी हो मगर सूर की सुन्दर सूझ की अवश्य सराहना करनी पड़ती है। कल्पना की उड़ान में बहने वाले जितने शृङ्गारी कवि हुए हैं या केशव-जैसे दरबारी कवि हुए हैं उनकी उक्तियों से सूर की उक्तियाँ सर्वथा भिन्न हैं। उन कवियों को अपनी .उक्तियों में यह दिखाना अभीष्ट था कि वे अनहोनी बात

को भी सम्भव और सहल बना सकते हैं तथा अपने को वहाँ पहुँचा सकते हैं जहाँ रवि की भी पहुँच नहीं है। ऐसा करने में हुआ क्या है कि अपने तो वे रवि के पास पहुँच ही नहीं सके हैं और पहुँचना तो दूर रहे वे रवि को पृथ्वी पर से भी ठीक तौर से नहीं देख सके हैं। काव्य-कला के मर्मज्ञ आचार्य केशव को लीजिए। आप सूर्य की सुन्दरता दिखाना चाहते हैं। देखिए उनकी सुन्दर सूझों को :

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैंधौं मंगल घट।
किंधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूष पट॥
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को॥

"कै श्रोणित कलित कपाल यह" पर ध्यान दीजिए और विचार कीजिए कि इस प्रकार यदि कवि लोग कविता करने लगें तो उस साहित्य का उपकार होगा या अपकार? सहृदय और भावुक भक्त सूरदास ने अपने को ऐसी घृणित और उपहासास्पद उक्तियों से बिलकुल दूर रक्खा है। उक्तियों की विशेषता सुन्दरता उत्पन्न करने में है, असुन्दरता उत्पन्न करने में नहीं। इससे तो क्या ही भला हो कि केवल सीधी भाषा में हृदय के भाव खोल दिए जाएँ। इस पर तुलसी की एक पंक्ति हमें स्वाभावतः याद आ जाती है--'जूझे ते भल बूझिबो, भलो जीति ते हार। डहके ते डहकाइबो, भलो जो करिय बिचार॥' यह मानी हुई बात है कि केशवदास जी काव्य-कला के

मर्मज्ञ थे, आचार्य भी थे; पर हृदयपक्ष उनका बिलकुल शून्य था। सूर का अधिकार कवि कर्म के दोनों पक्षों पर समान रूप से था। उनके भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों समान रूप से स्तुत्य हैं। दोनों पक्षों का स्पष्टीकरण बहुत कुछ हम कर भी आए हैं। अब यहाँ सूक्तियों के अन्तर्गत उनके दोनों पक्षों के मिश्रित स्वरूप का विवेचन किया जाएगा। कृष्ण के नेत्र पर सूरदास जी एक चमत्कारपूर्ण उक्ति कहते हैं :

अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय ।
मनौ सरस्वति गंगा जमुन मिलि आगम कीन्हों आय ॥*

इसी को गुलाम नबी ने इस प्रकार कहा है :

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥

और देवी युगल प्रिया ने तो भारी भरकम ढाँचा खड़ा किया है। उसकी उक्ति के सामने नेत्र पर सब की उक्ति फीकी पड़ जाती है। देखिए :

नैन सलौने खंजन मीन ।
चंचल तारे अति अनियारे, मतवारे रस लीन ॥
सेत स्याम रतनारे बाँके, कजरारे रँग भीन ।
रेसम डोरे ललित लजीलै, ढीले प्रेम अधीन ॥
अलसौहैं तिरसौहैं मोहैं, नागरि नारि नवीन ।
जुगल प्रिया चितवनि में घायल, होवै छिन छिन छीन ॥

***'उत्प्रेक्षा' का भी बहुत सुन्दर नमूना है ।**

नेत्र के रंग 'अरुन, असित, सित' सदा से प्रसिद्ध हैं। महात्मा जायसी ने अपने पद्मावत में असित और सित रंगों के लिए 'जमुना माँझ गंग कै सोती' आदि बराबर व्यवहार किया है। जायसी का पद्मावत सं० १५९७ का लिखा है और सूरसागर सं० १६०७ के लगभग रचा गया था। अतः जायसी की रचना सूर से कुछ पूर्व की बनी थी। पूर्व की बनी न सही, तो भी यह कहना कि सूर ने जायसी के निर्धारित रंगों पर ही अपनी उक्ति में उक्त रंग लिया है, ठीक नहीं। इन उक्तियों की उद्भावना सूर और जायसी दोनों से पुरानी है। हाँ गुलाम नबी की उक्ति को लेकर युगल प्रिया ने बढ़ाया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आचार्य शुक्ल ने जायसी और सूर की दो समान उक्तियों को एक स्थान पर मिलाया है। सूरदास राधा के लिये कहते हैं कि राधा कृष्ण-विरह से व्यथित होकर चाँदनी रात काटने के लिये वीणा लेकर बैठती हैं। वीणा की ध्वनि से मुग्ध होकर चन्द्रमा का हिरण रुक जाता है जिससे रात और बढ़ जाती है। तब राधा उस मृग को भगाने के लिये सिंह का चित्र उरेहती है जिससे रात कटे और उसकी व्यथा टले :

सूरदास—**मन राखन को बेन लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै।**
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को करुन टरै॥

जायसी—**गहै बीन मकु रैन बिहाई। ससि बाहन तहँ रहै ओनाई॥**
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै॥

दूसरे स्थान पर गोपियाँ चन्द्रमा पर कोप करती हैं और उस कोप में चन्द्रमा के उत्पन्न करने में सहायक समुद्र, पहाड़ और शेष की निन्दा

करती हैं और प्रशंसा करती हैं जरा नामक राक्षसी की जिसने जरासंध के दो खण्ड जोड़े थे। तात्पर्य यह कि यदि जरादेवी राहु-केतु को कृपा कर के जोड़ दे तो वे चन्द्रमा को ग्रस लेंगे जिससे उनकी व्यथा दूर हो जाएगी। इसे सूरदास ने यों कहा है :

कोउ, माई ! बरजै या चंदहि।
करत है कोप बहुत हम्ह ऊपर, कुमुदिनि करत अनंदहिं ॥
निंदति सैल उदधि पन्नग को, सापति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरा देवी को, राहु केतु किन जोरहिं ?

सूरदास को एक ही बात कहने के अनेक ढंग विदित थे। जहाँ-जहाँ उनका हृदय अधिक रमा है तहाँ-तहाँ का वर्णन उन्होंने बहुत विस्तृत किया है। ऊपर की बात को लेकर उन्होंने फिर दूसरे प्रकार से भी कहा है :

हर को तिलक हरि ! चित को दहत।
कहियत है उडराज अमृतमय, तजि सुभाव मोको बछि बहत ॥
छपा न छीन होय मेरी सजनी ! भूमि डसन रिपु कांधों बसत।
ससि नहि गमन करै पच्छिम दिसि, राहु ग्रसत गहि मोको न गहत ॥
ऐसोइ ध्यान धरत तुम दधिसुत, मुनि महेस जैसी रहनि रहत।
सूरदास प्रभु मोहन मूरति, चितै जाति पै चित न सहत ॥

भौरे की कटि पीली क्यों हो गई है ? इस पर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—(उद्धव और कृष्ण का संकेत भी भ्रमर के ही रूप में हुआ है) :

मधुकर, पीत वदन केहि हेत ?

जनु अन्तरमुख पांडु रोग भयो जुवतिन जो दुख देत ॥

रसमय तन मन स्याम धाम सों ज्यों उजरो संकेत ।

कमल नयन के बचन सुधा से करट घूँट भरि लेत ॥

सूर के विप्रलम्भ में सूक्तियों की अनेकानेक रचना हुई हैं। कहीं राधा रो कर कुछ अपनी सूझ कह रही हैं, कहीं गोपियाँ अपनी उक्ति दौड़ा रही हैं और नन्द-यशोदा तो सभी जगह पुकार रही हैं। कृष्ण-वियोग की कुछ और उक्तियों को देखिये :

(क) ऊधो ! जो हरि हितू तिहारे ।

जौ सींचे यहि भाँति जतन करि तौ इतने प्रतिपारे ॥

कीर , कपोत, कोकिला, खंजन बधिक-बियोग बिडारे ॥

(ख) सबन अबध सुँदरी बधै जनि ।

मुक्तामाल अनंग गंग नहिं, नव सत साजे अर्थ स्यामघन ॥

भाल तिलक उडपति न होय यह, कवरि-ग्रंथि अहिपति न सहसफन ॥

नहि विभूति दधिसुत न भाल जड़ ! यह मृग मद चंदन चर्चित तन ॥

न गज चर्म यह असित कंचुकी, देखि विचारि कहौ नन्दी गन ॥

(ग) बिनु माधव राधा तन सजनी ! सब विपरीत भई ।

गई छपाय छपाकर की छबि रही कलंकमई ॥

लोचनहूँ ते सरद सारसै सुछबि निचोय लई ।

आँध लगे चयोमो सोनो ज्यों त्यों तन-धातु हई ॥

(घ) छूटि गई ससि सीतलताई ।

मनु मोहि जारि भसम कियो चाहत लाजत मनो कलंक लगु कार्ई ॥

याही ते स्याम अकास देखिये मानो धूम रह्यो लपटाई।
ता ऊपर द्यौ देत किरनि उर उडगान काडनै चढ़ि इत आई॥

इन्हीं सुन्दर उक्तियों की अधिकता के कारण रघुराज सिंह ने कहा है:

अखिल अनूठी उक्ति-युक्ति नहिं झूठी नेकु, सुधाहूँ ते सरस सरस को सुनावतो?
उद्धत विराग भाग सहित अनेक राग हरि को अदाग अनुराग को सिखावतो?
जगत उजागर अमल पद आगर सुनट नागर ध्याय सूरसागर को गावतो?
भाषै रघुराज राधा-माधव को रास-रस कौन प्रगटावतो जो सूर नहिं आवतो?

सूरसागर के दृष्टिकूट पद—सूरसागर में दृष्टिकूट-पदों की रचना करके सूरदास ने कौतूहल-प्रिय जनों का बड़ा मनोरञ्जन किया है। शब्दों का जाल बिछा कर और उनके अर्थ की लम्बी वंशी लगा कर सूरदास ने बड़े-बड़े विद्वानों को भी अपने दृष्टिकूट में फँसाया हैं। उनके कूट पदों को समझने का कोई सहल तरीक़ा नहीं निकल सकता। वह वही आदमी समझ सकता है जो बहुत कथाओं को जानता हो या बहुत प्रकार के कथानकों का बोध रखता हो। कूटों की रचना करने में भी सूरदास ने बड़ी चतुरता से काम लिया है। समास और संधि का विशेष सहयोग उन पदों में हुआ है। कहीं-कहीं तो सूर के कूट पद बहुत दुर्बोध हो गये हैं। ऐसा ही एक यह भी है:

देखि रे प्रेम प्रगट द्वादस मोन।

ऊधो एक बार नंद लाल राधिका बनेते आवत सखिहि सहित गिरिधर रसनीत।
गये नवकुंज कुसुमनि के पुंज अलि करें गुंज सुख हम देखि भई लवलीन।
षट उडगन षट मनिधर राजत चौबीस घात केहि चित कीन॥
षट इंदु द्वादस पतंग मनो मधुप सुनि खग चौअन माधुरी दस पीन॥

द्वादस बिम्बाधर सों बानवै बज्रकन मानो षटदामिनि षट जलज हँसि दीन ॥
द्वादस धनुष द्वादसै विष्का मनमोहन षटै चिबुक चिन्ह चित चीन।
द्वादस व्याल अधोमुख भूलत मधु मानो कंज दल सों बीस द्वै बंसीन ॥
द्वादसै मृनाल द्वादस कदली खंभ मानो द्वादस दारिम सुमन प्रबोन।
चौबीस चतुष्पद ससि सौ बोस मधुकर अंग अंग रस कंद नवीन ॥
नील नीलै मिली छटा विविध दामिनि मनो षोडश श्रृंगार सोभित हरिहीन।
फिरि फिरि चक्र गगन में भ्रमी बतावत युवती योग मौन कहुँ कीन ॥
वचन रचन रस रास नंदनंदन ते वही योग पौन हृदये लवलीन।
नंद जसोदा दुखित गोपी गाय ग्वाल गोसुत सब मलिन गात दिन ही
दिन दुखीन ॥
बकी बका सकटा तृन केसी बच्छ वृषभ रासभै अलि बिनु गोपाल इन
बैर कीन।
उद्धव यहाँ मिलाइ परैं पाँव तेरै सूर प्रभु आरति हरैं भई तनु छीन ॥

संधि बल से जिन कूटों की रचना हुई है उनका अर्थ करने में साहित्यिक लोग बड़ा आनन्द लेते हैं। लेकिन उसमें भी केवल व्याकरण का ही सहारा नहीं चाहिये। उसकी बहुत-सी बातों की जानकारी चाहिये। मालूम पड़ता है सूरदास ने कलाबाज़ों के छक्के छुड़ा देने के लिये इन कूटों की रचना की थी। उदाहरण के लिये ऐसा कूट पद एक ही बहुत होगा :

कहत कत परदेसी की बात ?
मँदिर-अरध-अवधि बदि हमसो हरि-अहार चलि जात ॥

ससि-रिपु बरष सूर-रिपु जुगबर हर-रिपु किये फिरै घात ।
मघ-पंचक लै गये श्याम घन आप बनी यह बात ॥
नखत बेद ग्रह जोरि अर्द्ध करि को बरजै हम खात ।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन को कर मीड़ति पछितात ॥

इस पद में गोपियाँ कृष्ण परदेशी की अहवाल कह रही हैं। कृष्ण ने शायद पन्द्रह दिन में आने को कहा था जब कि महीनों बीत गये और वे न आये। इधर गोपियों की दशा क्या हुई? वे काम से विशेष परिपीड़ित हो गईं क्योंकि उनका चित्त श्याम चुरा ले गये थे अतः दिन उनका वर्ष के समान और रात युग के समान बीतने लगीं। रात में काम दशा पर किसी प्रकार की दुख दशा अधिक बढ़ जाती है। दिन में नाना प्रकार से मन बहलाव हो जाता है लेकिन रात में अकेलेपन और शान्ति से मन व्याकुल हो उठता है। प्रोषित पतिकाओं की रात तो और भयावह हो जाती है। अस्तु, अन्त में गोपियाँ विष पान करने का विचार करती हैं। कृष्ण का वियोग उनसे सहा नहीं जाता। अलंकार-प्रेमियों के दर्शनार्थ भी इस पद में काफ़ी सामान है।

सूरदास की कविता इस तरह नाना प्रकार से सुसज्जित है। उनका महाकाव्य सूरसागर वास्तव में महासमुद्र है। उसमें तरह-तरह की वस्तुएँ भरी हैं। कहीं मणियाँ हैं, कहीं मोती हैं, कहीं मूँगे हैं और सीपी आदि भी कहीं-कहीं हैं। उनका रहना भी समुद्र में अनिवार्य है। विवेचकों को रत्नों और सीपियों के अलग करने में सदा सतर्क रहना चाहिये। सूर-सागर के बहुत से पद साधारण कोटि के हैं। कई जगह एक ही पद में दो-चार चरण सुन्दर मिल जाते हैं और अधिकांश तो बिलकुल

साधारण पद मिलते हैं जिनमें न कोई बारीक़ी है न किसी प्रकार की खूबी है। देखिए निम्न पद में कौन-सी आकर्षणकारी बात है :

तरु दोउ धरनि परे भहराइ।
जर सहित अरराइ कै आघात सब्द सुनाइ॥
कैसे उबरे कृष्ण तरु ते सूर ले बलिहारि॥

बहुत जगह सूरसागर में वाक्य-रचना की अव्यवस्था मिलेगी, छन्द को पूरा करने के लिये खपत के शब्द मिलेंगे और तुकान्त बैठाने के लिये शब्दों के तोड़-मरोड़ पाये जायेंगे। दृष्टिकूट का पहला नमूना मैंने इसी विचार से दिया है कि पाठक सूर के दूसरे पक्ष को भी आसानी से देख लें। रही व्याकरण के लिङ्ग-वचन। उनकी भी काफ़ी भूलें सूर से हुई हैं। लिंगों की ऐसी भूलें नहीं हुई हैं जिन्हें हम मामूली भूल कह सकते हों। मामूली भूल का मतलब है कि जो एक स्थान पर भूल हो गई वह फिर आगे भी उस अवस्था में होती जाय। मान लीजिये कि सूरदास ने 'सूल' का प्रयोग कहीं स्त्रीलिंग में किया है तो आगे 'सूल' का फिर कभी प्रयोग मिले तो उसमें भी स्त्रीलिंग जैसा ही उसका प्रयोग होना चाहिये। पर ऐसा नहीं हुआ है। सूरदास को, ऐसा मालूम होता है, मानों व्याकरण का दर्शन ही न हुआ हो। वे डरते रहते थे कि अमुक शब्द स्त्रीलिंग है या पुलिंग। इससे एक ही शब्द कहीं पुलिंग में व्यवहृत कर देते हैं और उसी को कहीं स्त्रीलिंग में। बहुधा स्कूल के कमज़ोर विद्यार्थी ऐसी भूलें करते हैं कि यदि एक ग़लती होगा तो दूसरा अवश्य ठीक होगा।

वास्तव में देखने से पता चलता है कि सूरदास की परिस्थिति बड़ी विषम थी। वे नित्य गा-गाकर भगवान कृष्ण को एक न एक पद सुनाया करते थे। अपनी आँख तो उन्हें थी नहीं। रह गया स्मरण-शक्ति से विचारने का काम। ऐसी हालत में सहस्रों पदों को एक बार मष्तिष्क में ले आना ज़रा दुस्तर कार्य था। काट-छाँट कर उन्हें शुद्ध करना और जो एक बार पद बन चुका है उसको फिर दुबारा बनने से रोकना उनके लिये असाध्य हो गया। लिंगों की जो गड़बड़ी हुई है अथवा जिन पदों में अनेक अशुद्धियाँ रही हैं उनका एक-मात्र कारण उनका अंधा होना ही है। आँख रहती तो उन्हें देख कर, बार-बार पढ़ कर बनाने और संशोधन करने का मौक़ा मिलता। दूसरे जो पद एक ही भाव के अनेक बन गये हैं उनमें कहीं तो उनकी विस्मरण-शक्ति का प्रभाव है और कहीं उनकी स्वच्छन्द शैली का असर है। सबके ऊपर उनकी रुचि भी अस्वीकृत नहीं की जा सकती। सूर का हृदय जहाँ ख़ूब लगा है वहाँ एक ही भाव अनेक पदों में, अनेक ढंगों से व्यक्त किए गए हैं। इसका हम प्रारम्भ ही से संकेत करते आ रहे हैं।

कवियों के बीच सूर—एक तो सूरसागर की सुमधुर भाषा; दूसरे, सूरदास की अनूठी सूक्तियाँ; तीसरे, कृष्ण-साहित्य की कविता; चौथे, गीत-काव्य की शैली; इन सब कारणों से अनेक कवियों के बीच सूर का स्थान अपने काव्य सहित ऊपर उठ गया है। कुछ रत्न के पारखियों ने तो तरह-तरह की सूर पर कहावतें चला दी हैं यथा 'सूर सूर तुलसी ससि' 'किधौं सूर को सर लग्यो', तथा 'सूर तीन गुन धीर'; पर मैं किसी कवि

का सम्मान यथोचित करना चाहता हूँ। गुण को पहचान कर यथोचित स्वागत करने से गुण का यथार्थ प्रसार होता है और गुणी और गुण का तिरस्कार नहीं होता। किसी कवि की आलोचना हो लेकिन एक बार जिस कवि को जिस स्थान पर रख दिया जाता है उसको फिर दूसरी बार उक्त स्थान से डिगाया नहीं जाता, यह सिद्धान्त के पक्के समालोचकों का काम है। कुछ ऐसे ख़ुशामदी विवेचक भी होते हैं जिनका यह स्वभाव होता है कि वे जिस कवि की समालोचना लिखते हैं उस समय उसी को ऊपर उठाने की धुन में रहते हैं। ऐसा करने से सिद्धान्त में कभी-कभी अन्तर पड़ जाता है। ऐसे ही लोग आम को इमली और इमली को आम बनाया करते हैं। सूर के विषय में रघुराज सिंह का निर्णय मुझे हृदय से स्वीकृत है। उन्होंने कई भाषाओं के कई कवियों में सूर को श्रेष्ठ कहा है :

मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग, बेनी, शंभु, तोष, चिंतामणि, कालिदासकी।
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, शुकदेव, देव, पजन, घनआनंद घनश्यामदासकी॥
सुंदर, मुरारि, बोधा, श्रीपतिहुँ, दयानिधि, युगल, कबिंद, त्यों गोबिंद, केशवदासकी।
भनै रघुराज और कविन अनूठी उक्ति मोहिं लगी जूंठी जानि जूंठी सूरदास की॥

उक्त कवित्त में ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ रघुराजसिंह कालीदास को भी घसीट लाए हैं वहाँ तुलसी पर उनसे स्वतः कृपा हो गई है। यदि तुलसी को उन्होंने अपने कवित्त में सम्मिलित किया भी होता तो मुझे उनसे अपील करके केवल तुलसी को अवश्य छुड़ाना पड़ता। तुलसी हिन्दी साहित्य में अद्वितीय कवि हैं और सूर का स्थान

उनके बाद है। तुलसी के बाद सिवा सूर के और किसी कवि का अधिकार नहीं। कालिदास का नाम लिख कर रघुराजसिंह ने यद्यपि धृष्टता की है किन्तु शेष कवियों में सूर का वही स्थान है जैसा कि उन्होंने निर्णय किया है।

तुलसी

तुलसी की भक्ति-भूमि

हिन्दी-साहित्य में भक्ति का द्वार खोलने वाले भक्त संत कबीर थे। उसके बाद हिन्दू और मुसलमानों दोनों ने ही काफ़ी भक्ति-रस का स्रोत बहाया। विद्यापति और जायसी की वाणी तो जनता के नस-नस मे प्रविष्ट हो गई। उस आनन्द-सुधा का पान कर, उस मधुर-रस में छक कर एक दार प्रत्येक आत्मा बोल उठी—'दरियाये इश्क़ बह रहा लहरों से बेशुमार।' इसी बेशुमार को सीमा-बद्ध करने के लिए अब जनता का जी विकल था और इसके हेतु वह प्रयत्नशील भी थी; पर इस प्रयास के प्रथम सफल व्यक्ति महात्मा सूर थे। निर्गुण और सगुण मार्ग का उन्होने अच्छा समन्वय किया :

अबिगत गति कछु कहत न आवै।

सब बिधि अगम बिचारहिँ तातैं सूर सगुन पद गावै॥

सत्-चित्-आनन्द के अलौकिक एवं अलख विग्रह को सूर ने मूर्तिमान् सौन्दर्य के रूप में रक्खा। लीला पुरुषोत्तम की विमुग्धकारी छवि देख उनका हृदय आनन्द-परिप्लावित हो उठा। कृष्ण का वह लुभावना रूप और उनकी वे आनन्द-विधायिनी लीलाएँ आज भी बिसारे नहीं बिसरतीं। नन्द का छोटा-सा बालक जिस पर सहस्रों व्रज-बालाओं ने अपने हृदय को चढ़ाया और अपने प्रणय-पाश में बाँध रखने

का प्रयत्न किया, उसकी नटखट लीलाओं ने तो उनके अन्दर और स्फूर्ति भर दी। ज्योंहीं वंशी की आवाज़ गोपियों के कान में पड़ती त्योंहीं वे आत्म-विभोर हो दौड़ पड़तीं। जब कभी रास का समारोह होता, उनका हृदय आनन्दित हो उठता। यदि संयोगवश कृष्ण से उनकी भेंट रास्ते में अचानक हो जाती तो तत्कालीन छीना-झपटी अत्यन्त हृदयहारी होती। इसके सिवा गोदोहन, धेनु-चारण, चीरहरण, माखन-चोरी और लीला-विहार भी कृष्ण का दर्शनीय था। सब कुछ ठीक था। फिर भी एक कमी थी। वह यह कि पुरुष के रूप में ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो सकी थी। कृष्ण के समस्त आचरण लीलामय थे, वे सर्व-साधारण के लिये सुलभ न थे और हमें ज़रूरत थी तो ऐसे चरित्र की जो मानव-मात्र का पथ-प्रदर्शक हो, जिसमें पुरुषत्व के सभी गुण विद्यमान हों। भाग्यवश राम का ऐसा ही चरित्र एक महात्मा को दीख पड़ा और उन्होंने झट उसको लेकर सबके सम्मुख समुपस्थित किया, प्रत्युत् कहा भी :

भरि लोचन विलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निरगुन उपदेसा॥

कृष्ण यद्यपि सोलह कला के अवतार थे और राम बारह कला के; लेकिन तुलसी ने राम के चरित्र को इतना विशिष्ट बनाया कि उनके सामने सूर के कृष्ण सीमित एवं निम्नतर हो गए। सच्चिदानन्द के आनन्द-स्वरुप को लेकर सूर ने केवल सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना की थी; किन्तु तुलसी ने सत, चित् और आनन्द तीनों स्वरूपों को लेकर शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना की। इन्हीं शील, शक्ति और सौन्दर्य ने आगे चल कर काव्य-क्षेत्र में सत्य, शिव और सुन्दर का रूप

धारण किया। कृष्ण के लिये सूर ने बराबर 'हरि' शब्द का प्रयोग किया और अन्ततः प्रमाणित किया कि कृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार थे। पर श्रद्धालु भक्त तुलसी को कोई राम के समान बड़ा दृष्टिगोचर नहीं हुआ। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो राम के किङ्कर बन गए। राम साक्षात् परब्रह्म हुए और तुलसी उनके दास। और राम का स्वभाव कैसा हुआ—यह देखिए :

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन दल सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहुँ लखेउ न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए को पछिताउ॥
भव धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतो न अनत समाउ॥
कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि-सेवा बस भए कनौड़े कह्यौ पवन-सुत आउ।
देबे को न कछू ऋनिया हौं धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव-विभीषन तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥

निज करुना-करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम सुनत जस बरनत सुनत कहत "फिरि गाउ" ॥
सुनि सीतापति सील सुभाउ ॥ टेक ॥

तुलसी की सेवा-भावना—तुलसी की भक्ति सेवा-भाव की थी। सेवा-भाव का स्वरूप यह है कि उसमें भक्त की भावना यावत् दिशाओं से भटक कर एक-मात्र स्वामी के सेवा-कार्य से ही परितृप्त होती है। वह चाहता है कि आजीवन प्रभु के सान्निध्य में रह कर उनकी परिचर्या करता रहे। इससे बढ़ कर उसके लिए सौभाग्य की दूसरी कौन-सी बात होगी। और उसमें भी तुलसी की इच्छा तो राम के चरण की सेवा ही तक सीमित रही :

तुलसी चाहत जनम भरि, राम-चरन-अनुराग।

राम-भक्ति की यह विशेषता है कि उसमें सिर्फ़ सेवा-भाव का ही स्फुरण हो सकता है, किन्तु उसी में भक्त उसकी चरम सीमा पर जा पहुँचता है। जीवन के समस्त भाव इसी 'एक' को पाकर अत्यधिक विकासोन्मुख होते हैं। राम में 'सेवा' स्वभावतः स्फुरित होने का कारण यह है कि राम महाराजाधिराज हैं। उनका अपना एक अलग दरबार है जिसमें चाहे कोई जाय, नौकरी मिल ही जाती है। राम के पास सभी सेवक हैं, सभी नौकर हैं। उनके सभी अनुज जिन्हें 'सख्य' का अधिकारी होना चाहिये था, वहाँ सेवक हैं—कोई चमर ढल रहा है, कोई पर्ण कुटी का पहरा दे रहा है। उनके माता-पिता जिनके हृदय में 'वात्सल्य' लबालब भरा रहना चाहिये था, राम से कहते हैं :

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन-सनेहु ।
सोइ बिवेक सोइ रहनि प्रभु, हमहि कृपा करि देहु ॥

राम की भार्या स्वयं श्री सीता को लीजिये जो 'माधुर्य' की उपासिका थी । 'माधुर्य' सब भावों का सम्राट माना गया है और है भी । पर राम के शाही दरबार में इसका भी कुछ मूल्य नहीं । सीता राम की पत्नी थीं । राम उन्हें पत्नी रूप में प्यार भी करते थे । लेकिन सीता ने अपने को राम की दासी ही घोषित किया । बड़ी ही मुसीबत थी कि राम जैसे शान्त-गम्भीर पुरुष के सामने पत्नी कहलाने का साहस नहीं पड़ता था । देखिये सीता किन शब्दों में निवेदन करती है :

मोहि मग चलत न होइहि हारी । छिन छिन चरन सरोज निहारी ॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहउँ । मारग-जनित सकल स्रम हरिहउँ ॥
पाँय पखारि बैठ तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माँहीं ॥
स्रम-कन सहित स्याम तनु देखे । कहँ दुख-समउ प्रानपति पेखे ॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥

राम की भक्ति अदब-क़ायदे से ओत-प्रोत है । वहाँ जो जिस वस्तु का वास्तविक अधिकारी है, उसे अपने पाये हुए अधिकार को घोषित करने का साहस नहीं है । सीता जिस प्रकार अपने को पत्नी घोषित करने में सकुचाती थी उसी प्रकार हमारे गोस्वामी जी भी सेवक कहलाने में भयभीत होते हैं । राम का सेवक तुलसी ? भक्ति-भावना की सीमा पार हो गई न ?

हौहुँ कहावत सब कहत, राम सहत उपहास ।
स्वामी सीता नाथ से, सेवक तुलसीदास ॥

शायद तुलसी राम के अन्य सेवकों को देखते थे और उनसे अपनी तुलना करते थे। उस तुलना में उनका स्थान सब से नीचा पड़ता था, अतः उनका हृदय काँप जाता था। सचमुच जब हनुमान-सा सेवक राम को सुलभ है तो फिर अन्य सेवकों का स्थान ही क्या है ? तब तो तुलसी राम के दासानुदास हैं तथा राम उनके स्वामी के भी स्वामी हैं। सबसे विशेष बात तो यह है कि 'राम ते अधिक राम कर दासा' और जब ऐसा है तो तुलसी की वन्दना धन्य है। 'रघुपति वरदूतं वातजातं नमामि।'

राम का सेवक कैसा हो, इसका उदाहरण तुलसी ने हनुमान के चरित्र में दिया। हनुमान एक सच्चे स्वामिभक्त थे। उनकी सेवा से रीझ कर स्वामी सपत्नीक ऋणी हो गये। सेवक ने अपने सेवा-बल से समस्त परिवार को प्रसन्न कर दिया। राम, सीता, लक्ष्मण और भरत सब के सब ने उसकी प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की। राम के घर में ऐसा कौन था जो हनुमान का ऋणी न हो ? राम की सेवा की उदात्त वृत्ति हनुमान ने दिखाई अथवा तुलसी को ऐसा ही दिखाना अभीष्ट था। 'मानस' की रचना कर अथवा अपने अन्यान्य ग्रन्थों की रचना कर तुलसी यही साबित करना चाहते थे कि 'राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी' हैं। राम और शिव में अन्तर नहीं है। राम के सेवक शिव हैं और शिव के सेवक राम हैं। हनुमान शिव के अवतार हैं। राम की सेवा ब्रह्मादि करते हैं लेकिन जिस उत्कृष्टता से रुद्रावतार मारुति कर सकते हैं उतनी सफ़ाई से अन्य कोई नहीं। और दूसरे देवताओं के साथ चाहे कोई सम्बन्ध जैसा भी रक्खे, पर राम से :

सेवक-सेवा भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

तुलसी के भक्ति-क्षेत्र में सेवा-भाव का चरम उत्कर्ष हुआ है। इस भाव के समक्ष 'पञ्चधा' के सभी भाव उन्हें फीके लगे हैं। एक इसी भाव का प्रतिपादन उन्होंने हर कहीं किया है। ऊपर के वाक्य से तो ऐसा विदित होता है कि सेवा-भाव के बिना भव-सागर से उद्धार ही नहीं हो सकता। तुलसी का उक्त वाक्य सिद्धान्त रूप में मान्य है। उनके जितने प्रमुख पात्र हैं सबने इसी सेवा-भाव की पुष्टि की है। भुशुण्ड जी ने तो यहाँ तक कह डाला है:

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कवि कोविद कृतज्ञ सन्यासी॥
जोगीस्वर तामस अरु ग्यानी। धर्म-निरत पंडित बिग्यानी॥
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामि॥

आप पूछ सकते हैं कि तुलसी या उनके सभी पात्र सेवा भाव पर इतना क्यों कर झुके हुए हैं। उत्तर में निवेदन है कि उनके भगवान् राम को यही भाव प्रिय है। राम ने सर्वत्र इसी भाव की प्रशंसा की है। भुशुण्ड से तो उन्होंने समझा कर कहा था कि:

सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबतें अधिक मनुज मोहि भाये॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँ ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लागि?

और इसके अतिरिक्त:

सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय ॥

इस प्रकार अनेक बार सेवा-भाव की घोषणा राम ने श्रीमुख से की है। दो-एक का दिग्दर्शन और कीजिए। अयोध्या में सबके समक्ष बानरों और रीछों के प्रति भगवान के निम्न वचन :

सबके प्रिय सेवक ये नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥

पुरवासियों के प्रति ये सदुपदेश :

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा विस्वासा ॥

और इस भाव का प्रतिपालन करने का यह नियम है कि सबका आसरा-भरोसा छोड़ कर एकनिष्ठ होकर स्वामी की सेवा की जाय :

भानु पीठ सेइअ उर आगी। स्वामिहिं सर्व भाव-छल त्यागी ॥

लौकिक नियमों का प्रतिपालन—भक्ति की अनन्यता महात्मा सूरदास जी की सराही जाती है। उस सराहन में उनका सुप्रसिद्ध और आदि पद 'हरि-हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ' उपस्थित किया जाता है। अनन्यता का ऐसा पद तुलसीदास का भी है। वह ग्रंथ के आरम्भ में नहीं है, बीच में है। उसके सिलसिले में गोस्वामी जी ने समस्त संसार को 'सियाराम' मय समझ कर सप्रेम नमस्कार कर डाला है। इससे सिद्ध है कि उनकी राम-भक्ति सूर की कृष्ण-भक्ति से अनन्यता में किसी भाँति हीन नहीं थी। तुलसी राम के अनन्य भक्त थे तभी उनकी लेखनी से जो कुछ निकला, राम पर निकला। जहाँ राम नहीं और जिसमें राम-रस नहीं उसे वे सीठी समझते थे। उनका कहना था :

जो मोहि राम लागते मीठे।

तौ नव रस षट रस अनरस रस ह्वै जाते सब सीठे ॥

पर सुख की बात यह थी कि उनकी अनन्यता लोक के नियमों का प्रतिपालन करती हुई चलती थी। उनकी भक्ति एकान्तिक साधना नहीं थी जिसमें अपने बनने-बिगड़ने का सवाल रहता है। उनकी भक्ति लोक-हितकर थी। लोक की व्यवस्था भंग करने वाली भक्ति को वे भक्ति नहीं समझते थे :

स्रुति-सम्मति हरि भक्ति-पथ, संजुत बिरति बिबेक।
ते परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

तुलसीदास लोक की मर्यादा को भंग करने वाले नहीं, वरन् उसका सुव्यवस्थित रूप देने वाले थे। यही कारण है कि 'मानस' जैसे विशाल ग्रंथ की रचना करते समय उनका ध्यान बराबर लौकिक नियमों पर रहा। सनातन परिपाटी के अनुसार उन्होंने ग्रंथ का आरम्भ गणेश-वन्दना, सरस्वती-वन्दना, गुरुवन्दना तथा अन्यान्य वन्दनाओं के साथ बड़े समारोह से किया। संतों के साथ असंतों की भी उन्होंने प्रार्थना की। अखिल विश्व के कण-कण का उन्होंने स्मरण किया। सब कुछ बिलकुल वैसा ही किया जैसा कि एक पहुँचे हुए संत के लिये आवश्यक था। पर इसका मतलब यह नहीं कि वे असंत और संत में भेद नहीं मानते थे या प्रत्येक वस्तु का विलग विश्लेषण नहीं जानते थे। तुलसी की जैसी दुनिया में विचरण करने वाली पैनी सूझ शायद ही किसी को मिली हो। वे पारखी थे। उन्हें 'स्याम रूप सुचि रूचिर कसौटी' प्राप्त हो गई थी। उसी पर घिस कर वे प्रत्येक वस्तु को परखा करते थे। दुनिया के किस अंग पर तुलसी की दृष्टि न गई ? समाज के हर पहलू का जितना सूक्ष्म निरीक्षण तुलसी ने किया, उतना किसी ने नहीं। नीति के अर्थ पर जिस

सफ़ाई के साथ तुलसी ने प्रकाश डाला उस सफ़ाई के साथ आज तक किसी ने नहीं। तिस पर अपनी सामञ्जस्य-बुद्धि के बल से उन सब में उन्होंने कर्म, ज्ञान और उपासना का पर्यवसान किया। तुलसी की वाणी हर विषय पर कुछ न कुछ निकली। भक्त और कवि का स्वरूप तो उनका विशिष्ट है ही, साथ ही वे हमारे सामने एक कुशल कलाकार, एक महान् नीतिज्ञ, एक बड़े उपदेशक तथा एक निपुण नागरिक के रूप में आये। उनकी ख़ास-ख़ास बातें ख़ास-ख़ास वर्गों के लिये ही हैं। इसी से कतिपय स्थानों में उनकी वाणियों की संगति नहीं बैठती। एक स्थान पर सत्संग की महिमा दिखाने के लिये उन्होंने 'पारस परसि कुधातु सुहाई' कहा है जो स्मृति के निम्न अङ्ग की पुष्टि करता है:

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्या तथैव च॥

फिर दूसरे स्थान पर शठ के सुधरने की आशा नहीं वरन भीषणता दिखाने के लिये उन्होंने कहा है—'नीच निचाई नहिं तजै जो पावै सतसंग।' शब्दार्थ पर लड़ने वाले तार्किक उक्त दोनों वाक्यों को लेकर आसानी से लड़ सकते हैं। ऐसे ही लोग 'मोह न नारि नारि के रूपा' तथा 'देखि रूप मोहे नर नारी' जैसे तुलसी के भावमय वाक्य लेकर लड़ा करते हैं। पर तुलसी की वाणी लड़ने या लड़ाने वाली नहीं है। वे अत्यन्त गहन है, विचारणीय है। हमें उन पर काफ़ी विचार करना होगा। और तब तुलसी को भला-बुरा कह सकेंगे। समाज में खलबली मचाने वाली तुलसी की निम्न चौपाई भी अवश्य विचारणीय है:

ढोल, गवाँर, सूद्र, पशु, नारी । ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

प्रथम 'ताड़न' शब्द ही श्लेष है जिसके कारण इस चौपाई का योग समाज में न लग कर काव्य-क्षेत्र के भीतर लगेगा। दूसरे गोस्वामी जी थे वैरागी और जगत के सच्चे हितैषी। जगत में कल्याण तभी होगा जब कि नासमझों पर दबाव होगा। जो स्त्रियाँ स्वयं विद्योत्तमा हैं अथवा जो शूद्र स्वयं रैदास हैं उनकी चर्चा तुलसी नहीं करते। उनका यह वचन उन्हीं लोगों के लिये है जिनका सुधार आवश्यक है। फिर शूद्र की परिभाषा भी तो तुलसी ने नहीं लिखी। स्मृति के उक्त वाक्य से तो कर्म ही इसका यथेष्ट परिचायक है। हाँ एक बात तुलसी को अवश्य खटकती थी। वह थी अनधिकार चर्चा। जब हम शूद्र हैं तो ब्राह्मणों की निंदा हमारे लिये अनुचित है और समकालीन युग में यह हो रहा था—'वादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम ते कछु घाटि?' ऐसी परिस्थिति में तुलसी को बाध्य होकर कहना पड़ा—

पूजिय विप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुन-गन ग्यान प्रबीना ॥

उक्त चौपाई चाणक्य के 'पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।' का भावानुवाद भी है। तुलसीदास स्वयं ब्राह्मण थे। इस कारण ब्राह्मणों की भी काफ़ी ख़बर ली है। सरल प्रकृति के साधु तुलसी को पक्षपात से क्या मतलब? यदि यही बात होती तो वशिष्ठ के साथ 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा' को अंक भर क्यों मिलाते और ब्राह्मणों के लिये ऐसे कर्कश शब्द क्यों लिखते? :

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषली स्वामी ॥

गोस्वामी जी कट्टर मर्यादावादी और सच्चे लोक-हितैषी थे। संसार के मंगल की कामना उनके चित्त में सदैव रहा करती थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र को हाथ में लिया और जगत के सारे सम्बन्धों और व्यवहारों को दिखाया। माता कैसी होनी चाहिये, पिता कैसा होना चाहिये, पुत्र कैसा होना चाहिये, पत्नी कैसी होनी चाहिये आदि-आदि सभी बातें जगत के आचरण के लिये उन्होंने रक्खीं। मैत्री का तो सुन्दर स्वरूप तुलसी ने आँका। मित्रों को चाहिये कि तुलसी के निम्न वचन से लाभ उठावें और अपनी मैत्री की परिपुष्टि करें :

जे न मित्रदुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पावक भारी॥

आत्म-सम्मान (Self-respect) या आत्म-गौरव का भी तुलसी ने अच्छा उदाहरण दिया। स्वयं उनके अपने दिल में रहता था—'भलि भारत भूमि भलो कुल जनम समाज शरीर भलो लहिकै।' राम के लिये भी वे आत्म गौरव के ये अवसर लाये :

'जो मैं राम तो कुल सहित कहहिं दसानन आइ।'

वर्ण और आश्रम की व्यवस्था ठीक रहे, सभी अपने-अपने कर्म में निरत रहें इसकी चिन्ता लोक-व्यवस्थापक, महात्मा तुलसी को बहुत थी। इसी के लिए उन्होंने राम-राज्य की स्थापना की। राम-राज्य ही सुराज्य हुआ। आज का स्वराज्य तो उसका विकृत रूप है। उस राम-राज्य में 'बयर न कर काहू सन कोई' और 'बरनाश्रम निज-निज धरम निरत बेद-पथ लोग।' इसी कारण गीता में भगवान कृष्ण ने भी कहा

था—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।' इस प्रकार गोस्वामी जी का लौकिक नियमों का प्रतिपालन बहुत ही उच्चकोटि का हुआ है।

तुलसी के अन्दर आत्म-विश्वास भी कूट-कूट कर भरा था । आत्म-विश्वास की उत्पत्ति आत्म-गौरव से हुआ करती है । जैसा कि ऊपर आत्म-गौरव का प्रसंग आ चुका है उससे पाठक तुलसी के गौरव का अन्दाज़ लगा सकते हैं । तुलसी 'मानस' लिखने बैठते हैं । ऐसे समय पर भी उनका ध्यान अपनी लघुता पर रहता है पर थोड़े समय के ही लिये । तत्पश्चात् चट वे लौकिक क्षेत्र में आकर अपना और अपने 'मानस' का मूल्य आँकते हैं । वे कहते हैं :

खल परिहास होइ हित मोरा । काग कहहिं कल कंठ कठोरा ॥

और अपनी कविता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ विश्वास है 'उपजहिं अनत अनत छबि लहहिं ।' इसी से उन्होंने 'मानस' लिखा नहीं तो उनको ज्ञात ही था 'जो प्रबन्ध नहिं बुध आदरहीं । सो श्रम बादि बाल कवि करहीं ॥'

जो महात्मा लोक को लेकर चलता है उसे लोक के साथ भयङ्कर युद्ध करना पड़ता है । ईसा, मुहम्मद इत्यादि अनेक धार्मिक क्रान्ति-कारियों की जीवनी इसकी साक्षी है । तुलसी के समय निर्गुणी फ़कीरों का खूब ज़ोर था । अतः पहली लड़ाई उन्हीं से तुलसी को लेनी पड़ी और उसमें उन्होंने विजय भी पाई । इसके दो दृष्टान्त हैं :

(क) **तुलसी अलखहिं का लखै ।**

(ख) **अन्तर्जामिहुँ ते बड़ बाहरजामी हैं राम जो नाम लिये ते ।**
पैज पर प्रह्लादहूँ को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते ॥

और इसी से 'प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब से सब पाहन पूजन लागे।'

यह हुआ पत्थर-पूजन का महत्व और सगुण भक्ति का महत्व। इस सगुण भक्ति में भी कतिपय विभाग और उप-विभाग थे। प्रथम विभाग जो खलबली मचाये हुए था वह था शैवों का। शैव लोग वैष्णवों से काफ़ी झगड़ रहे थे। इस सम्बन्ध में तुलसी ने डाँट-डपट की आवश्यकता न समझी। उन्होंने चट मेल-मिलाप कराना आवश्यक समझा। इस हेतु उन्होंने विष्णु और शिव को एक प्रामाणित कर दिया जैसा कि कहीं कह चुके हैं, राम शिव के दास निकले और शिव राम के दास हुए। राम ने कह दिया 'शंकर प्रिय, मम-द्रोही, शिव द्रोही, मम दास।' ऐसे लोगों को मैं कड़ी सज़ा देता हूँ। हाँ, निर्गुण फ़कीरों की तरह तुलसी ने भूत-प्रेत पूजने वालों को डाँटा था। भरत के मुख इसकी निकृष्टता तो सिद्ध ही है :

जे परिहरि हरि हर चरन, भजहि भूत घन घोर।
तिन्ह की गति मोहि देहु बिधि, जो जननि मति मोर॥

अब रहे वैष्णव। उनमें भी कृष्ण-भक्त और राम-भक्त कभी-कभी बारह कला और सोलह कला लेकर लड़ जाते थे। इसके समन्वय में तुलसी ने कहा कि 'जानत जाने जोइये, बिनु जाने को जान ?' और 'जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहु' उसी के द्वारा उसका उद्धार हो सकता है। चाहे कृष्ण हों चाहे राम हों, किन्तु भक्त यदि एक निष्ठ है तो कृष्ण भी उसके लिये राम हैं और राम भी उसके लिये कृष्ण हैं। इसका प्रमाण तुलसी ने दिखाया :

'तुलसी मस्तक जब नमै, धनुष बान लो हाथ।

तुलसी-सा लोक-हितैषी भक्त दूसरा कौन हुआ जिसने संसार को सुधारा, स्वयं कष्ट सह कर सुधारा। उन्होंने किसी को फटकारा, किसी को दुलारा और किसी को सदुपदेश मात्र ही दिया। दुष्टों और पाखंडियों को देख कर तो उनका शरीर जल जाता था। 'पर द्रोही पर दार-रत पर धन पर अपवाद' ऐसे लोगों को वे 'पावर पापमय' शरीर-धारी समझते थे। रावण चूँकि राम की स्त्री को हर ले गया था इससे पर-स्त्री को देखने वाले मनुष्य को तुलसी रावण-सा समझते थे। समाज-सुधारक की निम्नवाणी कितनी हृदय-स्पर्शी है:

सो पर नारि लिलार गोसाँई। तजिय चौथ चँदा की नाँई॥

स्वभाव और संस्कार—आज तक प्रायः जिन लोगों ने उन्नति के शिखर पर अथवा अवनति के गर्त्त में प्रस्थान किया है उसके मूल में उनका स्वभाव और संस्कार ही रहा है। स्वभाव के सम्बन्ध में शास्त्रों ने यहाँ तक उल्लेख किया है कि उसका नाश प्रलय में भी नहीं होता। जब दूसरी सृष्टि होने लगती है तब परमात्मा उसी पूर्व स्वभाव का आधार लेकर सृष्टि-कार्य में अग्रसर होते हैं। स्वभाव की महत्ता इतने ही से सिद्ध है कि वह जीवन-पर्यन्त ही नहीं रहता अपितु प्रलय-पर्यन्त और उससे भी अधिक तब तक रहता है जब तक परमात्मा रहता है। वह परमात्मा का अंगी स्वरूप हैं। उन्हीं में घुला-मिला वह सतत विद्यमान है। मानव जब चाहे उसे अपने में लीन कर ले। वह उसी के लिये प्रत्येक समय प्रस्तुत रहता है। गोस्वामी जी ने थोड़ा-सा स्वभाव के स्वरूप पर संकेत किया है:

जाकर जवन सुभाव छुटै नहिं जीव से।
नीम न मीठी होय सींचै गुड़ घीव से॥

और संस्कार स्वभाव से निम्नस्तर की वस्तु है। यह आदत से बड़ा है और स्वभाव से छोटा है। यह एक प्रकार के बनाने या बिगाड़ने वाला संस्कार है। इसी के द्वारा मनुष्य उत्तरोत्तर विकसित होता है अथवा संकुचित होता है। बनाने वाला संस्कार मनुष्य को प्रति जन्म बढ़ाता चला जाता है और अन्त में बनने की पराकाष्ठा पर लेकर छोड़ देता है। बिगाड़ने वाला संस्कार वैसे ही प्रति जन्म घटाता चला जाता है और अन्त में अस्तित्व को बिल्कुल लापता करके छोड़ता है। संस्कार का क्रम मानव के दोनों तरफ़ चल रहा है। कोई बन रहा है, कोई बिगड़ रहा है। तुलसी बनने वाले थे। उनका संस्कार उन्हें अनेक जन्मों से बना रहा था। एक ही जन्म में वे थोड़े इतनी दूर पहुँच गये थे। विनय-पत्रिका के निम्न पद में अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार की ओर उन्होंने इशारा किया है—'ऐसेहि जन्म समूह सिराने।' पर उन अनेक जन्मों के व्यतीत होने पर तुलसी का भाग्य उदय हुआ और उन्होंने 'चिंतामनि' को पहचाना। तुलसी एक बने हुए और पहुँचे हुए संत थे। उनकी पहुँच साधारण जनता की पहुँच के बाहर थी, उनका अनुभव अगाध था, उनका पाण्डित्य अथाह था, उनका रहन-सहन विशिष्ट था, उनका हृदय कोमल था तथा उसकी कोमलता नवनीत से चढ़ी-बढ़ी थी क्योंकि उनकी निज की वाणी इसे चरितार्थ करती है :

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पर कहै न जाना॥

इस प्रकार गोस्वामी जी का हृदय अत्यन्त स्वच्छ, कोमल और सरल था। वे एक शांत प्रकृति के मनुष्य थे। नम्रता और सादगी उनकी अपनी चीज़ थी। अचार-विचार उनका बराबर और पूर्ण था। धर्म की तो मानो वे साक्षात मूर्त्ति थे। अधर्म और अनाचार देखना उनके लिये असाध्य था। यही कारण था कि कलियुग के पाखण्ड, दम्भ, अभिमान, अनधिकार चर्चा आदि उनसे देखे न गये और उनकी उन्होंने कड़ी आलोचना की। बस, जहाँ अवसर मिला उन्होंने इसकी बड़ी खिल्ली उड़ाई। इसके विपरीत सत्संग, सदाचरण, संतस्वभाव की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

तुलसीदास सत्यनिष्ठ और परम दयावान भक्त थे। करुणा का संचार उनके हृदय में शीघ्र से शीघ्र हो जाता था। ऐसे साधु स्वभाव और उच्च संस्कार के व्यक्ति का स्पर्श पाकर वसुन्धरा इस समय धन्य तथा पावन हो गई थी। महात्मा जी स्वयं बोले भी थे :

यह भारत खंड समीप सुरसरि, थलो भलो, संगति भली।

दैन्य और विनय तो तुलसी में इतना था कि इसी कारण वे ख़ुशामदी कहे जाते हैं। तुलसी ख़ुशामदी अवश्य हैं। लेकिन वह किस के सामने? आप के सामने? अपने मालिक राम के सामने उनको चाहे आप जो समझ लें। वहाँ वे दीन-हीन तथा परम अकिंचन व्यक्ति हैं। पर जहाँ वे उनसे अलग होते हैं, एक क्षण ही के लिये सही, कि चट उनका अपना व्यक्तित्व झलकने लगता है और तब 'तुलसी' तुलसीदास हो जाते हैं। लेकिन इसमें भी वे रघुनाथ जी की कृपा ही मानते हैं।

तुलसी के स्वभाव और संस्कार के भीतर सबसे विशेष बात थी उनकी सामञ्जस्य-बुद्धि। तुलसी अपनी सामञ्जस्य-बुद्धि के लिये अत्यधिक विख्यात् हैं। लोक और परलोक दोनों का सम्मिश्रण तुलसी के ही हाथ से हो सकता था। भला और बुरा दोनों को तुलसी ही वास्तव में समझते थे और जानते थे कि यह उभय पक्ष दुनिया में बराबर रहेगा। उनको मिला कर ले चलना ही मानव-हृदय का कर्त्तव्य होगा। तुलसी बराबर इस पर आरूढ़ रहे :

जड़-चेतन गुन दोषमय, विस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार॥

प्रेम और साधक—संस्कार और स्वभाव से तुलसीदास ने यह लोक तो बनाया ही, साथ ही अपनी अखण्ड साधना द्वारा अपना अगला जीवन भी उन्होंने बनाया। राम का अनन्य प्रेम लेकर उन्होंने साधना के क्षेत्र को पूर्ण किया। वह प्रेम भी कोई ऐसा-वैसा नहीं था—वह प्रेम था तुलसी और राम का; चातक और घन का। प्रेम की पूर्ण अभिव्यंजना करने के लिये तुलसी ने चातक को पकड़ा। वस्तुतः चातक ही प्रेमी है। ऐसा अटल सिद्धान्त किसका है?

नहिं याचत नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।

बारह मास एक स्वाति-बूँद की रट लगाने वाला चातक सचमुच बड़ा प्रेमी है। दूसरे जल को वह मर जाने पर भी पान नहीं कर सकता। उसके कुल में यही शिक्षा भी दी जाती है। जन्मते ही चातक अपने बच्चे को सिखाते हैं 'हमरे कुल की बानि है, स्वाति बूंद सो नेहु।' बचपन के संस्कार कोमल होते हैं। उस समय जो छाप

पड़ जाती है वह आजीवन बनी रहती है। चातक का प्रत्येक बच्चा इसको याद रखता है कि उसे केवल स्वाति की बूंद पीनी होगी। चाहे उसी बूँद से उसकी क्षति भी हो जाय तो भी उसकी कोई परवाह नहीं। प्रेम-मार्ग का साधक साधना में आई हुई आपत्तियों से घबड़ाता नहीं। अनन्य प्रेमी चातक प्रिय के दोष से भी राग ही सीखता है :

पवि पाहन दामिनि गरज, झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि, तुलसी रागहि रीझि॥

दोहावली में तुलसीदास ने इस चातक के अनन्य प्रेम का बड़ा विशद वर्णन किया है। उनको चातक का स्वभाव और प्रेम की शैली ख़ूब पसन्द है। वे स्वयं अपने लिए उसी प्रेम को—एकंगा प्रेम को चुनते हैं और उसका अनुसरण करते हैं। तुलसी चातक का स्वभाव पा जाएँ, इसी की उन्हें भूख है। प्रेम की परिभाषा तुलसी ने चातक से सीखी। प्रत्युत् उन्होंने बताया कि चातक ही 'तिहुँ लोक' और 'तिहुँ काल' में एक-मात्र प्रेमी है। उसकी साधना भी परम अनुकरणीय है :

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

तुलसी बड़े अनुभवी साधक थे। अपने साधना-पथ का परिचय उन्होंने अपने ग्रंथों में बिखेर दिया है। ऐसे परिचय और जगह तो कम किन्तु विनय-पत्रिका में बहुत हैं—विनय पत्रिका वास्तव में देखी जाय तो तुलसी की राम-कहानी सिद्ध होगी। रामचरित्र तो न मालूम

तुलसी ने कितने लिखे—एक से एक विशद और एक से एक ललित, पर अपनी जीवनी लिखने के लिए भरपूर क्षेत्र उन्होंने विनय-पत्रिका का लिया। विनय-पत्रिका की विनतियाँ यदि निकाल दी जाएँ तो शेष समस्त पद तुलसी के अपने होंगे। साधक की प्रत्येक अवस्था पर एक न एक पद विनय-पत्रिका में मिलेगा। उन्हें पढ़ कर स्वतः ज्ञात होगा कि किस क्रम से तुलसी बढ़ते गये हैं। तुलसी के प्राथमिक जीवन से शायद ही कोई अनभिज्ञ होगा।

तुलसी का विवाह हुआ था। उन्होंने गाहस्थ्य का सुखमय जीवन भी व्यतीत किया था। इसी कारण उस दिशा की भी उन्हें काफ़ी जानकारी थी। सच पूछिये तो उनकी पत्नी ही गुरु-सी शिक्षा देने वाली उनकी उपदेशिका सिद्ध हुई। इसी नारी की चोट खाकर तुलसी भक्त हुए थे। जब भक्त हुए तो हर समय उन्हें 'नारी' याद रहती थी। जहाँ-तहाँ नारी का उल्लेख होने का यही कारण भी है। सुना जाता है एक बार फिर लौट कर वे अपनी पत्नी से मिले थे। उस समय रत्नावली ने पूछा था :

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥

मगर जिस नारी ने तुलसी को वह 'दृश्य' दिखाया था उसकी बात वे क्यों मानने लगे। तुलसी को रत्नावली का कथन स्वीकृत न हुआ और वे अपनी विरति की पुष्टि के हेतु फिर प्रस्थान कर गये। ख़ैर, मेरा मतलब साधक की साधना से था। तुलसी को जन्मते के साथ अखण्ड राम-भक्ति मिल गई हो, सो बात नहीं थी। हाँ जन्म

के समय एक बार 'राम' उन्होंने कहा था। इसी बोल के अनुसार माता-पिता ने उनका नाम 'राम बोला' रक्खा था। फिर गुरु नरहरि स्वामी ने 'राम बोला' नाम को तुलसी में परिणत किया। अपने साथ वे काशी भी लेते गये। ऐसे गुरु के सहवास में रह कर तुलसी ने बहुत ज्ञानार्जन किया। 'कथा सो सूकर खेत' भी सुनने को उन्हीं से उन्हें मिली थी। फिर भी संसार का रंग ही कुछ ऐसा है कि 'काजल की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय, एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।' तुलसी गुरु के साथ सम्हल चुके थे तब भी विवाहादि अनेक पचड़े में पड़ गये। इतना ही नहीं, साधना के पथ में भी उनका मन डगमगाता रहता था। मन बड़ा 'दुर्निग्रह' है न। तुलसी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसको काफ़ी जीतने की कोशिश करते हैं किन्तु सभी व्यर्थ। वे परेशान होकर कहने लगे :

मेरो मन हरिजू हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव नीजै॥

× × ×

हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

गीता का सिद्धान्त जिसे डंके की चोट कृष्ण ने अर्जुन को समझया था तुलसी ने काट दिया और यह साबित किया कि मन तभी वश में किया जा सकता है जब उत्प्रेरक परमात्मा हों। वैराग्य और अभ्यास से तुलसी वश करते-करते हार गये, परिणाम कुछ भी न निकला और जब परमात्मा की कृपा हुई तब स्वयमेव सब कुछ ठीक हो

गया। जिन तुलसी ने 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै' कहा था उन्होंने कह दिया :

अबलौं नसानी अब न नसैहौं।

आप पूछेंगे इतना विश्वास उन्हें क्यों था। इसका उत्तर है कि 'राम-कृपा भव निसा सिरानी जागे फिर न डसैहों।' जिसकी प्रतीक्षा थी वह तुलसी पा गये। यहाँ ध्यान देने की बात एक और है कि परमात्मा की कृपा या भगवत् सहयोग भी उसी को मिलता है जो कर्त्तव्य-पथ में लगता है। मान लीजिये कि तुलसीदास रत्नावली के पास भी उसी रंग में रंगे रहते तो उन्हें 'अब न नसैहौं' कहने की क्या आवश्यकता थी? कदापि नहीं। इसी से कहा गया है कि परमात्मा उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करता है। यही लगन आगे चल कर 'Where there is a will there is a way.' बन जाती है। इस राह में उसी यात्री को सफलता भी मिलती है जो नहुष की तरह,तैमूर की तरह बढ़ता है, जमीन-आस्मान के कुलावे मिलाने वाले (Grazing at the sky) राहगीर को नहीं।

'अब लौं नसानी अब न नसैहौं' यह आवाज़ मामूली साधक की नहीं है। इसके द्वारा साधक के उस स्तर का अन्दाज़ लगाया जा सकता है जो इतनी दूर पहुँच गया है जहाँ से हमारा धरातल बहुत दूर है और जहाँ से उसके गिरने की कभी सम्भावना नहीं है। तुलसी की साधना की पराकाष्ठा भी इसे ही समझना चाहिये। वैसे तो उनका गुरु-भजन-साधन और राम-नाम-साधन भी भव्य हुआ है। राम-नाम की साधना के विषय में बहुतों का मत है कि यह भक्ति की

पहली सीढ़ी है। इस सीढ़ी से चढ़कर तुलसी अटारी पर चढ़ गये थे जहाँ भगवान की दिव्य झाँकी सजी रहती है। पर पहली सीढ़ी की साधना भी हमारे लिये अत्यन्त कठिन है—उनकी जब आप व्याख्या सुनेगें तो आप को आश्चर्य होगा। नाम-भजन का यह स्वरूप है कि रात और दिन, उठते और बैठते, चलते और फिरते हर समय नाम का जाप होता रहे।। गोस्वामी जी की इस साधना पर तनिक ध्यान दीजिये :

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।

राम के प्रेम की साधना तुलसी को पसन्द थी। उन्होंने उस व्रत को जीवन भर निभाया, उसमें सफलता भी पाई। दूसरे देवताओं को भी तुलसी ने गुहराया। किस लिए? एक मात्र राम-चरण स्नेह के लिए। गणेश, शिव, सूर्य, गंगा, यमुना आदि सबसे उन्होंने एक-मात्र राम-भक्ति ही की पुकार या चाह सब के सामने तुलसी ने उपस्थित की। ऐसी अवस्था में यदि राम तुलसी को कहीं स्थान न देते तो तुलसी की क्या दशा होती? यह तो वैसा ही होता कि मन फेर करने के लिये चिनिया बादाम खाने वाला कोई व्यक्ति अन्तिम बादाम को बड़े हर्ष के साथ फोड़ता है और फोड़ते ही उसे निराशा का सामना करना पड़ता है जिससे उसकी आशा पर पानी फिर जाता है। इसीलिये तुलसी ने अन्त में राम से स्पष्ट शब्दों में कहा था :

बार बार प्रभुहि पुकारिकै खिझावतो न, जो पै मोको हो तो कहुँ ठाकुर, ठहर।

तुलसी के राम-बाल्मीकि के राम में नरत्व का प्रतिपादन किया गया था। इसका कारण यह था कि बाल्मीकि के राम उनके समकालीन थे।

उस समय खुले आम उन्हें ईश्वर कह देना ज़रा अनुचित था। दूसरी बात यह थी कि प्रसिद्ध पुरुष का मूल्य मरने पर ही आँका जाता है। मृत्यु एक ऐसी चीज़ है जिससे पुरुष का मूल्य दूना हो जाता है। बड़े लोग मरने ही पर जीते हैं। राजा अशोक के समय में बुद्धदेव शीघ्र ही मरे थे। उनको सभी लोग यही जानते थे कि वे शुद्धोधन के लड़के हैं और बड़े उच्च कोटि के पुरुष हैं। कनिष्क का समय आते-आते जनता बुद्धदेव को काफ़ी समझ चुकी थी। घर-घर उनकी मूर्ति की पूजा होने लगी थी। शुद्धोधन का लड़का सिद्ध देवता का रूप पा चुका था और आज तो वही चौबीस अवतारों की कौन कहे, दश ही अवतारों में प्रतिष्ठित है। सिद्धार्थ भगवान् बुद्ध हो चुके हैं। ठीक यही बात रामावतार के सम्बन्ध में भी घटी। बाल्मीकि के वही राम जो नर थे, तुलसी के समय में भगवान् हुए। भगवान् का अवतार उन्हें यद्यपि कतिपय भक्तों और कवियों ने भी कहा किन्तु जिस स्वरूप की उपासना तुलसी ने की और राम का जो स्वरूप तुलसी ने दिखाया वह एक विलक्षण स्वरूप है। कहने को या मानने को तो बाल्मीकि ने भी राम को विष्णु का अवतार कहा है, किन्तु तुलसी का कथन और मन्तव्य कुछ और ही है। उन्होंने राम के नारायणत्व स्वरूप को तो प्रारम्भ ही से लिया है फिर उसमें जो कुछ कमियाँ नज़र आ रही थीं उनकी भी पूर्ति उन्होंने यथा शक्ति कर दी है। प्रथम कमी यह थी कि बाल्मीकि नर से उठा कर विष्णु के बारह कला के अवतार तक राम को घोषित कर सकते थे। तुलसी ने उस बारह कला की चर्चा को उठा ही दिया और शुरू किया तो इस स्थान से कि राम कभी-कभी विष्णु के भी अवतार होते हैं।

नारद के शाप से जो अवतार हुआ था वह विष्णु का ही अवतार था। फिर जब मनु-सतरूपा ने महा तप किया तब स्वयं भगवान् ब्रह्म, जो अनादि एवं अक्षर हैं, ने राम का रूप धारण किया। उसी राम ब्रह्म की उपासना तुलसी को इष्ट थी। उसी का प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने अपनी सारी बुद्धि का व्यय किया। तुलसी सचेष्ट होकर यही दिखाना चाहते हैं कि राम ब्रह्म हैं। उनके जितने श्रोता हैं सभी को यही शंका है कि राम कौन हैं। दशरथ-सुत नर हैं, या विष्णु के अवतार, नारायण हैं या अलख निरंजन तीन लोक से न्यारे हैं। अब तुलसी अपने श्रोताओं को यही हृदयङ्गम कराने की चेष्टा कर रहे हैं कि राम का रूप, जो दुनिया मे देखा था वह तो मनुष्य का ही रूप था पर उस ऊपरी पोशाक का आवरण डाल कर जो पुरुष आया था वह वस्तुतः अलख-निरंजन तीन लोक से न्यारा ही था। यदा-कदा 'उसके' अवतार में विष्णु भी सम्मिलित हो जाते हैं जो एक प्रश्न ही अलग है। सबसे पहले इस बात का प्रत्यक्षीकरण भगवान् शङ्कर करते हैं कि राम क्या हैं। शङ्कर जी मानस के पहले रचयिता जो ठहरे :

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान-गुन-धामू॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तनु बिन परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाय नहिं बरनी॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहि मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसल-पति भगवान ॥

राम के दूसरे भक्त थे काक भुशुण्ड । काक भुशुण्ड ने भी राम-चरित्र शङ्कर जी से सुना था । सबसे पहली बार शिव ने राम का विषय पार्वती को बताया था, दूसरी बार काकभुशुण्ड को । तब से काक भुशुण्ड राम का चरित्र दूसरे भक्तों को सुनाया करते थे । लेकिन पार्वती के समान ज़बर्दस्त शङ्का करके राम-चरित्र सुनने वाले व्यक्तियों में उनके पास एक केवल गरुड़ ही गये थे । जो शङ्का पार्वती के पूछने पर शिवजी ने काटी थी वही शङ्का गरुड़ को भी थी । गरुड़ गये थे तो शिव के पास; पर 'खग समुझइ खगहि के भाषा' इससे उन्होंने उन्हें समझाया नहीं और भेज दिया काकभुशुण्ड के पास । काकभुशुण्ड पक्षी-राज को अपने यहाँ देख बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने राम की मधुर कथा उन्हें सुनाई । राम का जो स्वरूप उन्होंने आँका वह इस प्रकार है (राम के उदर की लीला देखिये) :

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा । अगनित उडगन रबि रज नीसा ॥
अगनित लोक पाल जमकाला । अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टि विस्तारा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर । चारि प्रकार जीव सचराचर ॥

जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहुँ न समाय ।
सो सब अद्‌भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाय ॥

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न विष्णु सिब मुनि दिसि त्राता॥
नर गंधर्व भूत बैताला। किन्नर निसिचर पशु खग व्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहिं भाँती॥

तुलसी परम भगवद्भक्त पुरुष थे। भक्ति-भाव से ओत-प्रोत होकर उन्होंने अपने राम के चरित्र को बड़ा ही विशद आँका। राम के समान ऊँचा तुलसी को कोई नहीं दीखा। राम उनके इष्टदेव थे। भक्त भगवान को इष्ट के रूप में भजा करते हैं। इष्ट का रूप जब भक्त तैयार कर लेते हैं तो उस रूप के समक्ष संसार के यावत रूप फीके लगने लगते हैं। तुलसी के राम जितने बड़े दीखते हैं उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि समूची सृष्टि की बागडोर राम के हाथ में है। भक्त ने इसे अच्छी तरह दिखाया है, समझाया है। उसे समझाने के लिये तुलसी हर समय सतर्क रहते हैं। कहीं यह न हो कि कोई राम को मनुष्य समझ ले अतः बार-बार कथानक में तुलसी उल्लेख करते रहते हैं कि राम ब्रह्म हैं 'भुवनेश्वर कालहुँ कर काला' हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की सामञ्जस्य बुद्धि बड़ी ही प्रखर थी। उसका उपयोग वे सर्वत्र किया करते थे। तुलसी के भाव या वस्तु के निरुपण में सर्वत्र पाठक उनकी सामञ्जस्य-बुद्धि को खोज सकते हैं। राम के स्वरूप का निरुपण उन्होंने जैसा किया है उसमें इसकी खूब अधिकता है। तुलसी का विचार ठीक ही है कि उनके राम ब्रह्म हैं पर साथ ही वे यह भी दिखाना चाहते हैं कि वे मनुष्य होकर हमारे बीच आये थे। इसी कारण तुलसी उनसे अधिक रीझे हुए हैं कि इतने बड़े पुरुष भक्तों के आग्रह पर अपना स्वरुप छोटा

बना सकते हैं। ब्रह्म राम दशरथ के लड़के हो सकते हैं जो भक्त के आकृष्ट होने का बड़ा सरल रास्ता है। राम ब्रह्म थे। जब दशरथ के घर आये तो अपना ब्रह्मत्व उन्होंने बिलकुल त्याग दिया। वे एक महान् पुरुष के रूप में आये। राम का पुरुषत्व बहुत ऊंचा हुआ। पुरुष में जितने गुण होने चाहिएँ सभी राम में विद्यमान थे। उनका पुरुषार्थ-पराक्रम नर के अनुरूप था पर था वह ऐसा कि कोई उसकी समता आज तक नहीं कर सका। शक्ति के बाद तुलसी ने उनको सौन्दर्यमय किया। राम का रूप देख कौन पुरुष या स्त्री न मोहित हुई हो। रामत्व जो उनमें था वह था उनका शील। सौन्दर्य और शक्ति के साथ तुलसी ने अपने राम में शील का निरूपण किया। इन तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा गोस्वामी जो ने राम में दिखाई। सौन्दर्य और शक्ति से राम का ईश्वरत्व टपक रहा था और शील से उनके पुरुषत्व झड़ रहे थे। पुरुष हो तो राम जैसा। राम पुरुष के आदर्श हुए। उनके आचरण पावन और निर्मल हुए। उनमें नियमों की इतनी पाबन्दी थी कि उनका अवतार ही मर्यादित माना गया, राम मर्यादा पुरुषोत्तम माने गये। संसार ने साश्चर्य राम के चरित्र देखे—उनका भ्रातृ-प्रेम, उनकी मातृ-भक्ति और पितृ-भक्ति, उनका पत्नी-स्नेह, गुरु का आज्ञा-पालन, प्रजा-प्रेम इत्यादि।

राम अपने कुल के भूषण निकले। उनका नाम सूर्य कुलभूषण रक्खा गया। कुल में जो कुछ कमी थी उसकी पूर्ति राम ने तुरंत कर दिखाई। राजा दशरथ ने जिस वस्तु को नहीं निभाया उसको राम ने निभाया। तुलसी का विचार था कि जो सामूहिक वस्तु जितनी बड़ी होगी,

उतनी ही मान्य होगी। घर की बात से लोक की बात श्रेष्ठ है। लोक-धर्म या विश्व-धर्म इसी कारण महान है। संकुचित सीमा का महत्व उससे कम है। राजा दशरथ अपनी पत्नी की आज्ञा से प्रजा को देश निर्वासन कर सकते थे और उसी को राम ने ठीक उल्टा कर दिखाया। उन्होंने प्रजा की आज्ञा से अपनी प्राणाधिका प्रिया को देश-निर्वासन कर दिया। लोकापवाद राम के लिए मरणतुल्य था। राम का विशेष गुण उनका भक्त-वत्सल होना और शरणागत-वत्सल होना था। जिस रावण ने उनकी पत्नी चुराई थी उसके भ्राता को उन्होंने जीत कर राज्य दे दिया तथा उस पर इतना प्रेम रक्खा कि अपने अनुज-शक्ति की सुध बिसर गई :

है हे कहा विभीषन की गति रही सोचभरिछानी।

अलौकिक कृत्य—जो महात्मा जितना ही बड़ा होता है उसके कार्य उतने ही अलौकिक होते हैं। प्रायः सिद्ध पुरुषों के अधिक कार्य विचित्र पाए जाते हैं। यद्यपि उनका ध्येय त्रिगुण की तिकड़म से ऊपर उठना होता है और इसी की वे साधना भी करते हैं तो भी संसार-चक्र के पचड़े में पड़ कर अथवा यों कहिये कि प्रभु की सेवा को ही निमित्त मान कर कभी-कभी वे अपने कुछ अलौकिक कृत्य प्रकट कर देते हैं। कञ्चन और कामिनी से तो वे अलग रहते ही हैं, इस कीर्ति की बू से भी अधिक घबड़ाते हैं। अतएव उनका यह व्यवसाय नहीं होता कि हर समय अपनी कीर्ति की सुगन्ध बिखेरते रहें। ऐसा जो करते हैं वे अक्सर संत नहीं दुनिया को धोखा देने वाले होते हैं। राजा प्रतापभानु की कथा में ऐसे ही एक संत के चरित्र का निर्माण

तुलसीदास ने किया है। हनुमान् की संजीवनी लाते समय रास्ते में भी एक ऐसे ही कपटी मुनी से भेंट हुई थी। ऐसे लोगों की पूजा 'भेष-प्रताप' से होती है किन्तु 'उघरे अन्त न होइ निबाहू।' फिर जो सच्चे संत होते हैं तो 'कियेहु कुबेष साधु सनमानू।' सच्चे साधु को वेशभूषा से घृणा होती है। वह सीप में मोती की तरह रहना चाहता है। तुलसीदास इसी प्रकार के संतो में से थे। वे एक सिद्ध एवं सच्चे संत थे। उनके विषय में अनेक अलौकिक बातें कहीं जाती हैं। उनमें से कुछ किंवदंतियाँ हैं और कुछ सच्ची घटनाएँ हैं। सच्ची घटनाएँ मैं उन्हीं को मानता हूँ जिनका आभास तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों में दिया है। तुलसी की वाणी पर मुझे बहुत विश्वास रहता है। यहाँ उनके कुछ ऐसे ही अलौकिक कृत्य प्रकट किये जाएँगे जिनके प्रमाण-स्वरूप तुलसी की निज की वाणी है।

तुलसी के अलौकिक कृत्यों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात है उनका राम-दर्शन। चित्रकूट में तुलसी को भगवान राम के दर्शन मिले थे। संवत् १६०७ मौनी अमावस्या बुधवार की बात है कि तुलसी को भगवान के दिव्य-दर्शन मिले थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने विनय-पत्रिका के कई भजनों में किया है। तब से उनके चित्र में राम के प्रति अद्भुत् प्रेम-संचार हो गया था। वे बराबर चित्त को याद दिलाते थे :

(क) अब चित चेति चित्रकूटहिं चल।

(ख) तुलसी तोको कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित चेतु चित करिसो।

(ग) **सब सोच बिमोचन चित्रकूट।**

दूसरी अलौकिक बात है रामचरित-मानस की रचना करने में शङ्कर-पार्वती की प्रेरणा। शङ्कर जी ने तुलसी को स्वप्न दिया था कि राम-चरित्र का निर्माण करो। तुलसी स्वप्न के अनुसार ऐसा करने ही वाले थे कि पंडितों ने उन्हें हराने के लिए अन्नपूर्णा की प्रार्थना की। अन्नपूर्णा साक्षात् तुलसी के समीप चलीं। तुलसी ने चट कहा :

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहहुँ सब, भाषा भनित प्रभाउ॥

एक समय की बात है, वैष्णवों ने तुलसीदास को नीच जाति के हाथ से प्रसाद ग्रहण करने के अपराध में जाति से पृथक् कर दिया था। तुलसीदास ने कहा कि प्रसाद कभी अपवित्र नहीं होता। इस पर कुछ लोगों ने कहा कि यदि तुलसी के हाथ से नन्दी बैल घास खा लेंगे तो हम सब को सन्तुष्टि हो जाएगी। ऐसा ही किया गया। नन्दी ने तुलसी के हाथ से घास खा ली। पीछे से गोस्वामी जी ने उन सभी को फटकार कर कहा था :

धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कह कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारन सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कुछ ओऊ।
माँगि के खाबो मसीद को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ॥

कृष्ण के राम होने की बात तो सभी जानते हैं। तुलसी के आग्रह करते ही वंशीधर धनुर्धर बन गये थे। उनके उसी रोष को

देख कर गोस्वामी तुलसीदास ने उनके लिये एक 'श्रीकृष्ण गीतावली' नामक पुस्तक लिखी थी। कुछ लोगों का कहना है कि उस पुस्तक को गोस्वामी जी ने सूरदास के आग्रह पर लिखा था। सूरदास की गोस्वामी जी से भेंट हुई थी। सत्संग भी हुआ था। बात के प्रसंग में गोस्वामी जी ने कहा था 'तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्ण-कृपाल-भगति-पथ राजी।' इस पर सूर ने उनकी अभ्यर्थना की थी :

धन्य भाग्य मम संत सिरोमनि चरन कमल तकि आयउँ।
बदन प्रसाद सदन दृगभरि लखि सुख संदोह समायउँ॥
श्री तुलसी सुचि संत समागम अद्भुत अमल अनूप।
सूरदास जीवन फल पायो दरसन जुगल स्वरूप॥

तुलसीदास जी जिस समय जीवित थे उस समय अनेक विभूतियाँ भारत वर्ष में आई थीं। सूरदास, मीरा आदि अनेकों भक्त थे। बीरबल जैसे बुद्धिमान व्यक्ति उसी समय थे तथा वे सभी महान् पुरुष तुलसीदास से मिलने आया करते थे। मीरा ने भक्ति के विषय में जब राय माँगी तो गोस्वामी जी ने 'जाके प्रिय न राम वैदेही' वाले पद को लिख कर उसका जीवन बनाया था। केशव एक दिन जब गोस्वामी जी से मिलने आये तो उन्होंने उन्हें 'दरबारी' कवि कहा और उसी आन में आकर केशव से उन्होंने 'राम चन्द्रिका' लिखाई। कहते हैं गोस्वामी जी की ही कृपा से केशव प्रेत-योनि से मुक्त हुए थे। उस समय उनकी लिखी राम-चन्द्रिका ने बड़ा काम किया था। रहीम से और टोडर से तो गोस्वामी जी की बड़ी मित्रता थी। रहीम के आग्रह से उन्होंने बरवै रामायण

लिखी थी। रहीम ने 'मानस' देख कर उसे 'वेद' और '.कुरान' की पदवी दी थी। यों तो तुलसीदास 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुन गिरा लगत पछिताना ॥' के समर्थक थे और उस पर वे सदैव आरूढ़ भी रहे किन्तु मित्र टोडर के मर जाने पर उन्होंने अपनी वाणी का प्रयोग उनके लिये किया। दोहावली में वे दो-चार दोहे संगृहीत हैं। इस प्रकार गोस्वामी जी ने बीरबल की भी बड़ी प्रसंसा की थी और कहा था कि बीरबल ने इतना बुद्धिमान होकर हरि गुण-गान नहीं किया सो बड़ी मूर्खता की। समय-समय पर उन्होंने सब को कुछ न कुछ समझाया था। उनका अवतार ही हिन्दू संस्कृति की रक्षा और पुनरुद्धार करने के लिये हुआ था। सभी लोग कहते हैं—

बाल्मीकि औतार कहत जिन्ह संत प्रचारी।

एक बार उनकी ख्याति सुन कर दिल्ली के बादशाह ने उन्हें बुला भेजा था। तुलसी उसके पास गये। बादशाह ने अलौकिक कृत्य देखने की इच्छा प्रकट की। तुलसी ने इससे इन्कार किया। इस पर रुष्ट हो कर बादशाह ने उन्हें जेल भेज दिया। तुलसी ने जेल में ही हनुमान जी को याद किया :

ऐसे तोहि न बूझिये हनुमान हठीले।

बस प्रार्थना सुनते ही हनुमान का सारा दल चला आया और बादशाह की समस्त वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। बादशाह ने इस अलौकिक कृत्य को देख कर तुलसी से क्षमा माँगी और उन्हें मुक्त कर दिया।

प्रभाव—तुलसी की लोक-पावनी भक्ति का प्रभाव सब पर समान रूप से पड़ा। उनकी वाणी हरेक व्यापार से नियोजित हो गई। उससे अलग किसी व्यापार की सत्ता न रह गयी, न रह गया उससे पृथक किसी वस्तु का अस्तित्व ही। विद्वान् से लेकर मूर्ख तक, धनी से लेकर ग़रीब तक तथा बलवान से लेकर कमज़ोर तक सभी का हृदय तुलसी की वाणी से परिप्लावित हो गया। एक मूर्ख चमार भी बैठ कर अपने द्वार पर गाने लगा :

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

भाथी चलाता हुआ एक कमज़ोर लोहार सन्तोष करने लगा :

तुलसी हाय गरीब की, हरि सो सही न जाय।
मुई खाल की स्वाँस से, लोह भसम होइ जाय॥

और जो बड़े-बड़े विद्वान थे, जिन्हें अपने पाण्डित्य का गर्व था उन्होंने 'मानस' को अकचका कर देखा जिसमें उन्हें मिला क्या ?—'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।' आपस्तम्भ वीर तो नाच उठे :

कादर मन कर एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा॥

क्रोधी भी चुप नहीं थे। 'टेढ़ जानि संका सब काहू।' और 'कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू।'

नीतिज्ञों की बुद्धि ताक पर चली गई जब उन्होंने चार प्रकार की नीति देखी। मनुष्य की नीति राम के मुख से, राक्षस की नीति रावण के मुख से, बानर की नीति सुग्रीव के मुख से और रीक्ष की नीति जाम्बवान के मुख से। दोहावली की रचना तो नीति ही दर्शाने के लिये

हुई। इस प्रकार तुलसी सब के हृदय में बस गये। सभी उनका दर्शन पाकर कृतकृत्य और धन्य हो गये। भक्त और प्रेमी तो कण्ठ में कण्ठ मिला कर नित्य प्रति गाने लगे :

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिही जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहुँ मोहिं राम॥

तुलसी की काव्य-समीक्षा

काव्यों की व्याख्या आचार्यों ने तीन प्रकार से की है। एक आचार्य का कहना है—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' इसके अनुसार काव्य तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं—अभिधो, लहणो और व्यञ्जनो। दूसरे आचार्य का कथन है—'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्।' इसके अनुसार 'श्रव्य' और 'दृश्य' दो ही काव्य के भेद होते हैं किन्तु श्रव्य-काव्य आगे चलकर अनेक भेद और उपविभेद उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य इत्यादि। रह गये तीसरे आचार्य। वे कहते हैं—'लोकोत्तरानन्ददाता प्रबन्धः काव्य नामकम्।' उनकी परिभाषा काव्य को तीन भागों में बाँटती है—गद्य काव्य, पद्य-काव्य तथा चम्पू काव्य।

काव्य के उक्त सभी स्वरूपों में काट-छाँट कर देखने से हमें पता चलता है, कि गोस्वामी तुलसीदास के प्रायः सभी काव्य 'वाच्यार्थ' हैं और हैं पद्य-काव्य। उनमें कुछ 'मुक्तक' हैं, कुछ महाकाव्य हैं और बहुत कुछ प्रबन्ध-काव्य हैं। वास्तव में तुलसीदास जी एक प्रबन्धकार कवि थे। प्रबन्ध लिखने में वे इतने कुशल थे कि छोटे प्रबन्ध से लेकर बड़े से बड़ा प्रबन्ध लिख सकते थे और लिखे भी।

हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास जी के कार्य बेजोड़ हैं। उन्होंने भक्ति परक ग्रंथ ही लेकर सही, मगर साहित्य के भण्डार को भरा है। प्रत्येक विद्वान् जब तुलसी के कार्यों का निरीक्षण करता है तो एक बार उसे अवश्य कह देना पड़ता है कि वह महात्मा सचमुच कोई अवतारिक पुरुष रहा होगा। अनेक प्रकार की पुस्तकों को धैर्य और निपुणता के साथ लिख ले जाने में साधारण आत्मा का काम नहीं है। पर दुःख के साथ सूचित करना पड़ता है कि ऐसी महान् आत्माओं की कृतियाँ अभी तक ठीक-ठीक निर्धारित नहीं की जा सकीं। अनेक कृतियों का तो अभी तक विशुद्ध स्वरूप भी ग्रहण नहीं किया जा सका। उन कवियों के प्रेमियों और भक्तों ने अपने भावानुकूल क्षेपक प्रसंग जोड़ कर उन कवियों का अस्तित्व मिटा दिया है। उन भक्तों से साहित्य के ऊपर बड़ा धक्का लगा है और सर्वसाधारण इस कारण उन कवियों की वास्तविक जानकारी से आज तक अनभिज्ञ ही रह गया है। आज के विद्वान इस दिशा में भ्रमण कर रहे हैं। हमें आशा है, वह दिन अवश्य आवेगा जब प्रत्येक कवि का वास्तविक रूप ज्ञात होगा।

तुलसी के रचे ग्रंथों की एक सूची शिवसिंह-सरोज में दी गई है। उसमें तुलसी के अट्ठारह ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। सात तो प्रबन्ध काव्य हैं—मानस-रामायण, गीतावली रामायण, कवितावली रामायण, छन्दावली रामायण (छप्पय-रामायण), बरवै रामायण, दोहावली रामायण तथा कुण्डलिया रामायण। मुक्तक और खण्ड काव्यों में ग्यारह काव्यों के नाम दिये हैं—सतसई, रामशलाका, संकट मोचन, हनुमत्-बाहुक, कृष्णगीतावली, जानकी मंगल, पार्वती मंगल,

करखा छन्द, रोलाछन्द, झूलना छन्द तथा विनय-पत्रिका। इनके सिवा हमें तुलसी विरचित निम्न ग्रंथ भी मिले हैं—श्रीराम ललानहछू, वैराग्य संदीपिनी, कलिधर्माधर्म - निरूपण तथा हनुमान-चालीसा। उक्त सभी पुस्तकों में यह निर्णय करना, कि गोस्वामी तुलसीदास की लिखी कौन कौन-सी पुस्तकें हैं, दुस्तर ही नहीं असम्भव है। फिर भी काव्य-समीक्षा के लिये उन्हीं पुस्तकों का सहारा लेना यथेष्ट होगा जिनकी प्रमाणिकता विद्वद्मण्डली में एक स्वर से घोषित है। वैसे तो समीक्षक के जीवन भर गोता लगाते रहने के लिये तुलसी का सुविशाल ग्रंथ श्रीरामचरितमानस ही यथेष्ट है।

तुलसीदास के ग्रंथों का जितना आधिक्य है उतना ही बाहुल्य उन ग्रंथों की शैली का है। उनके सभी ग्रंथ एक कारण-विशेष पर लिखे गये हैं। उनके अन्दर एक-एक रहस्य छिपा हुआ है। इन्हीं रहस्यों और कारणों के कारण उन्हें शैलियाँ भी विभिन्न अपनानी पड़ी है। समकालीन प्रचलित जितने छन्द थे, सब में तुलसी ने अपनी रचना की है और उसमें उन्हें उस क्षेत्र के बड़े से बड़े कवि के बराबर सफलता मिली है। दोहे और चौपाई में जायसी का पद्मावत परमोत्कृष्ट काव्य था। तुलसी ने उस शैली का प्रतिपालन करते हुए पद्मावत का प्रत्युत्तर श्रीरामचरितमानस लिखा। गीत शैली (Lyrics) का महाकाव्य महात्मा सूरदास रचित सूरसागर काफ़ी ख्याति पा चुका था। जब गोस्वामी जी की अनेक पुस्तकें गीतावली, कृष्ण गीतावली तथा विनय-पत्रिका गीत शैली में निकलीं तो छोटे-मोटे कवियों के गीत फीके पड़ गये। बरवै छन्द लिखने में रहीम अग्रगण्य थे। बात यह थी कि दोहे

और बरवै रहीम पसन्द करते थे और ये दो छन्द उनके हाथ से सुन्दर बनते थे। तुलसीदास से उन्होंने इन दोनों छन्दों में स्वतंत्र पुस्तक निर्माण करने को कहा था। तुलसी ने दोहावली और बरवै रामायण लिख कर रहीम को दिखा दिया कि उनका इन छन्दों पर भी पूर्ण आधिपत्य था। सचमुच तुलसी के दोहावली के दोहे रहीम के दोहों से बढ़े-चढ़े हैं। और बरवै के एक-एक छन्द अलङ्कार-प्रेमियों के मनन करने के योग्य है। बरवै का एक भी छन्द अलङ्कार की संश्लिष्ट योजना से खाली नहीं है। तुलसी की सतसई पर बिहारी की सतसई निछावर है और उनके कवित्त पर भूषण के कवित्त। रामचन्द्रिका में केशव ने फुटकल विविध छन्दों का सकलन कर गोस्वामी जी के आगे रक्खा था कि वे सभी छन्दों के निपुण ज्ञाता थे; किन्तु पिंगल पारंगत आचार्य केशव को यह पता नहीं था कि रामचन्द्रिका के द्वारा उनकी हृदय-शून्यता और प्रबन्ध-विच्छृङ्खलता प्रकट होगी। तुलसी ने दोहा, चौपाई, हरिगीतिका, तोटक, दोधक, दण्डक, गीत, सोहर, बरवै, छप्पय, रोला, कुण्डलिया, सोरठा, कवित्त, सवैया करखा, झूलना प्रभृत्त अनेकों छन्दों में अनेकों पुस्तकें लिख कर केशव को समझाया कि महाकवि एक ही जगह अपनी सारी प्रतिभा नहीं दिखाया करते। बाल-चाञ्चल्य और खिलावड़ करना कविता का उद्देश्य नहीं है। तुलसी सभी छन्दों की शैली जानते थे और उनका समुचित प्रयोग कहाँ होना चाहिए, यह भी जानते थे। लेकिन अपनी सारी जानकारी किसी एक ही पुस्तक में दिखा कर वे 'कुकवि' कहलाना नहीं चाहते थे। कवित्त-रसिकों और

अनेक प्रकार के कवियों को मुँहतोड़ जवाब देने के लिये उन्होंने अनेक प्रकार के छन्द में अनेक प्रकार की पुस्तकें लिखीं। यों मानस लिखते समय उन्होंने 'कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू' कह कर कवि होने से त्याग-पत्र दे दिया था और कवि-कर्म को बड़ा दुस्तर सिद्ध किया था :

आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥

उस कवि-कर्म की दुरुहता सब ने समझी; किन्तु तुलसी का पिण्ड कवि होने से न छूटा। तुलसी महाकवि समझे गये और उनकी कविता ऐसी समझी गई :

सरि जात संचित असंचित बिसरि जात
करि जात भोगभव बंधन कतरि जात।
तरि जात काम सरि बरि जात कोप
करि कर्म कलिकाल तीनि कंटक भभरि जात॥
भरि जात भाग भाल किंकर गोबिंद त्योंही
ज्योंही तुलसी की कबिताई पै नजरि जात।
जरि जात दंभ दोष दुखन दरारि जात
दुरि जात दरिद दुकालहू निसरि जात॥

कवि के उद्गार—काव्य के चार मुख्य अङ्ग हैं—भाव, भाषा, पिंगल तथा अलङ्कार या विचित्र उक्तियाँ। भाव ही रस का प्रदाता है। रस और भाव की सत्ता एक है। काव्य का ढाँचा अथवा शरीर है भाषा। हृदय उसका भाव है और रस उसकी आत्मा है। रस के बिना काव्य

निर्जीव रहता है, सारहीन रहता है तथा आकर्षणहीन भी रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाव और भाषा के बल पर कोई काव्य खड़ा किया जा सकता है। पर ध्यान देने की बात यह है कि लज्जा-निवारणार्थ और विशेष मर्यादा बढ़ाने के निमित्त वाह्य आवरण और सुन्दर आभरण की आवश्यकता पड़ा करती है। अतः वाह्य आवरण या पोशाक का स्थान काव्य में पिंगल का है और आभरण और भूषण की भाँति उसमें अलङ्कार और उक्ति वैचित्र्य हैं। गोस्वामी जी के काव्य में उक्त सभी काव्याङ्ग प्रचुर और समान मात्रा में विद्यमान हैं।

सर्व प्रथम हम उनके भाव-रस अथवा उद्‌गार को लेते हैं। कवि का हृदय ही भाव-रस अथवा उद्‌गार का उद्‌गम-स्थान है। जो कवि जितना ही सहृदय और भावुक होगा उसकी कविता उतमी ही सरस और भावापन्न होगी। तुलसी परम भावुक और अत्यन्त सहृदय थे। उनका हृदय समय-समय पर जगत् के कण-कण में रमा था तथा उन सभी का सामञ्जस्य उन्होंने अपने भीतर बैठाया था। इने-गिने संचारी भावों और स्थायी भावों की कौन कहे; तुलसी ने उन-उन हावों, भावों, अनुभावों और विभावों को जन्म दिया है जिन्हें देख कर मानना पड़ता है कि मानव-हृदय कभी किसी भो तेंतिस और नौ की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। साथ ही तुलसी के उन सभी उद्‌गारों की चर्चा भी इस छोटें से स्थान में नहीं की जा सकती। कुछ स्थल जो हृदय को प्रिय हैं उनका प्रसंग क्रमशः उद्धृत करता हूँ। पाठक ध्यान दें। 'श्रम' की स्वतन्त्र भाव व्यंजना जो किसी आचार्य के ज़िम्मे नहीं पड़ी, सीता-

वन-गमन के प्रसंग में मिलती है। अभी सीता पुर से दो ही क़दम आगे बढ़ती हैं कि विचित्र हालत हो जाती है—

पुरते निकसी रघुबीर-बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पुट सुखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै॥"
तिय की लखि आरतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

दूसरा स्वतन्त्र भाव राम की उदासीनता का है। राम को, या सब को यही ज्ञात था कि दूसरे दिन राम-राज्य होगा किन्तु हो गया राम-वन-गमन। माता कौशल्या राम के खिलाने-पिलाने की तैयारी करती हैं और राम उदासीन होकर जंगल की तैयारी कर रहे हैं:

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहिं मुदितमन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥
जानि सनेह बस डरपसि मोरे। आनन्द अम्ब अनुग्रह तोरे॥
बरस चारि दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाँय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥

सच पूछिये तो राम राज्य से पहले ही से उदासीन थे। जब उन्होंने सुना था कि उनका राज्य होगा तो वे सोच रहे थे:

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करन बेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगउ मन कै कुटिलाई॥

इसका स्थायित्व तब तक रहा जब तक राम रहे। लङ्का विजय

करके पुष्पकविमान पर राम सारी सेना सहित अयोध्या आए थे। वहाँ सब को रख कर कुछ दिन बाद उन्होंने भेज दिया। सभी बलात् नहीं भेजे गये किन्तु अंगद की इच्छा वहाँ हनुमान के साथ ठहरने की थी। जिसे जानकर भी राम ने लौटा दिया। हनुमान से चलती बार उस प्रेमी ने जो कुछ कहा है वह अत्यन्त हृदय-द्रावक है :

कहेउ दडंवत प्रभुसन, तुम्हहिं कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनाथ कहिं, सुरति करायेहु मोरि॥

'सुरति करायेहु मोरि' हृदय की बड़ी पुकार है। इसके लिखने का उद्‌गार तुलसी के ही हृदय में उठ सकता था। बहुधा देखा जाता है कि प्रेमी लोग प्रिय के निकट रहने वाले व्यक्ति से अपनी चर्चा चलाने का अनुरोध किया करते हैं। प्रेम की उत्कण्ठा धन्य है। गोस्वामी जी के हृदय में स्वतः भी एक बार यह भाव उठा था। उन्होंने उस बार अपने सम्बन्ध में चर्चा चलाने का अनुरोध सीता से किया था। बड़ा सुन्दर पद है-"कबहुँक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि चाइबि कछु करुन कथा चलाइ॥"

राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामी जी ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। अयोध्या-काण्ड के समस्त प्रसंग कवि हृदय के उद्‌गार की ओर संकेत करते हैं। शृङ्गार संचारी के 'व्रीड़ा' का एक सुन्दर एवं सजीव उदाहरण लीजिये। उन के मार्ग में ग्रामीण भोली-भाली स्त्रियाँ सीता से राम का परिचय पूछती हैं—'साँवरो सो सखि रावरो को है?' इस पर सीता पूरी पाबन्दी के साथ :

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥

सीता ने ऐसा सङ्कोच राम के सामने शुरु से ही प्रकट किया था। जनकपुर के स्वयंवर के दृश्य पर ध्यान दीजिये, जहाँ :

गुरूजन लाज समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि।
लगी बिलोकन सखिन तन, रघुबीरहि डर आनि॥

'लगी विलोकन सखिन तन' कितनी स्वाभाविक मुद्रा है ! 'सकुचानि' शब्द रख कर तो कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमानशून्यता भी व्यंजित कर दी है। एक तो राम और समाज की खुले आम देखने में संकोच था दूसरे डर था कि सहेलियाँ कहीं यह न समझ लें कि राम से सम्बन्ध जुड़ते ही उनका वे तिरस्कार कर रही हैं।

अस्तु, वन-गमन के दृश्य के आगे सीता जी में शृङ्गारी चेष्टाओं का विधान भी अत्यन्त निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामी जी ने किया है :

सुनि सुंदर बैन सुधारस साने, सयानी हैं जानकी जान भली।
तिरिछे करि नैन दे सैन तिन्हे, समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥

यहाँ प्रश्न यह है कि सीता की उक्त चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या विभाव में रहने वाला 'हाव'। लक्षण-ग्रंथ तो 'हाव' को प्रायः अनुभाव के अन्तर्गत रक्खा करते हैं। पर यह ठीक नहीं है। 'अनुभाव' में 'आश्रय' की चेष्टाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं। अतः 'हाव' आलम्बनगत है और कारणतः उसका स्थान 'विभाव' में ठहरेगा। 'सम्भोगेच्छा प्रकाशक भ्रू नेत्रादि विकार' हाव हैं किन्तु सीता के

विकार इस प्रकार के नहीं हैं। उनके विकार राम के साथ अपने सम्बन्ध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यंजना करते हैं। अतएव, आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण सीता के विकार 'अनुभाव' ही होंगे। पावन विकार का स्फुरण भारत की कुलवधू के सिवा अन्य स्थान में कहाँ हो सकता है?

शृङ्गार के छींटों के पश्चात् करुणा का दृश्य लीजिये। गोस्वामी जी स्वयं भी साक्षात् करुणा की मूर्ति ही थे। करुणा का जैसा प्रवाह उन्होंने बहाया, वैसा हिन्दी के किसी कवि ने नहीं। अयोध्या-काण्ड के तो समस्त प्रसंग ही करुणा-रस से ओत-प्रोत हैं। राम-वनवास से अयोध्या की सारी प्रजा, जंगल की असभ्य जातियाँ तथा पशु-पक्षी भी शोक-निमग्न हो जाते हैं। घोड़े का रास सुमन्त खींचते हैं पर वह चलता-फिरता नहीं— 'हेरि हेरि हिहनाहिं।' भरत आते हैं तो पिता को भी मरा पाते हैं। शोक की हद हो जाती है। इनके सिवा भी जानकी-हरण और लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में गोस्वामी जी ने करुणा का सञ्चार काफ़ी किया है। शक्ति का प्रसंग देखिये :

> राम लखन उर लाय लये हैं।
> भरे नीर राजीव नयन सब अँगन परिताप तये हैं॥
> कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख बचन प्रीति गथये हैं।
> सेवक सखा भगति भायप गुण चाहत अब अथये हैं॥

हास्य और बाल-बिनोद का स्फुरण उस समय हुआ है जब रावण का भेजा हुआ दूत कपि-दल में आया है। वानर उसको तरह-तरह से बना कर खेला रहे हैं। बड़े आदमियों के मज़ाक या स्मित की

बानगी आप को नारद के विवाह वाले स्वयम्वर में देखने को मिलेगी। हास्य की पराकाष्ठा देखनी हो तो शंकर जी के विवाह का विषय देखिये। हम यहाँ हनुमान की पूँछ जलाने वाले प्रकरण को उद्धृत करते हैं— वह भी बड़ा सुन्दर 'हास' है :

बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर,
खोरि खोरि धाइ आइ बाँधत लंगूर है।
तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै,
लात के अघात सहै जी में कहै कूर है॥
बाल किलकारी कै-कै तारी दै-दै गारी देत,
पाछे लागे बाजत निसान ढोल तूर है।

यहीं थोड़ी ही देर में महा भयानक और वीभत्स-काण्ड भी उपस्थित होता है। पहले भयानक-रस का आविर्भाव होता है :

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहि,
सकैं न विलोकि वेष केसरी किसोर को।
मींजि मींजि हाथ धुनि माथ दसमाथ तिय,
तुलसी तिलौन भयो बाहिर अगार को॥
सब असबाब डाढ़ो मैं न काढ़ो तैं न काढ़ो,
जिय की परी संभारै सदन भंडार को।
खीझति मँदोवै सबिषाद देखि मेघनाद,
बयो लुनियत सब याहि डाढ़ी जार को॥

गोस्वामी जी ने यहाँ पूर्ण भयानक-रस खड़ा किया है। मन्दोदरी आदि के घबड़ाने में 'भय' स्थायी है। हनुमान आलम्बन-विभाव तथा

विकराल वेष, घर, असबाब आदि का जलना उद्दीपन-विभाव हैं। घबड़ा कर भागना, हाथ मींजना, माथा पीटना, जलते हुए असबाब को देख कर एक दूसरे से उसके बाहर न करने के लिये झगड़ना, खीझना आदि अनुभाव हैं। विषाद, चिंता, स्मृति, त्रास आदि सञ्चारी भाव हैं। अब लीजिये वीभत्स-रस को जिसमें प्रथानुसार घृणा और जुगुप्सा के समस्त वर्णन हैं :

(क) ओझरी की झोली काँधे आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूड़ के कमंडलु खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठी सो समर-सरि खोरि कै॥
सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूत नाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥

(ख) हाट बाट हाटक पिघलि चली सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताप सों।
नाना पकावन जातुधान बलवान सब,
पागि-पागि ढेरि कीन्हीं भली भाँति भाप सो॥

थोड़े में वीर-रस की झाँकी पाकर पाठक अत्यन्त प्रसन्न होंगे। तुलसी ही एक ऐसे कवि थे जो मधुर भाषा में 'ट' कार की उपेक्षा करके उत्साहमय कविता लिख सकते थे। नीचे की कविता कितनी मधुर और कितनी वीर-रस पूर्ण है :

सारंग कर सुन्दर निषंग सिली मुखाकर कटि कस्यौ।
भुजदण्ड पीन मनोहरायत उर धरा सुरपद लस्यौ॥
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे॥

'क्रोध' के लिये लक्ष्मण और परशुराम का क्रोध तो विख्यात ही है। धनुष भंग होने पर परशुराम ने जो रौद्र रूप धारण किया था उसे शायद ही कोई भूल सकता हो। उनका स्वरूप तुलसी ने इस प्रकार दिखाया है:

'सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते'

और

'पूछत जानि अजानि जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर।'

'विस्मय' और 'शम' के लिये भी गोस्वामी जी ने कई स्थल चुने हैं। समुद्र बाँधने की खबर सुन कर रावण को बड़ा ही आश्चर्य हुआ था। दूसरा आश्चर्य रावण को उस समय हुआ था जब उसने सुना कि खरदूषण की मृत्यु हो गई। 'खरदूषण मो सम बलवन्ता' कह कर कुछ देर के लिये वह आश्चर्य-निमग्न हो गया था। एक स्थान पर वे 'निर्वेद' को स्थाई रख कर यह साबित करते हैं कि राम-भजन के बिना सांसारिक सभी वस्तुएँ तुच्छ हैं, नीरस हैं, फीकी हैं।

झूमत द्वार मतंग अनेक जँजीर जरे पद अंब चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते॥
भीतर चँद मुखी अवलोकति बाहिर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकीनाथ के रंग न राते॥

दशरथ-कौशल्या का 'वात्सल्य' भी मनोहर है। कवितावली का सुप्रसिद्ध पद 'अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर मैं बिहरैं' वात्सल्य-रस का मन-रमण दृष्टान्त है। प्रेयान-रस के दृष्टान्त सूर की कविता में अधिक मिला करते हैं। तुलसी में इसका अभाव है। फिर भी अनेक निराले रस जो तुलसी में हैं वे किसी कवि में नहीं हैं। अवधि (राम-वन की) बीत चली है। कौशल्या प्रतीक्षा में बैठ कर अपने पुत्र का शकुन मना रही है। वात्सल्य का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रमाण है :

बैठी शकुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुशल घर कहहु काग फुरि बाता॥
दूध भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम लखन उर लैहौं॥
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी।
गणक बुलाइ पाँय परि पूछति प्रेम मगन मृदु बानी॥

इस प्रकार हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना तुलसी के ही मानस में सम्भव थी। एक साथ ही सबका सुन्दर सामञ्जस्य तुलसी ही कर सकते थे। वात्सल्य, उत्साह, रति, करुण, अद्भुत, भयानक, वीभत्स, रौद्र, शान्त और हास्य—इनका उदाहरण तो मैंने चलते-फिरते उठाकर एक-एक रख दिया है, जिसे आसानी से कोई भी पाठक तुलसी की रचना में पा सकता है। खोजने पर तुलसी की रचना से वह भाव निकल सकता है जो नवीन होगा और होगा आचार्य पद का प्रदाता। उनके भावों की विशेषता

नहीं होती—सबकी तृप्ति तो तब होती है जब भाव प्रकृतिस्थ होते हैं और गूढ़तापूर्वक व्यञ्जित किये रहते हैं। गीधराज किन शब्दों में अपनी 'आत्मग्लानि' प्रकट कर रहे हैं, देखिये :

मेरे एको हाथ न लागी।
गयो वपु बीति बादि कानन ज्यों कलपलता दव दागी॥
दसरथ सों न प्रेम प्रति पाल्यौ हुतो जो सकल जग साखी।
बरबस हरत निसाचरपति सो हठि न जानकी राखी॥

चरित्रों का वर्गीकरण—रस-सञ्चार से उच्चतर स्तर कवियों के चरित्रसर्जन का है। इसका स्थायित्व वे दो-चार दिन के लिये नहीं वरन् पात्रों में आदि से लेकर अन्त तक दिखाते हैं। कहना नहीं होगा कि चरित्र-चित्रण करने का अवसर उन्हीं कवियों को मिला करता है जो प्रबन्ध-कार होते हैं। तिस पर गोस्वामी जी को तो नाना प्रकार के चरित्र निर्माण करने को मिले हैं। गोस्वामी जी के पात्रों की संख्या बहुत है किन्तु जो मुख्य हैं उनके नाम ये हैं—राम, भरत, सीता, हनुमान, कौशल्या, दशरथ, लक्ष्मण, कैकेयी, विभीषण, सुग्रीव और रावण। उनमें कुछ विशेष पात्र हैं और कुछ सामान्य—राम, सीता, भरत, हनुमान, कौशल्या और रावण विशेष पात्र हैं तथा दशरथ, लक्ष्मण, कैकेयी, सुग्रीव और विभीषण सामान्य पात्र हैं।

राम तुलसी के मुख्य पात्र हैं। उन्हीं पर तुलसी के साधारणतः सभी काव्य खड़े हैं। उनके चरित्र को आदि से लेकर अन्त तक कवि ने बड़ा विशद बनाया है। 'तुलसी के राम' में इस विषय पर काफ़ी चर्चा की जा चुकी है। अतः दोबारा लिखना विषय अरुचिकर बनाना

होगा। थोड़े में यही समझना चाहिए कि राम राम हैं और सात्विकता के वे परम आदर्श पुरुष हैं। उनके अनुज भरत भ्रातृत्व भावना के परम आदर्श व्यक्ति हैं। हैं तो भ्रातृत्व-भाव के आदर्श लक्ष्मण भी पर उनमें कमी यह है कि उनका स्वभाव कुछ उग्र है। भरत में सो बात नहीं। भरत राम के एक प्रकार से दूसरे स्वरूप हैं। भरत और राम में तनिक भी अन्तर गोस्वामी जी ने नहीं दिखाया है। राम ने स्वयं कहा है, 'भरत भूमि रह राउरि राखी'। भरत के समान भाई मिलना मुश्किल है। राम इसे ख़ूब जानते थे। इसका उन्हें बड़ा गौरव था कि उनका भाई भरत है। राम यदि शील की मूर्त्ति थे तो भरत प्रेम की मूर्त्ति थे। कवि तुलसी ने शील और प्रेम को दो स्थूल स्वरूप खड़े किये हैं। चित्रकूट के मिलन में राम और भरत के नाम सार्थक हो गये हैं। उस प्रसंग को पढ़ कर फिर राम और भरत को समझने के लिये दूसरा प्रसंग पढ़ना अनावश्यक सिद्ध होगा।

आदर्श विशेष पात्रों में राम की भार्या सीता का स्थान भी विशेष है। वह भारत की एक पवित्र सती और स्वामी की एकनिष्ठ भक्तिन के रूप में हमारे सामने आती है। उसका सतीत्व ज्वलन्त है। उसका पातिव्रत्य परम अनुकरणीय है। राम जिस प्रकार पुरुष जाति के आदर्श प्रतीक हैं उसी प्रकार सीता स्त्री जाति की पथ-प्रदर्शिका है। आज 'तृन धरि ओट कहति बैदेही' के पावन आचरण से कौन हिन्दू अपने को गौरवान्वित नहीं करता?

हनुमान में सेवक के गुण लाकर एकत्रित किए मिलते हैं। राम का सेवक हनुमान ही को होना चाहिये था, जैसा कि हुआ है। जैसे

राम, जैसी उनकी स्त्री सीता, जैसे उनके भाई भरत; ठीक वैसा ही मिला उनका सेवक। 'सेवा भावना' में हनुमान की सारी बात हम लिख चुके हैं। अब कौशल्या को देखिये जो एक आदर्श माता हैं। भरत की माता कैकेयी राम को जंगल भेज सकती हैं पर कौशल्या कैकेयी के पुत्र को जंगल से भी घर ला सकती हैं। गोस्वामी जी ने कहा है कि 'पुत्रवती युवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई॥' और जिसका पुत्र स्वयं राम हुआ उसके भाग्य के और सुकृत का कैसे हिसाब लगाया जा सकता है?

राम का सामना करने वाला रावण ठीक उनके विपरीत का महान् पात्र है। उसी को मारने के लिए राम को पृथ्वी पर आना पड़ा था। राम यदि न आये होते तो कौन कह सकता है कि रावण मरता या नहीं। क्योंकि 'सुरपुर नितहीं परावन होई' उसका इतना भय था। वह बड़ा पराक्रमी था। सुना जाता है कि रावण बड़ा भारी विद्वान, विख्यात नीतिमान और बुद्धिमान भी था और शायद शिव जी का परम भक्त भी था—वह सब कुछ था। किन्तु एक अभिमान ही उसके अन्दर ऐसा था जो सबको खा गया और उसको नष्ट करके छोड़ा।

दशरथ, लक्ष्मण और कैकेयी के चरित्र कवि ने सामान्य तौर पर दिखाए हैं। किसी एक की विशिष्टता उनमें नहीं है। लक्ष्मण राम के भक्त थे पर उग्र थे। दशरथ का पुत्र-प्रेम सराहनीय था मगर वे परम स्त्रैण थे। कैकेयी 'काने खोरे कुबरे' को पहचानती थी फिर भी उसका सिद्धान्त अडिग न रहा। वह अपने पर भी विश्वास न

कर सकी और आगे तो राम और भरत में भी विभिन्नता समझ ली। रघुकुल की रानी के लिए ऐसा कार्य अनुचित था।

रहे सुग्रीव और विभीषण। उनके चरित्र की विशेषता यह है कि वे राम के परम भक्त थे। राम-भक्ति का जब सवाल उठेगा तो उनकी प्रशंसा राम भी कर देंगे। पर जब भ्रातृ-भावना का सवाल आयेगा तो उनको गोस्वामी जी भी कह देंगे :

सघन चोर मग मुदित मन, धनी गही ज्यों फेंट।
त्यों सुग्रीव विभीषनहिं, भई भरत की भेंट॥

सुग्रीव तथा विभीषण के चरित्र सर्वांगीण नहीं हैं। अतः वे सामान्य पात्र हैं।

प्राकृतिक दृश्य—आचार्य शुक्ल जी का कहना है कि गोस्वामी जी को छोड़ कर प्राकृतिक जानकारी हिन्दी के अन्यान्य कवियों को हुई ही नहीं! वस्तुतः बात उपयुक्त है। थोड़ा-घना प्राकृतिक-चित्रण यदि हिन्दी-साहित्य में हुआ है तो केवल गोस्वामी जी द्वारा, नहीं तो प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन केवल संस्कृत के ही कवियों ने किया है। उन्होंने सुन्दर-सुन्दर छटाओं का चित्राङ्कण किया है। बाल्मीकि के हेमन्त-वर्णन में तो सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण है। उनके वर्षा-वर्णन का क्या पूछना है? देखिए :

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं, नभः प्रकीर्णाम्बुघनं विभाति।
क्वचित् क्वचित् पर्वत-संनिरुद्धं, रूपं यथा शान्त महार्णवस्य॥
व्यामिश्रितं सर्जकदम्ब पुष्पैर्नवं जलं पर्वत धातु ताम्रम्।
मयूर केकाभिरनुप्रयातं, शैला पगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥

उपर्युक्त वर्णन में किस सूक्ष्मता के साथ कवि-कुल-तिलक ने ऐसे प्राकृतिक दृश्यों का विवेचन किया है, जिन्हें बिना किसी अनूठी उक्ति के गिना देना ही कल्पना का परिष्कार और भाव का संचार करने के लिए बहुत है। कालिदास के रघुवंश में ऐसे अनेक सुन्दर वर्णन आए हैं। रघुवंश का हिमालय-वर्णन तथा वन-वर्णन तो बार-बार पढ़ने पर भी जी नहीं भरता। मेघदूत में यक्ष का बताया हुआ मार्ग भी अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। एक जगह यक्ष कहता है :

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यस्सीरोत्कषण-सुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिः किंचिदेवोत्तरेण ॥

हमारे गोस्वामी जी भी कहते है :

कृषी निवारहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मदमाना ॥

इन महाकवियों ने कथा प्रसंग के अतिरिक्त जहाँ वर्णन की रोचकता के लिए मनुष्य व्यापार दिखाये हैं वहीं इन्होंने ऐसे दृश्यों का भी उल्लेख किया है जहाँ मनुष्य से प्रकृति सन्निकट है; जैसे ग्रामों के आस-पास किसानों के खेत जोतना, खेत-निराना, गाय चराना इत्यादि-इत्यादि। सच्चे कवि ऋतु आदि के वर्णन में ऐसे ही व्यापारों को सामने लाये हैं। प्राकृतिक दृश्यों में इन कवियों की दृष्टि वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ियाँ, फूल, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र

आदि से लेकर खेत, डंगर, झोपड़े, पानी के बहाव, बिजली की चमक, नदी की बाढ़ आदि सब पर समान रूप से गई है।

गोस्वामी तुलसीदास का जो वर्षा और शरद् वर्णन किष्किन्धा में हुआ है, उसमें उक्त सभी दृश्यों का समावेश बड़ी सावधानी से किया गया है। सबसे सुन्दर और रुचिकर वर्णन गोस्वामी ने ऋतुराज का किया है। उसमें कवि की विशेष प्रतिभा झलकती, यदि वर्णन वस्तुओं का परिगणन मात्र नहीं होता। प्रथम मानस का प्रसंग देखिये, फिर क्रमशः गीतावली आदि का :

(क) बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
बोलत जल कुक्कुट कर हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
चक्रवाक बग खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खग गन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये॥
चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस रसाल तमाला॥
नव पल्लव कुसुमित तरू नाना। चंचरीक पटली कर गाना॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥
'कुहू' 'कुहू' कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥

(ख) सिंहासन सैल सिला सुरंग। कानन छबि रति परि जन कुरंग॥
सित छत्र सुमन बल्लीवितान। चामर समीर निर्भर निसान॥
मनो मधु माधव दोउ अनीपधीर। बर बिपुल बिटप बानैत बीर॥
मधुकर सुक कोकिल बंदि बृन्द। बरनहिं बिसुद्ध यस बिबिध छन्द॥

चित्रकूट का वर्णन गीतावली में शुष्क प्रथापालन ही नहीं है। उसमें कवि का उमड़ता हुआ अनुराग है और कहीं-कहीं उसकी सुन्दर योजना संस्कृत के कवियों की सुन्दर योजना से टक्कर लेने वाली है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी बड़ी अच्छी व्याख्या की है। अतः हम यहाँ ब्रज के एक दृश्य को लेते हैं जो बहुत आवश्यक है। जब गोस्वामी जी ने कृष्ण-चरित्र भी लिखा है तो उसकी चर्चा उनकी काव्य-भूमि में आवश्यक है :

ब्रज पर घन घमंड करि आये।
अति अपमान विचारि आपनो कोपि सुरेस पठाये॥
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनि भयो तम गगन गँभीर।
गरजत घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर॥
बार बार पबिपात उपल घन बरषत बूँद बिसाल।
सीत सभीत पुकारत आरत गो गोपी गोवाल॥

रचना-चातुरी और सूक्ति—बड़े कवियों की प्रतिभा उनकी रचना चातुरी और सूक्तियों के देखने से ज्ञात होती है। गोस्वामी जी अपने रचना-चातुर्य के लिए अत्यधिक विख्यात हैं। वे कहीं-कहीं ऐसे विषयों पर रचना करते गये हैं जहाँ जानकार अपना वाक्य-चातुर्य दिखाने के लिये कुछ ग़लती कर गये हैं। फिर अपनी अद्वितीय बुद्धि शक्ति के द्वारा उन ग़लतियों का संशोधन शीघ्र कर गये हैं। धनुषभंग के अवसर पर उन्होंने एक सोरठे के प्रथम चरण में एक इसी प्रकार की ग़लती की है जिसे बहुत लोग तुलसी के भक्त हनुमान का सुधारा बताते हैं। जो कुछ हो पर तुलसी की रचना-चातुरी ही थी जो ऐसे-ऐसे

अनेक सुधार करने में समर्थ थी। उस सोरठे का प्रथम चरण है—'संकर चाप जहाज, रघुबर सागर बाहु बल।' तब हुआ क्या कि 'बूड़े सकल समाज,' जिसमें तुलसी ने सोचा तो पता चला कि अनेक ऐसे व्यक्ति भी घसीटे जाएँगे। जो वास्तव में बूड़ने वाले नहीं हैं। अतः उन्होंने आगे इस प्रकार जोड़ा—'प्रथम चढ़े जे मोह बस' बस सारा का सारा भाव ठीक हो गया। 'प्रथम चढ़े जे मोह बस' लिख कर तुलसी ने बड़ी चातुरी दिखाई है। एक इसी वाक्य के द्वारा बड़े भारी आशय की पूर्ति कर दी गई है।

तुलसी के चातुर्य का दूसरा उदाहरण गीतावली में आया है। सौन्दय के अनेक पद गीतावली में वर्णित हैं। राम का सौन्दर्य दिखाते हुए गोस्वामी जी एक पद इस प्रकार लिखते हैं:

> सखि रघुबीर मुख छबि देखु।
> चित्त भीत सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु॥
> नयन सुखमा निरखि नागरि सफल जीवन लेखु।
> मनहुँ बिधि युग जलज बिरचे ससि सुपूरन मेखु॥

प्रेमी पाठक ज़रा ठहर जाइये और विचार कीजिये कि चन्द्रमा-रूपी मुख में कमल-रूपी आँखें कहाँ तक सौन्दर्य उत्पन्न कर सकती हैं। चन्द्रमा को देखकर तो कमल बन्द रहते हैं। अब राम की आँखें यदि बन्द हो जाएँगी तो कितनी असुन्दरता उत्पन्न होगी। लेकिन नहीं। गोस्वामी जी शीघ्र ही उन आँखों को खोलने के लिये अपनी रचना चातुरी से दो सूर्य-किरणों का आरोप करते हैं। कैसे?

भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु।
भ्रमर द्वै रवि किरन ल्याये करन जनु उनमेखु॥

सूक्तियों के विषय में यह निवेदन करना है कि गोस्वामी जी बे-सिर-पैर की उड़ान में बह कर सूक्तियों का निर्माण नहीं करते। उनकी बहुत-सी सूक्तियाँ जनता की ज़बान पर चढ़ गई हैं। इसका कारण यही है कि वे सुलभ और सहल हैं और साथ ही गूढ़ भी हैं। यह कहा जा चुका है कि तुलसी का ध्यान छोटी-से छोटी वस्तु पर भी उसी सूक्ष्मता से गया है जिस सूक्ष्मता से बड़ी वस्तु पर। वंशी फेंक कर मछली बझाने वाले हिंसकों को तुलसी ने देखा और उन्हें बाल्मीकि की तरह शाप तो नहीं दिया मगर उनकी गति के विषय में सोच लिया था कि वे नरकगामी अवश्य होंगे। मछली मारने के इस दृश्य को गोस्वामी जी ने अपने लिये बड़े सुन्दर रूप में लिया है—'कृपा-डोरि-बंसी-पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।' लेकिन उन हिंसक दुष्टों के लिये उन्होंने यह उक्ति लिखी है। एक प्रकार से गोस्वामी जी की यह सूक्ति पहेली-सी हो गई है:

तुलसी दान जो देत हैं, जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवै नहीं, दाता नरकै जाय॥

'चारि' अर्थात 'चार' शब्द पर यह उक्ति लीजिये:

चारि चहत मानस अगम, चनक चारि को लाहु॥
चारि परिहरे चारि को, दानि चारि चख चाहु॥

इस दोहे में गोस्वामी जी भगवान् की कृपा-कटाक्ष का वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि संसार में चार तरह के प्राणी होते हैं—

अण्डज, पिण्ड़ज, स्वेदज तथा उद्भिज और इन चारों की इच्छा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों को पाने की रहती है, जो मन (मानस) और वाणी (वचन) से अगम हैं। इसलिये चारों प्रकार के जीवों को चाहिए कि इसके लिये मन-वाणी की कथा छोड़ कर शरीर से उद्योग करें। उद्योग क्या करना है कि चारों काम, क्रोध, लोभ और मोह का परित्याग करे और (दानि चारि चख चाहि) अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थों के प्रदाता भगवान् रामचन्द्र की कृपा कटाक्ष प्राप्त करने की इच्छा करे। प्रेम और भक्ति के द्वारा वे भगवान् प्रसन्न होते हैं और जब वे प्रसन्न हो जाएँगे तो सहज ही अर्थ, धर्म और काम-मोक्ष मिल जाएँगे। इस दोहे का 'चारि' यमकालङ्कार भी बड़ा सुन्दर उतरा है। गोस्वामी जी की अलङ्कार या उक्तियाँ स्वभावतः प्रस्फुटित होती गई हैं। कहीं उनका प्रयास नहीं मालूम पड़ता।

गोस्वामी जी को ऐसे शब्द रखना ज्ञात था जिससे वाक्य का भारीपन निकल जाता था और उनका चमत्कार प्रकट होता था। एक स्थान पर पाँच कर्मों के लिये उन्होंने एक ही क्रिया का प्रयोग किया है जो कर्मों की पारस्परिक विजातीयता में बड़ा शोभा पाता है। देखिये :

पाही-खेती, लगन-बट, ऋन-कुब्याज, मग-खेत।
बैर बड़े सो आपने, किये पाँच दुख देत॥

पाही की खेती अर्थात् गाँव से दूरस्थ की खेती, रास्ते की पारी, अधिक ब्याज पर लिया हुआ ऋण, रास्ते पर का खेत और अपने से बड़े मनुष्य के साथ बैर किये दुःख मिलता है। वाक्य में 'किये' शब्द

का प्रयोग कितना अनूठा और चमत्कारवर्द्धक है ! ऐसे प्रयोग गोस्वामी जी को बहुत अच्छे लगते थे।

रहीम की उक्तियाँ भी बड़ी चुटकीली होतीं थीं। शब्दों का समुचित प्रयोग रहीम को भी ख़ूब ज्ञात था। उनका 'बारो उजियारो लहै' वाला दोहा अपनी शब्द चमत्कृता के ही लिये विख्यात है। गोस्वामी जी एक स्थल पर नीचों की श्रेणी बनाते हैं और उनमें तरह-तरह के नीचों का नवना दुःख का हेतु बताते हैं। चौपाई में 'नवनि' शब्द की सारी करामात है :

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥

प्रेमचंद ने कहा है कि "अभ्यास बहुधा चेतना का स्थान ले लिया करता है।" गोस्वामी जी ने भी कहा है कि 'करत करत अभ्यास के जड़-मति होत सुजान।' बात यह है कि अभ्यास करते-करते पीछे से कोई काम बिना सोचे-समझे भी हो जाता है। मान लीजिये कोई 'राम-राम' कहने का अभ्यास कर रहा है तो जब उसका अभ्यास दृढ़ हो जायेगा तो स्वतः भी 'राम राम' की रट उसके मुख से लगी रहेगी। यह अभ्यास बढ़ कर यहाँ तक देखा गया है कि राम नाम का जाप करने वाले जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में भी 'राम राम' का जाप करते रहते हैं या उनसे अभ्यास के द्वारा स्वतः होता रहता हैं। गोस्वामी जी इस पर खेद प्रकट करते हैं कि जब जूता, जिसे आँख नहीं है, पैर का अभ्यास पाकर उसे पहचान जाता है तो नारी-नर, जिन्हें चार आँखें हैं और जिनके साथ मृत्यु और माया का नित्य प्रति खेल है, क्यों नहीं उन्हें पहचानते ? उक्ति लीजिये :

बिनु आँखिन को पानही, पहिचानत लखि पाँय।
चारि नयन के नारि नर, सूझत मीचु न माय॥

अलङ्कार-प्रकरण— अलङ्कारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का स्थान सर्वोपरि है। ये सादृश्य-मूलक अलङ्कार कहे जाते हैं। इनका काम अप्रस्तुत वस्तु की योजना करना होता है। उपमा का विशुद्ध स्वरूप पूर्णोपमा कहलाता है। इसकी उद्भावना तुलसी के एक चलते और छोटे से वाक्य में इस प्रकार हुई है— 'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा।' इससे यदि किसी का जी न भरता हो तो अयोध्या नगरी पर यह पूर्णोपमा देखिये—

राका ससि रघुपति पुरी, सिंधु देखि हरषान।
बढ़ेउ कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान॥

उपमा के अनेक भेद किये जाते हैं जिनमें यहाँ धर्मलुप्ता और धर्म वाचक लुप्ता के क्रमशः एक-एक उदारण उद्धृत करते हैं।

(१) **करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥**
(२) **ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सब सुत बधू-देव-सरि-बारी॥**

उपमाओं में जिस प्रकार विशुद्ध रूप पूर्णोपमा का है उसी प्रकार रूपकों में विशुद्ध स्वरूप साङ्ग रूपक का है। गोस्वामी जी ने इसके दो दृष्टान्त बड़े सुन्दर तैयार किये हैं। एक चित्रकूट में होली का स्वाँग, दूसरा काशी पर कामधेनु गौ का। एक छोटा-सा किन्तु सुन्दर साङ्ग रूपक यह भी है :

दम्पति रस रसना दसन, परिजन बदन सुगेह।
तुलसी हर हित बरन सिसु, संपति सहज सनेह॥

रूपकों के कुछ और विभेद देखिये—

(तद्रूप) एक रूप तुम भ्राता दोऊ ।

(अभेद) राम नाम बर केसरी, कनक सिपु कलि काल ।

जापक जन प्रह्लाद जिमि, दलि पालहिं सुर साल ॥

(निरवयव) अवसि चलिय बन राम पहिं, भरत मंत्र भल कीन्ह ।

सोक सिंधु बूड़त सबहिं, तुम अवलंबन दीन्ह ॥

(परंपरित) मोह महा घन पटल प्रभंजन । संसय बिपिन अनल सुर रंजन ॥

उत्प्रेक्षा में 'फलोत्प्रेक्षा' और 'गम्योत्प्रेक्षा' के क्रमशः एक-एक उदाहरण देकर हम आगे बढ़ते हैं ।

(१) लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ ।

निकसे जनु युग विमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ ॥

(२) इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा । पटतर योग बनावन लागा ॥

कीन्ह बहुत श्रम एक न आये । एहि इरषा बन आनि दुराये ॥

गोस्वामी जी की अतिशयोक्तियों को देख कर तो यही कहना पड़ता है कि शायद उन्होंने कवियों के दर्शनार्थ ही उनकी अधिकता की । उनकी रचना में अतिशयोक्ति की भरमार है । कुछ की बानगी लीजिये ।

रूपकातिशयोक्ति—

राम सीय सिर सेंदुर देहीं । उपमा कहि न जात बिधि केही ॥

अरुन पराग जलज भरि नीके । ससिहिं भूष अहि लोभ अमीके ।

चपलातिशयोक्ति—

तब सिव तीसर नयन उघारा । चितवत काम भयउ जरि छारा ॥

सम्बन्धातिशयोक्ति—रघुपति कीरति कामिनी, क्यों कहै तुलसीदास ।
सरद अकास प्रकास ससि, चारु चिबुक तिल जासु ॥

असम्बन्धातिशयोक्ति—जो सुख भासिय मातु मन, देखि राम बर बेष ।
सो सकहिं कहि कलप सत, सहस सारदा सेष ॥

अत्यंतातिशयोक्ति—राजन राउर नाम जस, सब अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिप मनि, मन अभिलाष तुम्हार ॥

'दीपक' की प्रदीप्ति बढ़ाने में गोस्वामी जी बड़े कुशल थे। इसी से दोहावली के कतिपय दोहे जगमगा उठे हैं। उन दोहों में एक यह है:

रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाप ।
तुलसी जिनहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाप ॥

'मानस' में भी यह दीपक देदीप्यमान है। 'आवृत्ति' और 'अर्थावृत्ति' के दो उदाहरण देखिए :

(क) भलो भलाई पै लहै, लहै निचाई नीच ।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच ॥

(ख) पय पयोधि तजि अवध विहाई । जहँ सिय राम लखन रहे आई ॥

'तजि' और 'विहाई' अर्थ की कैसी अनूठी आवृत्ति है !

केवल गोस्वामी जी के 'मानस' की बात कहता हूँ कि उसकी एक-एक चौपाई में अलङ्कार सन्निविष्ट है। यदि हम उसी के ऊपर अलङ्कार प्रकरण लिखें तो उसके बराबर का एक अलग ग्रंथ ही बन जाय। 'अपन्हुति' के एक दो उदाहरण भी हम 'मानस' से ही ले रहे हैं। पाठक देखें :

शुद्धापन्हुति—**मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होय मोर यह काला॥**

कैतवापन्हुति—

कह प्रभु हँसि जानि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु न राहू॥

ये किरीट दसकंधर केरे। आवत बालि-तनय के प्रेरे॥

'विभावना' अलङ्कार की प्रतिष्ठापना गोस्वामी द्वारा बड़े मार्मिक क्रम पर हुई है। मतलब यह है कि गोस्वामी जी जिस अलङ्कार को छूते हैं वह खिलवाड़-मात्र होकर नहीं रहता। वह होता है भावमय और साथ ही अलङ्कारमय। विभावना के ही प्रसंग को लीजिये। यहाँ हम क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय तीन विभावनाओं का उल्लेख करते हैं :

(१) **बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥**

आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ योगी॥

(२) **काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥**

(३) **रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छय जेहि मारा॥**

दृष्टान्त के सामान्य और विशेष दो भेद माने गए हैं। एक में सामान्य बात द्वारा समर्थन किया जाता है और दूसरे में विशेष बात द्वारा। क्रमशः सामान्य और विशेष दोनों भेदों का दर्शन करें :

(१) **अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयुहीन भे निसचर तबहीं॥**

साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कर हानी॥

(२) **राम नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस?**

बरषत बारिद बूँद गहि, चाहत चढ़न अकास॥

एक-एक अलङ्कार की परिभाषा और व्याख्या लिखना ज़रा असम्भव मालूम होता है। अतः कुछ अलङ्कारों को नाम-सहित उठा कर हम यहाँ रख देते हैं जिनकी ओर विशेष रुचि है :

विकल्प—**'मोर मोर' सब कहँ कहसि, तू को कह निज नाम।**
कै चुप साधहि सुनि समुझि, कै तुलसी जपु राम॥

काव्यलिंग—**एक छत्र एक मुकुट मनि, सब बरनन पर जोउ।**
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ॥

व्यतिरेक—**सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।**
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुन गाथ॥

व्याज स्तुति—**धन्य कीस जे निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचहिं परिहरि लाजा॥**
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति हित करत करम निपुनाई॥

सन्देह—**'की तुम्ह तीनि देवमहँ कोऊ ?'**

भ्रम—**एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारउ सोऊ॥**

काकु वक्रोक्ति—**भरतहिं होय न राज मद, बिधि हरि हर पद पाइ।**
कबहुँ कि कांजी सीकरनि, छीर सिंधु बिनसाइ ?

यहाँ तक अर्थालङ्कारों की चर्चा हुई। अब शब्दालङ्कार पर भी ध्यान दीजिए। शब्दालङ्कार में सर्व-प्रथम हम 'अनुप्रास' को लेते हैं। गोस्वामी जी अनुप्रास के बादशाह कहे जाते हैं। अनुप्रास तुलसी की रचना में खोजना नहीं है, किसी ग्रंथ के किसी भी पन्ने में इसका भरपूर दर्शन होता है। इसके दो-चार नमूने बहुत होंगे :

(क) **विस्व-विख्यात विश्वेस विस्वायतन विस्वमर्याद व्यालारि गामी।**
ब्रह्म बरदेस बागीस व्यापक बिमल, बिपुल बलवान निर्वाणस्वामी॥

(ख) दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ ?

(ग) जागु जागु जीव जड़ जो है जग जामिनी ।

(घ) सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ॥

एक लाटानुप्रास भी देख लीजिए :

प्रीति प्रतीति सुरीति सों राम-नाम जपु राम ।

'यमक' का आविर्भाव गोस्वामी जी ने सुन्दर अवसर पर कराया है। ससुर अपने भावी जामाता को निहार रहे हैं। उस समय उनकी विचित्र दशा हो रही है। सच पूछिये तो उनका नाम ही सार्थक हो रहा है। विदेह (जनक) विदेह (योगी) हो रहे हैं और विशेष कर :

मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ विदेहु विदेह बिसेषी ॥

'श्लेष' आदि को यद्यपि गोस्वामी जी ने कहीं स्थान नहीं दिया है तो भी कहीं-कहीं खोजने पर एक-आध मिल जाते हैं। परम-भावुक महात्मा के लिये ऐसा करना उचित नहीं था। इधर रावण के सिर में बाण प्रवेश कर रहे हैं और उधर गोस्वामी जी रचना में श्लेष से काम चला रहे हैं :

रावन सिर सरोज बन चारी । चलो रघुबीर सिली मुखधारी ॥

'सिलीमुखधारी' श्लेष का ही उपयुक्त बना-बनाया शब्द मालूम होता है। अर्थ में श्लेष दिखाने के लिए भी उन्होंने बरवै में कहा है :

वेद नाम कहि अमुरिन खंडि अकास ।

पठयो सूपनखहिं लखन के पास ॥

'बरवै' के प्रत्येक छन्द दोहरे-तीहरे अलङ्कार से लदे हैं। उसको मैंने बिलकुल छोड़ दिया है। ऐसे ही दोहावली का प्रत्येक दोहा भी अलङ्कार से लदा है।

भाषा-विचार— 'मानस' के प्रत्येक सोपान के आदि में श्लोक लिख कर गोस्वामी तुलसीदास ने सूचना दी है कि वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत का उनका अगाध अध्ययन था। तभी मानस निर्माण करते समय उनसे बिना कहे रहा न गया कि 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि। स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्ध मतिमञ्जुल मातनोति ॥' और संस्कृत से भाषा में अनुवाद करने की शैली भी उनकी अत्यन्त प्रशंसनीय थी। संस्कृत के बहुत से श्लोकों का भाव उन्होंने अपने भाषा के प्रताप से ज्यों का त्यों रख दिया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने उनके 'मानस' की भूमिका लिखते समय क़रीब दो ढ़ाई सौ संस्कृत पुस्तकों के कतिपय श्लोकों का मिलान रामायण की चौपाई से किया है। इससे सिद्ध है कि तुलसी एक सिद्ध-हस्त अनुवादक भी थे। लेकिन अभ्यर्थना करने योग्य उनकी भाषा ही थी। उसी के प्रताप से तुलसी सबके हृदय में बसे हुए हैं गोस्वामी की इस मधुर भाषा के विषय में रसखानि ने यहाँ तक कह डाला है:

सुर तरु लतान चारि फल है फलित किधौं,
कामधेनु धारा सम नेह उपजावनी।
किधौं चिन्तामनिन की माल उर सोभित,
विसाल कंठ में भरे हैं ज्योति झलकावनी ॥

प्रभु की कहानी ते गुसाईं की मधुर बानी,
भक्ति सुख दानी 'रसखानि' मन भावनी।
खाँड की खिजावनीसी कंद की कुढ़ावनीसी,
सिता को सतावनीसी सुधा सकुचावनी॥

सचमुच तुलसी की भाषा इतनी मीठी, इतनी साफ़, इतनी सलिल और इतनी परिष्कृत है कि उसे सर्वसाधारण का हृदय भी आसानी से अपना सकता है। तुलसी की रचनाओं की ख्याति होने का सब से प्रधान कारण उनकी भाषा की सलिलता ही है। लेकिन प्रश्न यह है कि वह भाषा है कौस-सी? उत्तर है कि वह भाषा जगत-प्रसिद्ध भाषा 'अवधी' है। तुलसी यद्यपि सभी भाषाओं को लिख सकते थे और लिखा भी पर 'अवधी' का पुट उनकी भाषा में विशेष था अथवा 'अवधी' भाषा आधार थी। आप कहेंगे कि जायसी की भाषा भी मधुर 'अवधी' ही थी। सो ठीक है। पर उनकी अवधी साथ ही ठेठ थी। तुलसी की अवधी परिष्कृत और सुसंस्कृत थी। उसमें संस्कृत की कोमल कन्त पदावली का मेल कराया गया था। तत्कालीन हर भाषा में इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी जो तुलसी के सिवा किसी को याद न पड़ा। सूर ने भी ब्रज भाषा लिखी थी। इधर गोस्वामी जी ने भी विनय आदि ब्रज में लिखी थी। पर तुलसी की ब्रज भाषा चलती हुई निकली। उसी प्रकार जायसी की अवधी से तुलसी की 'अवधी' भी एक न्यारे ढङ्ग की निकली। अरबी और फ़ारसी के शब्द भी तुलसी की रचना में मिला करते हैं। कवितावली में बुन्देलखण्डी का भी गोस्वामी जी ने सहयोग लिया है। गोस्वामी जी असल में

भ्रमणशील महात्मा थे। उनका भ्रमण देश के हर कोने में हुआ था। तरह-तरह की बोलियाँ उन्हें मालूम थीं। उन सबका सम्मिश्रण उन्होंने अपनी रचना में किया है। भाषा की सफ़ाई और परिमार्जन उन्होंने ऐसा किया है कि पढ़ने वाले को कहीं खटकता नहीं अथवा यह नहीं मालूम होता कि भाषा में विविध भाषाएँ सम्मिलित हैं। मुहावरेदार भाषा लिखने में तो गोस्वामी जी परंगत थे। सुन्दर-सुन्दर मुहावरों को उन्होंने अपनी रचना में ज्यों का त्यों रख दिया है। यथा :

(क) धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को।

(ख) लेबे को एक न देबो को दोऊ।

(ग) भइ गति साँप छुछुन्दर केरी।

(घ) का वर्षा जब कृषि सुखाने ?

(च) प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूतिहौं।

भाषा में आवश्यकीय बस्तु है व्याकरण का विचार। व्याकरण की पूरी रक्षा गोस्वामी जी ने की है। सूरदास जी भाव में बह कर व्याकरण की उपेक्षा कर गए हैं। तुलसी सूर से भाव-निमग्न होते हुए भी व्याकरण का वहिष्कार नहीं कर सके हैं। वे लोक व्यवस्थापक महात्मा थे न ! तुलसी यदि न होते तो हिन्दी साहित्य में व्याकरण का निर्माण कैसे होता ? उनके बाक्य में भर्ती का एक भी शब्द नहीं पाया जाता। आवश्यकता से अधिक उनकी कविता में एक भी शब्द नहीं मिलता। उनके हृदय में मालूम होता है कि कोश रक्खा हुआ था। शब्दों के लिङ्ग और वचन का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कारणतः विद्वानों से भी हिन्दी में इसकी भूलें हो जाया करती हैं। मगर

क्या मजाल कि तुलसी की रचना में कोई लिङ्ग या वचन की गड़बड़ी दिखा दे ? बड़ी तलाशी से यदि कोई कहीं एक-आध पा जाय तो उसका निवारण 'अवधी' के गहन अध्ययन करने पर स्वतः हो जायेगा। 'मरम बचन जब सीता बोला' में इसी का सङ्केत है।

वैसे कविता में अनेक प्रकार के दोष-गुण हैं जिनसे बरी होना कवि के लिये अलभ्य है। सब कुछ चमत्कार ही चमत्कार अथवा ठीक ही ठीक तुलसी का हो सो बात नहीं, उनमें भी दोष हैं। लेकिन उनकी संख्या बिलकुल कम है जो नहीं के बराबर है तथा गुणों के सामने उनका अस्तित्व बिलकुल गायब हो जाता है। पिङ्गल-शास्त्र की जानकारी होते हुए भी कवि उसके मार्ग से च्युत हो जाता है क्योंकि छन्द के तङ्ग मार्ग से उसे गुज़रना होता है। अलङ्कार वाले तो इसे शायद भंग पद-क्रम (व्यतिक्रम) कहा करते हैं पर वास्तव में है यह तुलसी का 'अक्रमत्व दोष' :

सचिव बैद गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धर्म तन तीन कर, होय बेगहीं नास॥

इस तरह कहीं-कहीं उनके दोहों में मात्राएँ कम होती हैं। सवैयों में भी वर्ण घटे-बढ़े हैं। इसका एक कारण है। वह यह कि गोस्वामी जी को समास-शैली बहुत प्रिय थी। समास के बल पर एक-एक वाक्य के उनके एक-एक शब्द बन गये हैं जिनकी सीमा में मात्राओं का उलङ्घन हो गया है। साथ ही वे अनुवादक भी थे। अनुवाद की सीमा भी कहीं-कहीं उन्हें खा गई है। अनुवाद की उलझन में पड़ कर तो गोस्वामी जी के एक पद का अर्थ ही गायब हो गया है।

उसमें बिहारी की तरह ऊपर से अर्थ का आक्षेप करना पड़ता है तब जाके अर्थ खुलता है। स्थान-संकोच-भय से उसको श्लोक सहित रखने में हम लाचार हैं।

'गति-भंग दोष' से भी तुलसीदास अछूता न रह सके हैं। यह साधारणतः सभी कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। कवि जब चरणों के निर्माण में लगते हैं तो उनका ध्यान कई दिशाओं में बँटा रहता है। गुरु, लघु, तुकान्त, मात्रा की संख्या इत्यादि अनेक विचार उन्हें बेचैन किये रहते हैं तिस पर भाव का भूला हृदय में भूलता रहता है। इस कारण जो दोष कविता में आ जाय सो क्षम्य ही है। तुलसीदास जी का 'गतिभंग दोष' नीचे के दोहे में स्पष्ट झलक रहा है। पाठक क्षमा करें :

दोउ समाज निमिराजरघु, राज नहाने प्रात।
बैठे सब बट विटप तर, मन मलीन कृस गात॥

तुलसी का स्थान—किसी का स्थान निर्णय करने में वहाँ अड़चन पड़ा करती है जहाँ लेखक को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर उस व्यक्ति के विषय में कहना पड़ता है। तुलसी का स्थान स्वयं-सिद्ध तथा स्वतः निर्णित है। हिन्दी-साहित्य की जानकारी रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह से जानता है कि तुलसी की तरह आज तक जनता पर छाप डालने वाला कोई व्यक्ति नहीं हुआ। उत्तर भारत के कोने-कोने में तुलसी के 'मानस' का प्रचार है। ब्रह्म-मुहूर्त में उठ कर विरला ही कोई होगा जो तुलसी के विनय का भजन न गाता हो। गवैयों की राग-रागिनी बिना तुलसी के गीतावली को कण्ठस्थ किये पूर्ण होती

ही नहीं। 'बरवै' और 'दोहावली' को जो विद्वान नहीं देख गया है वह काव्य-क्षेत्र में क्या बातचीत कर सकता है? रोला, झूलना, कुण्डलिया और छप्पय आदि का जिन्होंने मनन नहीं किया उन्होंने पिङ्गल-शास्त्र पढ़ने में व्यर्थ ही जीवन को खो दिया। जो भाट कवितावली के कवित्त नहीं सुनाता उसकी क्या पूछ होती है? विवाह के अवसर पर जानकी-मङ्गल और पार्वती-मङ्गल के सिवा किसी कवि की कोई और पुस्तक भी है जिसे स्त्रियाँ मधुर-स्वर में गा सकें? जन्म-समय पर मङ्गल मनाने के लिये शायद तुलसी के राम ललानहछू के सिवा एक भी पुस्तक नहीं। हनुमानाष्टक और बाहुक ने तो अनेक कविजनों के महान् कष्ट को आज तक टाल दिया है तथा जो भक्त हनुमान की सहायता से साकेतधाम में पधारना चाहता है उसे हनुमान-चालीसा का पाठ करना अनिवार्य हो जाता है।

बात यह है कि तुलसी मनोरञ्जन करने वाले या किसी एक दिशा के कवि नहीं हैं, वे जीवन की मार्मिक दशाओं के द्रष्टा तथा मानव-जीवन के हर पहलू के सूक्ष्म पारखी थे। तुलसी हिन्दी में बे-जोड़ कवि हैं। केवल कवियों को उनके मिलान में रखना उनका तिरस्कार करना है। भूषण, देव, बिहारी, केशव तथा पद्माकर को कौन पूछे उनकी श्रेणी में बैठने वाले संत कवि—सूर, जायसी, कबीर और मीरा को भी उनके मिलान में रखने का साहस नहीं होता! भक्ति-क्षेत्र में चाहे तुलसी को जो स्थान मिलता रहे, क्योंकि वह अपनी-अपनी भावना की चीज़ है, पर सार्वजनीन क्षेत्र काव्य में तुलसी का स्थान कबीर, मीरा, जायसी और सूर से भी उच्चतर है।

मीरा

मीरा की महा-भक्ति

वस्तुत: भक्ति के स्वरूप दो प्रकार के देखने में आते हैं—राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति। सगुणोपासना के वृहद् क्षेत्र में दोनों का समान आदर और प्रचार रहा है। राम-भक्ति की प्रतिष्ठापना विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानन्द जी ने की थी। इनके प्रसिद्ध शिष्यों में संतवर श्रीकबीरदास जी और गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी का नाम अत्यधिक हुआ। कबीर के 'राम' आगे चलकर रामानन्द के 'राम' से पृथक् हो गये परन्तु तुलसी के 'राम' रामानन्द के 'राम' से सर्वथा अभिन्न रहे। उधर कृष्ण-भक्ति की संस्थापना पुष्टि मार्ग के स्वामी वल्लभाचार्य जी ने की थी। उनके सूर आदि क्रमश: चार शिष्यों ने कृष्ण-भक्ति का ख़ूब प्रचार किया। तात्पर्य यह कि हिन्दू-हृदय पर राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति जैसा व्यापक और गहरा प्रभाव आज तक किसी भक्ति-भाव का नहीं पड़ सका। राम और कृष्ण दोनों के आचरण और रूप हमारे हृदय-पटल पर सदा के लिये अंकित हो गए हैं, हिन्दू-हृदय उन रूपों को निकाल नहीं सकता। सम्भव है हिन्दू-जाति राम-कृष्ण को छोड़ कर जीती ही रह सके। राम और कृष्ण में उनके जीवन का सारा सार खींच कर रख दिया गया है। उनका जीवन ही राम-मय और कृष्ण-मय हो गया है। राम और

कृष्ण से पृथक् उनके जीवन की कोई सत्ता नहीं रह गई है। उनके रोम-रोम में राम और कृष्ण उलझे हुए हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि राम और कृष्ण का जो स्वरूप भक्तों ने आँका है वह हिन्दू-जीवन के प्रत्येक व्यापार और प्रत्येक व्यवहार से नियोजित हो गया है।

पर राम और कृष्ण में बहुत कुछ साम्य रहते हुए भी भक्ति-भाव के अनुसार भक्तों ने थोड़ा-सा उनकी भक्ति में अन्तर दिखाया है। एक में अर्थात् राम में उन्होंने सौन्दर्य, शक्ति तथा शील की पराकाष्ठा दिखाई है; दूसरी ओर कृष्ण में लावण्य और लीला को उन्होंने चरम सीमा पर पहुँचाया है। दोनों में से लावण्य अथवा सौन्दर्य को यदि हम निकाल लेते हैं तो शेष शक्ति-शील की समता लीला के आगे रह जाती है। राम के शक्ति-शील का परिणाम यह होता है कि हम श्रद्धा और भक्ति से राम की ओर झुक जाते हैं और उनकी सेवा में रत हो जाते हैं। कृष्ण की लीला बरबस हमारा संकोच तोड़ देती है और हमें लीलाविहारी की लीलाओं में रत होने के लिए बाध्य करती है।

शीलादि गुण स्वयमेव सीमाबद्ध हैं। उनमें लज्जा और संकोच का समावेश है, डर-भय बना हुआ है। अतः राम के शील के सामने अधिक से अधिक यही हो सकता है कि उनके समीप रह कर चरण-सेवा का अधिकार प्राप्त हो जाय अथवा 'सालोक्य' होकर शान्त चित्त अखण्ड भजन करने की आज्ञा मिल जाय। पर लीला? यह तो असीम है, अनन्त है। उसमें बन्धन या रुकावट जैसी कोई वस्तु

नहीं है और न है लज्जा-संकोच का बाह्य आवरण ही। लीला पुरुषोत्तम के सामने सर्वभावेन आत्म-समर्पण है। उनके निकट 'सालोक्य' तथा 'सामीप्य' तो सदैव है ही; 'सादृश्य' और 'सायुज्य' का बोध भी स्वतः हस्तगत है। परदेनशीन के साथ परदा हटाकर भी शान्त, कभी सख्य, कभी दास्य, कभी वात्सल्य यहाँ तक कि माधुर्य का भी आनन्द लूटना है। मधुर-रस का महाभाव और तज्जनित महाभक्ति कृष्ण-भक्ति में ही लभ्य है। कृष्ण-भक्ति की यह विशेषता है कि उसमें भक्ति-भाव के प्रत्येक भाव का सम्यक् स्फुरण हुआ है, या हो कता है।

माधुर्य भाव भावों का सम्राट है, भावाधिपति' है और उससे निकला हुआ रस रस-राज है। भावों का सम्राट होने के कारण ही 'माधुर्य' को महा-भाव या परम-भाव भी कहते हैं। परम-भाव की भक्ति में जायसी आदि सूफ़ी संतों ने ख़ूब डुबकी लगाई है। परम-भाव की भक्ति का क्षेत्र बड़ा व्यापक है भी। उसमें गोता लगाने का चारों ओर से रास्ता है, चारों तरफ़ घाट हैं। अनेक मत के संतों ने इसी कारण भगवान् की पूजा परम-भाव द्वारा की है। पर हिन्दू-हृदय परम-भाव के खुले दरिया में भी जाकर अपना अलग घाट रोक चुका है, क्योंकि उसका धर्म उसे बहुत स्थान पर रोकता रहता है। आप कहेंगे कि परम-भाव का वह बँधा व्यवस्थित घाट कौन-सा है? तो इसका उत्तर है कि वह घाट जिस पर पुनीत-पावन आत्मा स्नान करने को गई है, दामपत्य-रति है। दामपत्य-रति का दिव्य भाव हिन्दू-हृदय की अपनी चीज़ है जिसकी कोई समता नहीं कर सकता।

इसमें न भगवान को कोई दूसरा प्रेमी है न प्रेमी का कोई दूसरा स्वामी है। जो है सो दोनों ओर बराबर है और एक है। दोनों का यह दृढ़ सम्बन्ध पाणि-ग्रहण द्वारा व्यक्त है :

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

महाभक्ति का विवेचन—आचार्यों ने भक्ति की व्याख्या कई ढंग से की है। एक आचार्य कहते हैं कि भक्ति श्रद्धा और प्रेम के संयोग का नाम है। दूसरे आचार्य बताते हैं कि उपासना का प्राण ही भक्ति है। तीसरे आचार्य प्रेम का एक लम्बा वर्गीकरण करते हैं—आसक्ति, मैत्री तथा भक्ति और कहते हैं कि मनुष्य का मनुष्य से जो प्रेम होता है वह मैत्री है; सांसारिक पदार्थों से जो प्रेम होता है वह आसक्ति है और मनुष्य और ईश्वर के बीच का प्रेम भक्ति है। भक्ति ईश्वर की ही हो सकती है, वह अन्य स्थान पर शोभा नहीं पा सकती। व्याख्या के पश्चात् आचार्यों ने भक्ति के कतिपय भाग, उपविभाग तथा स्वरूप बनाये हैं। जहाँ उन्होंने नवधा भक्ति का विस्तार किया है वहाँ उनका तात्पर्य केवल इतने ही से रहा है कि भक्ति करने में आवश्यकीय उपकरण केवल नव ही हैं इसलिए भक्तों के कला-कौशल तथा संयम-नियम को उन्हीं नवों के अन्तर्गत देखना चाहिए। तदनन्तर जहाँ भक्तों की श्रेणी निर्धारित करने का सवाल आया है, वहाँ उन्होंने भक्ति के पाँच स्वरूप कर दिये हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य तथा (५) माधुर्य (महाभाव या परमभाव)।

अब आसानी से आप निर्णय कर सकते हैं कि कौन भक्त भगवान को किस रूप में भजता है ? उपरोक्त पाँचों भाव की भक्ति भगवान को प्रिय है और उनकी महिमा आपस में समान हैं। यह नहीं कि किसी भाव से कोई भाव ऊँचा या नीचा है। यही कारण है, प्रभु को समस्त भक्त समान प्यारे हैं, कोई किसी से हीन नहीं। समझने के लिए इसे एक प्रकार से गोलाकार ऊँचा चबूतरा मान लीजिए जिसके नीचे क्रमशः वृत्याकार चार सोपान दौड़ाए गए हैं। प्रत्येक सोपान तथा उस ऊँचे चबूतरे पर प्रभु के सहित उनके दिव्य सिंहासान लगाए गए हैं। उस ऊँचे चबूतरे से लेकर चारों सोपानों तक प्रत्येक स्थान पर एक-एक भक्त अपनी भावानुकूल भक्ति कर रहा है। जो जिस सोपान पर या जिस स्थान पर है उसी पर उस स्थान का भक्त मस्त दीखता है और विशेषता यह है कि उसे दूसरे सोपान या स्थान की तनिक इच्छा भी नहीं रहती। यह ठीक है, कि ऊँचे के प्रत्येक सोपान क्रमशः ऊँचे हैं, लेकिन वैसे ही नीचे के प्रत्येक सोपान विस्तृत एवं बड़े हैं। अतः निश्चयपूर्वक किसे बड़ा भाव, किसे छोटा भाव कहा जा सकता है ? हमारे लिये तो जिस प्रकार हिमालय की गगन-चुम्बी चोटी अगम्य है उसी प्रकार सुदूर फैली हुई अनन्त पृथ्वी भी।

लेकिन इतना कहे बिना तो मन को बोध ही नहीं होता कि पृथ्वी पर टहलने की अपेक्षा चोटी पर चढ़ना ज़रा आनन्दप्रद होता है। जो भक्ति माधुर्य भावना में है उसमें क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य सब का पर्यवसान हुआ है। माधुर्य का उपासक क्रमशः सभी भावों का रस चखता हुआ अन्ततः परम भाव पर पहुँचता है और

निम्नतर भावों के उपासक अन्यान्य भावों का रस नहीं चख पाते। भक्तिमती मीरा की महाभक्ति इसी महाभाव की थी। उसने परम पिता जगदीश्वर को पति रूप में भजा था। श्रीकृष्ण की उपासना करने के लिए उसने उनसे बचपन में ही विवाह कर लिया था :

'बालेपन में मीरा कीन्हीं गिरधर लाल मिताई।'

यह विवाह उसका सांस्कारिक विवाह था, 'पुरबलो साथी' का दिया हुआ 'पुरबलो बर' था। मीरा हिन्दू सती थी। वह गिरधारीलाल की पत्नी थी। उसका भाव कृष्ण के प्रति एक सती-साध्वी धर्मपत्नी का था, रूप मोहिता प्रेयसी का नहीं। उसके कृष्ण अपने न्यारे कृष्ण थे। नन्द-यशोदा या राधा-गोपी के वे कृष्ण न थे। उनका नाम गिरिधर था, गोपी-मोहन, राधाकृष्ण अथवा नन्दगोपाल न था। वीर क्षत्राणी अपने पति को गिरिधर के रूप में देखना चाहती थी और उनके उसी स्वरूप की वह आराधना किया करती थी। यही कारण है कि मीरा की भक्ति से किसी की भक्ति की तुलना नहीं हो सकती। उसकी भक्ति महान् है। उसके आराध्यदेव किसी दूसरे के आराध्यदेव नहीं हैं। महाभाव की उपासना बहुत से प्रेमियों ने की थी किन्तु सब में कुछ न कुछ शेष रह गया था। कोई 'त्रिकुटी महल' में अभी स्वामी के साथ सोने के लिए सेज ही तय्यार कर रहा था और कोई 'पलकों की चिक' डाल रहा था, लेकिन जिस ढिठाई के साथ मीरा प्रभु के 'पलंग जा पौढ़ी' और पिया की सुख भरी सेज का आनन्द लेती रही, उस प्रकार या वैसा आज तक कोई नहीं कर सका। मीरा दाम्पत्य-रति में राधा और गोपियों से भी आगे निकल गई। अपनी महाभक्ति में उसने स्त्रीत्व का

यथेष्ट परिचय दिया और सिद्ध कर दिखाया कि रति की उपासना के लिये स्त्री का ही हृदय यथेष्ट है। सचमुच विचार करने पर पता चलता है कि रति-भाव की उपासना करने में पुरुष-पतंगों को स्त्री बनना पड़ता है, स्त्रीत्व का भाव बलात् लाना पड़ता है। दूसरी ओर स्त्री का हृदय स्वभावतः, संस्कारतः और जन्मतः स्त्रीत्व को पाये रहता है। उसमें समर्पण करने की पूर्ण शक्ति निहित रहती है। स्त्री का हृदय कोमल, भावप्रवण और मुलायम होता है। पुरुष का हृदय स्त्री से कठोर और कड़ा होता है। उसमें विजय-भावना या समर्पण कराने की भावना सन्निहित रहती है। मतलब यह कि पुरुष स्त्री का-सा हृदय नहीं पा सकता। मीरा स्त्री थी, एक हिन्दू घर की पावन सती थी। उसका हृदय कोमल और भावप्रवण था जो किसी दिलदार के दिल लगाने के लिये ही उपयुक्त था और जिस पर कोई नागर अपनी प्रेम-छाप आसानी से छोड़ सकता था। भाग्यवश उसे एक सुयोग्य एवं शिक्षित पुरुष मिल गये—'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर।' मीरा श्री गिरिधारीलाल जी को पाकर धन्य हो गई, पावन हो गई। आशा है, उसके प्रभु भी मीरा जैसी पत्नी पाकर अपने को कृतकृत्य मानते होंगे, अपना भाग्य सराहते होंगे!

जगत् के सारे सम्बन्धों में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध ऊँचा कहा गया है। क्वीन्स महाशय ने कहा है 'The ultimate destiny of man is to become a woman.' कारण यह कि स्त्री का स्थान पुरुष से ऊँचा है। पत्नी अपने स्वामी के लिये सब कुछ है, उसका स्वामी भी उसके लिये सब कुछ है। पत्नी के लिये पति के सिवा

दूसरा कोई नहीं है। वैसे ही पति के लिये पत्नी के सिवा दूसरा कोई नहीं है। दोनों का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का है। परमात्मा के ख़ुश होने का कारण भी यही है कि उनकी भक्ति स्वामी के रूप में, पति के रूप में की जाय। पत्नी अपने पति के सामने जगत् को कुछ नहीं समझती। इससे उन्हीं के नाम की एक-मात्र वह शान्त चित्त माला फेरती है। यदि आवश्यकता देखती है तो उनकी सेवा-परिचर्या में शीघ्र रत हो जाती है। वह सखा के समान उन्हें मंत्रणा देती है और माता के समान पति के ऊपर नियंत्रण रखती है। अपना स्थाई पत्नी का कार्य तो वह हर क्षण उनके सामने दिखाती है। अतएव पत्नी में भगवान लीला पुरुषोत्तम को ख़ुश करने के सभी भाव हैं। गिरिधारी-लाल की प्रिया मीरा में क्रमशः सभी भावों की झाँकी लीजिये। प्रथम स्थान 'शान्त' भाव का दिया गया है। मीरा अपने स्वामी के नामों का गायन शान्त-चित्त गा रही है। यहाँ मीरा की भक्ति शान्त भाव में स्पष्ट झलकती है, देखिये :

मैं गोविन्द गुण गाणा।
राजा रूठै नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कहँ जाणा ?

भगवान के नाम-स्मरण का अभ्यास करते-करते मीरा उस सोपान पर पहुँचती है जहाँ महात्मा तुलसीदास रहते थे। 'दास्य' के भाव में आकर मीरा 'शान्त' भाव को बिलकुल भूल जाती है। केवल प्रभु से निवेदन करती है :

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ।
झूठे धंधों से मेरा फंदा छुड़ाओ॥

भक्ति मारग दासी को दिखलाओ ।
मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ ॥

'दास्य' का सोपान लाँघ कर भक्त सूर के सोपान पर जा पहुँचता है । उस सोपान पर अंधे भक्त के नेत्र भी निशि-दिन बरसते रहते हैं । 'सख्य' का भाव वियोग के करुण-रस से सदा ओत-प्रोत रहता है । मीरा की दशा इस सोपान पर आकर अपने प्राण-सखा को पाने के लिये अजीब-सी हो गई है :

म्हारे जनम-मरणरा साथी थाँने नहिं बिसरूँ दिन राती ॥
थाँ देख्याँ बिन कल न पड़त है जाणत मेरी छाती ।
ऊँची चढ़-चढ़ पंथ निहारूँ रोय-रोय अखियाँ राती ॥

सखा और साथी कहने का परिणाम यह होता है कि कभी-कभी मुख से कुछ निम्न बातें निकल जाती हैं जिनकी घनिष्टता सखा से अधिक होती है । सच्चे साथी और मित्र के बाद रक्षा करने वाली माता है । माता जितना प्यार पुत्र पर रखती है उतना निष्काम प्यार कोई नहीं करता । कृष्ण को यशोदा प्रेम से खिलाती, पिलाती और सुलाती थी । फिर ज्योंहि सबेरा होता वे उन्हें सावधानी से जगा दिया करती थी । इधर मीरा भी अपने प्राण वल्लभ गिरिधर को जगा रही है :

जागो बंसीवारे ललना जागो मोरे प्यारे ।
रजनी बीती भोर भयो है घर घर खुले किंवारे ।
गोपी दही मथत सुनियत है कँगना के झनकारे ॥
उठो लालजी ! भोर भयो है सुर नर ठाढ़े द्वारे !

ग्वाल बाल सब करत कुलाहल जय जय सबद उचारे ॥
माखन रोटी हाथ में लीनी गउवद के रखवारे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर तरण आयाँ कूँ तारे ॥

इस पद में मीरा ने वात्सल्य के आवरण में विशुद्ध-दाम्पत्य भावना की संजो कर रक्खा है। गिरिधर सोये हुए हैं और मीरा उन्हें नाना प्रकार से जगा रही है। हिन्दू सती का यह भारी कर्त्तव्य है कि अपने पति से पीछे सोए और पहले जगे। मीरा का प्रेम आशिक़ों जैसा नहीं था। वह कृष्ण को चन्द्रवंशी क्षत्री जानती थी। उनसे अपना सारा व्यवहार वह एक पवित्र हिन्दू पत्नी का रखती थी। उनसे सब कुछ वह वैसा ही करती थी जैसा सीता आदि भारतीय ललनाओं ने अपने स्वामी के साथ किया था। मीरा गिरिधर से पूर्व उठकर उन्हें जगा रह है, एक बड़े महत्व की वस्तु इस पद में है। और वह क्यों जगा रही है? चूँकि स्त्री के अनेक कर्मों में एक उसका यह भी कर्म है। यदि इस विषय पर काफ़ी जानकारी प्राप्त करनी हो तो भाई श्री 'माधव' जी से पूछिए। पति के सम्बोधन में 'ललना' और 'लाल' शब्द भी अवश्य विचारणीय हैं। ललना और लाल मीरा के प्यार के उभार में आए हुए शब्द हैं। सूक्ष्म दृष्टि से उन शब्दों का उच्चारण करते ही हृदय तृप्त हो जाता है और प्रेम की मानो हद हो जाती है। दूसरी विचारणीय वस्तु जो इस पद में हैं वह है गिरिधर को उठाने के प्रलोभन और प्रार्थनाएँ जिन्हें कह कर मीरा कृष्ण को उठा रही है? पहली बात है कि जब घर-घर का किवाड़ खुल गया है तो गिरिधर-जैसे कर्त्तव्यशील और विचारशील पुरुष का किवाड़ क्यों बन्द रहे? ज़रा शर्म की बात

है। इस शर्म से जब कृष्ण शर्मिन्दा नहीं होते तो मीरा गोपियों के दधि-विलोड़न (शायद माखन खाने के लिये और चोरी करने के लिए) से उठा हुआ कंगन की मृदुल झंकार (शायद रास रचने के लिये) सुनाती है। जब मीरा का यह प्रलोभन भी व्यर्थ जाता है तो वह कृष्ण से द्वार पर सुर-नर के खड़ा होने की बात कहती है। पर आज कृष्ण को बड़ी गहरी नींद आई है। मालूम पड़ता है मीरा के साथ रात भर वे जग रहे थे। अन्त में मीरा ग्वाल बालों के पूर्ण जय-जयकार का ऐसा कोलाहल कराती है कि कृष्ण को शर्म के मारे और अशान्ति के मारे उठ जाना पड़ता है। वे उठ कर हाथ में माखन रोटी (मीरा द्वारा बनाया हुआ) लेकर ग्वाल बालों में जा मिलते हैं, मानो वे बहुत देर से जगे हों और हाथ-मुँह धो चुके हों। अब मीरा के प्रभु उठ कर नाश्ता पानी कर लेने के बाद प्रथम कार्य जो करते हैं वह है शरणागतों का उद्धार। जैसे-जैसे जो-जो आया है एक-एक करके सबको गिरिधर तारने जाते हैं। मीरा 'वात्सल्य' से उठकर कृष्ण की भक्ति 'माधुर्य' द्वारा प्रकट करती है। यहाँ सोना जागना नहीं है, एक दाम्पत्य रति का लीला-विहार है। ध्यान दीजिये कि जो भक्त भगवान के नाम का जाप करता था, जो भगवान की चरण-सेवा चाहता था, जो सखा भगवान के वियोग में नेत्र से अजस्र अश्रु प्रवाह करता था तथा जो प्यार-दुलार में केवल भगवान को भुलाए रखना चाहता था वही न मालूम अब क्या करने चला :

मैं गिरधर के रँग राती, सैयाँ मैं गिरधर के रँग राती ॥

पचरँग चोला पहर सखी री मैं फिरमिट रमवा जाती।

झिरमिट माँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती ॥

स्वामी के पास जाने की मीरा ने अपूर्व तैयारी की थी। 'पचरँग चोला' का पहनाव उसने शायद नियमानुसार पहन लिया था, कुछ गिरिधर को प्रसन्न करने के लिए नहीं। चूँकि मीरा जानती थी कि असली तैयारी तो मन की है। शारीरिक शोभा का मूल्य अवारे समझते हों लेकिन भगवान नहीं समझते। उनके सामने तो निरावरण होकर मिलना होता है। मीरा ने यद्यपि 'पचरँग चोले' को पहन लिया था लेकिन जब गिरिधर से साक्षात्कार हुआ तो चट मीरा 'खोल मिली तन'। 'पचरँग चोला' मीरा ने खोल दिया और शरीर से शरीर मिला दिया। इसका भाव यदि ऐसे समझा जाय तो और अच्छा होगा कि मीरा गिरिधर से शरीर खोल कर मिल गई अर्थात् मन से मिल गई। तन से उसका तन मिल गया, मन से उसका मन मिल गया और हृदय से उसका हृदय उलझ गया। महा-मिलन अथवा अन्तिम मिलन हुआ। शरीर खोलने का भाव साक्षात् रूप से भी सम्भव हो गया है। भक्तों ने शरीर को अनेक बार प्रत्यक्ष खोल कर प्रभु को दिखा दिया है। भक्ताग्रगण्य हनुमान जी ने शरीर फाड़कर श्री सीता राम की झाँकी दिखाई थी। भगवान ने अनन्य चिन्तन करने वाले भक्तों के लिये बार-बार घोषणा की है :

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

यह नियम जाति विशेष या वर्ग विशेष के लिये नहीं है :

मां हि पार्थं व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

प्रेम-पथ—मीरा की महान्-भक्ति जिसका ऊपर परिचय दिया गया है, प्रेम-भक्ति थी। उस भक्ति का मूल केवल प्रेम था। उसी की नींव पर मीरा की भक्ति की भव्य इमारत खड़ी थी। इसी से मीरा की भक्ति को कुछ लोग प्रेम-प्रधान भक्ति कहते हैं और कुछ लोग तो कहते ही नहीं—केवल मीरा का प्रेम कहते हैं। भगवान से मीरा ने प्रेम किया था, भक्ति की ही नहीं थी। उसका प्रेम सूर और तुलसी का-सा प्रेम नहीं था और न था राधा और गोपियों का-सा। उसका प्रेम सीता का-सा था। उसके कृष्ण 'नागर' राम के समान थे। राम-सीता का अलौकिक प्रेम मीरा ने एक बार पृथ्वी तल पर फिर से बहा दिया। उस प्रेम-वेलि की छाया में जाकर किसे शान्ति न मिली ? किन्तु हाँ, जिस प्रेम की अनवरत साधना मीरा ने की वह प्रेम बड़ा ही दुर्लभ था। उसके लिए प्रेम साधक के पथ में कितने विघ्न उपस्थित हुए और वह उन्हें किस प्रकार टालता गया—इन सब का वास्तविक ज्ञान एक मात्र उसी को है। बहुत प्रारम्भ में, जब कि उसके गुरु ने उसके हृदय में प्रेम की एक चिनगारी डाली थी, बड़े ज़ोरों उसके हृदय में दर्द उठा। मीरा उसी दर्द में विकल हो गा उठी :

हेरी मैं तो दर्द दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय ॥
घायल की गति घायल जाणै, जो कोई घायल होय।

जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होय ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवण किस बिधि होय ।
गगन मँडल पर सेज पिया की, किस बिधि मिलणा होय ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय ।

प्रारम्भ के दर्द में मीरा घायल-सी घूम कर पिया-मिलन के लिए उतावली थी। लेकिन अधिकार की बात न थी कि वह शीघ्र जाकर प्रियतम से मिल जाय। प्रियतम की सेज आकाश-मण्डल में, सूली पर लगी हुई थी। एक तो आकाश यों ही दूर था, दूसरे वहाँ भी सोना था उस सेज पर जिसके नीचे सूली लगी हुई थी। महात्मा ईसा शायद इसी सेज पर सोये थे। उसी सेज पर सोने की उत्कण्ठा मीरा के हृदय में अब हुई। मीरा धीरे-धीरे इश्क़ के दर्द से क्षीण होने लगी। उसका चेहरा पीला पड़ गया। लोगों ने समझा कि उसे 'पिंड रोग' हुआ है। मीरा के मुँह से 'बैद मिल्या नहिं कोय' आ रहा था। क्या था? लोगों ने बैद बुला कर उसकी नाड़ी दिखवाई। मीरा ने स्पष्ट शब्दों में कहा :

बावल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हाँरी बाँह ।
मूरख बैद मरम नहिं जाणे, कसक कलेजे माँह ॥
जा बैदाँ घर आपने रे, म्हाँरो नाँव न लेय ।
मैं तो दाझी बिरह की रे, तू काहे कूँ दारू देय ॥
माँस गल गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि ॥
आँगलियाँ री मूदड़ी, (म्हारे) आवण लागी बाँहि ॥

अतः

मीरा की प्रभु पीर मिटेगी। जद बैद साँवलिया होय॥

लेकिन जब तक 'बैद साँवलिया' नहीं मिला और, जब तक मीरा पिया की सेज पर जाकर नहीं सो गई तब तक रास्ते में वह घायल ही रही। प्रेम के अगम पंथ में मीरा डट कर उतर गई थीं। घर वाले रोकते रह गये, दुनिया लजाती रह गई किन्तु मीरा प्रेम-पथ में चल दी और मस्ती के साथ चल दी। सिद्धान्त के अटल व्यक्ति को फिर डिगाने वाला भी तो नहीं मिलता। देखिए मीरा किस रास्ते होकर जा रही है :

तेरो कोई नहिं रोकणहार मगन होइ मीरा चली॥
लाज सरम कुल की मरजादा सिर सै दूर करी।
मान अपमान दोऊ धर पटके निकसी ग्यान गली॥

मीरा का प्रेम-पथ यही है। यह प्रेम का रास्ता कोई चौड़ी सड़क नहीं है। यह इतना संकीर्ण रास्ता है कि इसे गली ही कहा जाय तो बहुत ठीक होगा। इस प्रेम-गली में प्रवेश करने के पहले यात्री को अपना अस्तित्व ही मिटा देना होता है। 'तू' का इतना लोप कर देना होता है कि उसकी बू तक भी न रहने पाए। बात यह है कि प्रेम का पथ बड़ा संकीर्ण है। उस पर मुश्किल से एक आदमी जा सकता है। जब प्रेमी जाना चाहता है तो वह प्रिय को रास्ते में पकड़ कर अपने को उन्हीं में लीन कर देता है। यह कहें कि प्रिय और प्रेमी दोनों के ठहरने योग्य यह मार्ग है, सो बात नहीं। यह तो एक गली-मात्र है—ज्ञान-गली या प्रेम-गली जहाँ :

मैं है तो तू है नहिं तू है तो मैं नाहिं।

प्रेम-गली अति साँकरी दोनो नहिं ठहराहिं॥

एक साधक ने ज्यों ही इस गली में क़दम रक्खा कि उसका दिल ही खो गया। बेचारे ने उस समय की अपनी अजीब दशा का उल्लेख किया है:

तेरी गली में आकर खोये गये हैं दोनो।

दिल मुझको ढूँढता है मैं दिल को ढूँढता हूँ॥

अजीब परेशानी है। एक तो संकीर्ण गली, दूसरे उसी में खो गया दिल। मैदान में यदि कोई चीज़ खो जाय तो मिल-जुल कर कितने आदमी उसे खोज सकते हैं; किन्तु जहाँ एक व्यक्ति भर के ठहरने का स्थान है, देह टस से मस नहीं की जा सकती वहाँ की खोई चीज़ कैसे पाई जा सकती है? और उसे खोजने में ही कितनी परेशानी उठानी पड़ेगी? प्रेमी का दिल खो जाता है सही, पर यही दिल जाकर उसके दिलदार में मिल जाता है। कहा जा चुका है, कि प्रेम का रास्ता बड़ा संकीर्ण होता है, उस पर जाने के लिये प्रेमी अपना अस्तित्व मिटा देता है, रह जाता है तो केवल उसका प्रिय। बस उसका प्रिय ही उसका खोया हुआ दिल पाता है। अतएव जितने भी आज तक प्रभु के प्रेमी हुए हैं उन सभी ने अपने आप को मिटा दिया है और प्रभु को सर्वभावेन समर्पण कर दिया है। भक्ति-पथ और प्रेम-पथ में क़दम रखने के पूर्व अपनी हस्ती को मिटाना अनिवार्य है। एक भक्त की राय भी है:

मिटा दे अपनी हस्ती को, अगर कुछ मरतबा चाहे।

कि दाना ख़ाक में मिल के, गुले गुलज़ार बनता है॥

मीरा ने प्रेम-पथ के द्वार पर पहुँचने के पूर्व ही अपना सब कुछ त्याग दिया था। घर-बार, लाज-मर्यादा सबको छोड़ कर अपने को पूर्णरूपेण गिरिधर नागर पर चढा दिया था। हम केवल 'सर्व धर्मान्' का पूर्ण आत्म-सर्मपण मुख से उच्चारण करते हैं और उसका व्यवहार मीरा ने कर दिखाया है। सब कुछ छोड़ कर 'होनी होय सो होई' कह कर ललकारने वाली मीरा धन्य है। साथ ही यह भी ध्रुव है कि प्रेमी को प्रभु में पूर्ण विश्वास रहता है तभी वह सब कुछ ठुकरा कर उनके लिये दीवाना हो जाता है। मीरा अच्छी तरह जानती थी कि परमात्मा की विशेष दृष्टि अपने प्रेमियों पर होती है और वैसे तो उनकी विरद है :

He prayeth best who loveth best,
All things both great and small,
For the dear God who loveth us,
He made and loveth all.

प्रेम-पथ में चलते-चलते मीरा को जब अधिक दिन हो गये तो स्वभावतः उसने पथ की कठिनाइयों के विषय में सोचा। जब उसे रास्ते भर की कठिनाइयाँ याद पड़ीं तो उसका मन अधीर हो उठा। उसे कभी मार्ग की कठिनता इतनी नहीं मालूम हुई थी जितनी मिली। एक दिन तंग आकर वह बोल उठी :

जो ऐसी मैं जाणती रे, प्रीति कियाँ दुख होय।
नगर ढँढोरा फेरती रे, प्रीति करो मत कोय॥

लेकिन यह बात उसे तब ज्ञात हुई जब कि सारा रास्ता समाप्त हो गया, जब कि उसे सफलता मिल गई। इसी से वह कहती है कि

प्रेम-मार्ग को छोड़ दिए होती यदि इस मार्ग की कठिनाइयों का बोध उसे पहले हुआ होता । पर अब मीरा को अपने प्रेम-मार्ग को बन्द करने का साहस नहीं होता क्योंकि उसे सफलता मिल गई है और प्रेम-रस का अब अनुभव होने लगा है । अब एक-मात्र रस चखना है, विघ्न-बाधाओं का यहाँ लोप हो गया है । यह दूसरी बात है कि प्रेम-मार्ग की कठिनता की ओर मीरा संकेत कर रही है जैसा कर देना उसके लिये आवश्यक और उचित है । वह भुक्त-भोगी है । इसका सब का अनुभव उसे हुआ है जिसे हमारे लिये बताना उचित है । वास्तव में मैं कहता हूँ कि प्रेम-मार्ग विकट है । रास्ते में जो कठिनाई और विकटता है, वह तो है ही; भगवान के पास पहुँचने पर भी बड़ा बखेड़ा है । मीरा हरि के पास चली गई थी । वहाँ जाकर अब उसने सोचा था कि प्रभु से झट मिल लेगी किन्तु उनके घर के दरवाज़े ही चारों तरफ़ से बन्द थे । देखिये मीरा की हालत :

गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ?
ऊँची नीची राह लपटीली, पाँव नहीं ठहराय ।
सोच सांच पग धरूँ जतन से बार बार डग जाय ॥
ऊँचा नीचा महल पियाका म्हाँसूँ चढ्यो न जाय ।
पिया दूर पंथ म्हाँरो झीणो सुरत झकोला खाय ॥
कोस कोस पर पहरा बैठ्या पैंड पैंड बट मार ।
हे बिधना कैसी रच दीनीं दूर बसायों म्हाँरो गाँव ॥

स्त्री का अपना गाँव तो ससुराल ही है न । नैहर तो केवल उसका जन्म स्थान है । असली गाँव है ससुराल जहाँ मीरा पहुँच गई ।

प्रतीक्षा और दर्शन-लालसा—रूप से प्रेम और गुण से श्रद्धा उत्पन्न होती है। परमात्मा के रूप और गुणों से रीझ कर भक्त भक्ति करते हैं। पर परम प्रेमिन मीरा ने भगवान के रूप से आकृष्ट होकर प्रेम किया था। प्रेम का प्रत्येक स्वरूप उसमें चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। कृष्ण की मिलन-प्रतीक्षा और उनकी दर्शन-लालसा में आजीवन वह तड़पती रही। संयोग के सुख भी उसे प्राप्त हुए होंगे और हुए थे किन्तु सौन्दर्य-जनित प्रेम उसको प्रेम-पथ में सदैव तड़पाता रहा। राधा अथवा गोपियों को तो साहचर्य के काफ़ी सुख मिले थे और उनके प्रेम भी साहचर्य और सौन्दर्य दोनों से उत्पन्न थे; किन्तु भोली-भाली अबला मीरा तो मिलन का नाम ही नहीं जानती थी—'मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलण कैसे होय री।' इसी से उसने कहा है—'मिल बिछड़ो मत कोयरी।' जब तक प्रभु प्रेमियों से मिल नहीं जाते तब तक का समय प्रेमियों के विरह-वेदना का कहलाता है। विरह-वेदना में बैठ कर रात-रात भर मीरा काट देती है मगर प्रभु नहीं आते। यह व्यर्थ का घाटा पसन्द नहीं आता :

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय का पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो॥
सखियन मिलकर सीख दई मन एक न मानी हो।
बिना देख्यॉं कल नाहिं पड़त जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग अंग व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अंतर बेदन बिरह की कोई पीर न जानी हो॥

ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछली जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहणी सुधबुध बिसरानी हो॥

केवल एक रात की बात यह नहीं है। प्रत्येक रात मीरा जग कर काटती थी। सुखी और सन्तुष्ट रहने पर ही रात को नींद नहीं आती है तो सारी रात चिन्ता और विरह-व्यथा में निकल जाती है। सुना जाता है रात में चार दिवाने जगते हैं। चोर, जिसको चोरी करनी होती है; रोगी, जिसको पीड़ा सोने नहीं देती; भोगी, जो भोगेच्छा से किसी की क्रीड़ा या प्रतीक्षा में सारी रात काट देता है। अन्तिम जगने वाला है योगी जो भगवान के अखण्ड चिन्तन में तल्लीन रहता है। इसमें मीरा चाहे किसी श्रेणी की जगने वाली दीवानी हो; पर वह जागती और ख़ूब जागती थी। जबकि समस्त संसार सोता होता, मीरा जगती रहती। क्यों जगती? गिरिधर का रूप चुराने के लिए। यदि उसे रोगी समझें तो अत्यन्त उत्तम; क्योंकि उसके हृदय में 'कसक' हैं। भोग की वासना यदि मीरा में मानते हैं तो कृष्ण के भोग करने की उसे अन्तिम उत्कंठा है और योगी की हैसियत से मीरा महायोगी है। क्या योग की यह मामूली क्रिया है कि :

मैं बिरहणि बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली॥

महायोगी कबीर को जगते-जगते क्षोभ हो गया था :

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

रूप का पुजारी केवल दर्शन के लिये आकुल रहता है कि कब प्रिय आवें और उनका दर्शन हो जाय। प्रेमी की पहली लालसा

दर्शन की ही रहती है। कबीर भी यद्यपि दर्शन के लिए जग रहे थे पर उनकी आँख पंथ निहारते-निहारते दुखने लगी थी। मीरा के नेत्र भी दुख गए थे किन्तु उसके नेत्र जगने के कारण या प्रतीक्षा में बाट जोहने के कारण नहीं दुखे थे। यदि प्रभु का दर्शन हो जाय तो उसका रोज़-रोज़ का जगना और उसका सारा परिश्रम बिलकुल दूर हो जाय। बहुत दिन बीत गए और गिरिधारीलाल जी ने अभी दर्शन नहीं दिया। अत: —

> **दरसन बिन दूखण लागे नैन।**
> **जब से तुम बिछुड़े प्रभु मोरे कबहु न पायो चैन॥**
> **सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपै मीठे लागैं बैन।**
> **बिरह कथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन॥**
> **कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।**
> **मीरा के प्रभु कबर मिलोगे दुख मेटण सुख दैन॥**

'जब से तुम बिछुड़े' के द्वारा मीरा बोध कराती है कि कभी प्रभु मिले भी थे। उनका मिलन दो प्रकार का हो सकता है। एक मिलना तो सृष्टि के आदि की ओर संकेत करता है। जब से जीव ईश्वर से विलग हो जाता है तभी से उसे कभी चैन नहीं पड़ती। गोस्वामी जी ने 'तबते जीव भयउ संसारी' में इसका पूर्ण विवेचन किया है। दूसरा मिलन प्रेमी को प्रेम-मार्ग में यदा-कदा हुआ करता है। उसी के बल पर वह प्रेमी प्रेम-पथ में आगे बढ़ता है। मीरा ने परमात्मा के बीच-बीच के इस क्षणिक दर्शन और मिलन की ओर कई बार कहा है—'डारि गयो मनमोहन फासी।' 'हो जी हरि कित

गये नेह लगाय ?', 'प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय ?' दर्शन की प्रतीक्षा अभी चल ही रही थी कि एक दिन विचित्र घटना घटी। सोचने की बात है कि जो नित्य-प्रति जग रहा है उसे कभी न कभी तन्द्रा का हलका झोंका अवश्य ही आ जायेगा। मीरा सावधानी के साथ जगती थी। एक दिन एक हलकी तन्द्रा ने उसे आ दबोचा और उसी में :

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी पल में पीव आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग पड़ी पिव ढूँढ न पाये॥
और सखी पिव सोइ गमाये, मैं जू सखी पिव जागि गमाये।

'घड़ी एक नहीं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।' ऐसी दर्शन की जिसे भूख हो जाती है उसका एक पल भी व्यर्थ नहीं जाता। हर समय प्रभु की मूर्ति उसकी आँखों में छाई रहती है। मीरा के प्राण-प्राण में, आँख-आँख में गिरिधर की त्रिभंगी मूर्ति बस गई थी। उस मूर्ति के ध्यान से मीरा तनिक भी तिरोधान नहीं करती थी, ज़रा भी गाफ़िल नहीं होती थी। पहले तो यह क्रम जाग्रत अवस्था में चलता रहा फिर स्वप्न में भी यह क्रम भंग नहीं होता। स्वप्नावस्था की लम्बी अवधि को कौन कहे, मीरा को ज़रा-सी नींद लगी थी कि प्रभु उसके पलकों में आ विराजे। लेकिन जो प्रत्यक्ष दर्शन का प्रतीक्षक था वह जग कर अकचकाहट में स्वागत करना चाहता ही था कि स्वप्न विलीन हो गया। ऐसा देखा जाता है कि जो मनुष्य बहुधा जिस वस्तु को चाहता है उसका वह स्वप्न भी देख लिया करता है। कभी ऐसा भी होता है कि अपनी गर्ज से उस समय उसकी नींद खुल जाती है। नींद खुलने के पहले वह नींद

खोलने की चेष्टा करता है। इसलिये करता है कि शायद स्वप्न की बात सच ही तो नहीं है? यदि मालूम हो जाता है कि वह निद्रावस्था का चित्र था तो उसकी आशा पर पानी फिर जाता है। वह सोचता है कि वह निद्रावस्था में ही कुछ और देर तक क्यों नहीं रहा? अब तक मीरा ने सुना था 'सोवे सो खोवे और जागे सो पावे' लेकिन उस दिन इस क्रम को उसने उल्टा देखा क्योंकि सोने पर ही उसे कृष्ण मिले थे और जगने पर ही वे गायब हो गए। गुप्त जी के शब्दों में ऐसा क्रम भंग हुआ कि :

कहते आते थे यही अभी नर देही।
'माता न कुमाता पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,-
'हैं पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'

दर्शनानन्द और प्रेमालाप—वियोग और मिलन दोनों प्रभु की दिव्य क्रीड़ाएँ हैं जिन्हें वे अपने प्रेमियों के साथ खेला करते हैं। प्रेम-पथ की लम्बी मंज़िल में कभी प्रभु दर्शन दे जाता है, कभी छिप जाता है; उसकी लुका-छिपी बराबर हुआ करती है। जब 'वह' छिपा रहता है तब प्रेमी का मन उसके दर्शन के लिये व्यग्र रहता है। उसी व्यग्रता में वह नाना प्रकार से प्रभु की विनय करता है, कुछ मीठी शिकायत भी करता है। इस प्रकार जब भगवान् भक्त को दर्शन का अति आतुर जान लेते हैं तो उसे दर्शन भी वे देते हैं। मीरा की प्रतीक्षा और दर्शन लालसा जो थी वह प्रभु का साक्षात्कार होने से पूरी हुई। मीरा के घर एक दिन कृष्ण आ गए किन्तु दर्शन की जो बड़ी साध थी इससे पहला

कार्य जो उसका हुआ वह यह था कि नेत्र रूप-सुधा का पान करने लगे :

> (मेरे) नैनाँ निपट बंकट छबि अटके ।
> देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूख न मटके ।
> बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनौ अति सुगंध रस अटके ॥
> टेढ़ी कटि टेढ़ी कर मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ।
> मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नटके ॥

इस रूप-सुधा के पान करने में मीरा के साथ नेत्रों ने भी बड़ा धोखा दिया । वह क्या, कि जब से उन्होंने गिरिधारीलाल जी को देखा तब से फिर लौट कर के वापस नहीं आये । वे गिरिधर के पास ही रह गये, उन्हीं के हो गये । दर्शनानन्द की इस परितृप्ति को मीरा इस प्रकार सुनाती है :

> नैणा लोभी, रे, बहुरि सके नहिं आय ।
> रोम रोम नखसिख सब निरखत, ललकि रहे ललचाय ॥
> मैं ठढ़ी ग्रिह आपणे री, मोहन निकसे आय ।
> बदन चँद परकासत हेली, मँद मँद मुसकाय ॥
> लोक कुटुंबी बरजि बरजहीं, बतियाँ कहत बनाय ।
> चचंल निपट अटक नहिं मानत, पर हथ गये बिकाय ॥

जब मीरा के नेत्र अपने न रहे तो उसने अपनी अन्य इन्द्री का उपयोग किया अथवा यों कहिये कि दर्शनानन्द से परितृप्त होकर कुछ और की चाहना होने लगी । प्रेमी को प्रत्यक्ष देखना तो वैसा ही है जैसे कोई चित्र देखना है । जब तक उससे कुछ संलाप न हो जाय

तब तक प्रत्यक्ष दर्शन से क्या विशेष लाभ हुआ ? दूसरे मनुष्य की इच्छा और लालसा भी तो आगे-आगे दौड़ती चलती है न ? गिरिधारी लाल की अनुपस्थिति में मीरा को केवल यही भूख थी कि केवल दर्शन हो जाय। जब दर्शन हुआ तो प्रेमालाप करने के लिए मीरा छटपटाने लगी। प्रेमालाप उसे नहीं भी करना पड़ता। मगर कृष्ण उसकी ओर ताकते नहीं थे। अतः उसे बाध्य होकर उनके मुँह लगना पड़ा :

तनक हरि चितवौ जी मोरी ओर।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर॥
मेरे आसा चितवनि तुमरी और न दूजी दोर।
तुमसे हमकूँ एक हो जी हम-सी लाख करोर॥
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ अरज करत भयो भोर।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी देस्यूँ प्राण अकोर॥

मुँह लगने भर की देर रहती है फिर तो 'हूँ छिगुनी पहुँचो गहत' देर ही नहीं लगती। मगर एक साहब सोच रहे थे कि मिलने पर प्रभु से यह कहेंगे और वह कहेंगे पर 'जब वह आ गये सामने, कोई शिकायत रही न बाक़ी।' प्रभु के सामने उनके होश उड़ गए और उनकी ज़बान पर लगाम लग गया। मीरा पहले से शिकायत की कोई बात कहने को नहीं सोचे हुए थी पर जब भेंट हुई तो बात के प्रसंग में वह लगी मीठी-मीठी चुटकी लेने :

तो सों लाग्यौ नेह रे प्यारे नागर नंद कुमार॥
पानी पीर न जानई ज्यों मीन तड़फ मरि जाय।

रसिक मधुप के मरम को नहिं समुझत कमल सुभाय ॥

दीपक को जो दया नहिं उड़ि उड़ि मरत पतंग ।

इधर नागर नन्द कुमार बैठे ही हुए थे कि मीरा अपनी सहेली के घर चली गई। सहेली ने मीरा के आने का कारण पूछा। मीरा ने कहा तू जानती नहीं है ? चल, चल :

सहेलिया साजन घर आया हो ।

बहोत दिनाँ की जोवती बिरहणि पिव पाया हो ॥

वह सहेली कृष्ण को देखने की लालसा से फूली-फूली आई। आने पर मीरा अपने प्राण वल्लभ के अंग-प्रत्यंग को बखान कर उससे दिखाने लगी 'आली ! साँवरे की दृष्टि मानो, प्रेम की कटारी है।' मीरा के उक्त व्यवहार से कृष्ण को ज़रा बुरा-सा लगने लगा और वे बनने लगे। मीरा के सामने उनका बनना भी समुचित था। ऐसा मालूम होने लगा मानो कृष्ण अब जाना चाहते हों। मीरा उनके जी का भाव तुरन्त ताड़ गई। उसने इस बात को अपनी सखी से भी कहा :

ऐसे पियै जान न दीजै हो ।

चलो री सखि ! मिलि राखिये, नैनन रस पीजै हो ।

स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो ॥

सखि ने मीरा का प्रस्ताव मान लिया और वे दोनों साथ गईं और कृष्ण से ठहरने का अनुरोध करने लगी। कृष्ण ने जब यह नहीं स्वीकार किया तब मीरा अकेले एकान्त में कहने लगी :

पिया जी म्हाँरे नैणा आगे रहज्यो जी ।

नैणा आगे रहज्यो म्हाँने, भूल मत जाज्यो जी ॥

ऐसा ही हुआ। अन्त में पति ने पत्नी की बात मान ली। मीरा ने नाना प्रकार से उनकी अभ्यर्थना की। तरह-तरह की वस्तुएँ उनके लिए जुटाईं। जो कुछ उसके बस में था, सब कुछ उनके प्रीत्यर्थ किया। उन सबों में एक चीज़ की तैयारी जो मीरा ने की वह अपूर्व हुई। प्रीतम को ख़ुश करने के हेतु मीरा का नाच का अपूर्व समारोह था। प्रेम के मिलन में और मीरा के प्रफुल्ल प्रेम में उसका नाच बड़े महत्व की वस्तु है। नाच प्रेम की पराकाष्ठा है। शायद प्रेमचन्द ने कहीं लिखा है—'नृत्य ही अनुराग की चरम सीमा है।' सो यथार्थतः नृत्य प्रेम की अन्तिम अभिव्यक्ति है। गाना और झूमना भी प्रेम को कुछ व्यक्त करता है। पर जब मस्ती में मनुष्य नाच उठता है तो उसके प्रेम की हद हो जाती है। मीरा ने दृढ़ संकल्प कर लिया था :

श्री गिरधर आगे नाचूँगी।
नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन कूँ जाचूँगी।
प्रेम प्रीति का बाँधि घूँघरू सुरत की कछनी काछूँगी॥

इस संकल्प के अनुसार मीरा का नाच हुआ। बड़ा ही मोहक और बड़ा ही दर्शनीय था उस दिन का मीरा का नाच। न मालूम गिरिधर के साथ उसको देखने का कितनों को सौभाग्य प्राप्त हुआ। दूसरे दिन चारों तरफ़ लोग कह रहे थे :

मीरा नाची रे।
पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥

रहस्यात्मक प्रेम—मीरा के आविर्भाव-काल में सूफ़ियों का रहस्यात्मक प्रेम अपना विराट् रूप ग्रहण कर चुका था। जायसी

आदि ने जो परमहंस परिछाहीं देखी थी उसे प्रायः सभी प्रेमी भक्त ध्यान पूर्वक देखने लगे थे। मीरा की भक्ति या प्रेम जायसी की भाँति व्यापक न था किन्तु जहाँ रहस्यवादियों से मीरा प्रभावित हुई है वहाँ उसकी भावना रहस्योन्मुख होकर जगत् में व्यापक हो गई है। ऐसे स्थानों पर मीरा साफ़ कहती हैं :

स्थावर जंगम पावक पाणी धरती बीज समान।
सबमें महिमा थाँरी देखी कुदरत के करबान॥

मान लीजियें कि यदि वर्षा हो रही है तो उस समय भी मीरा का हृदय प्रकृति में तल्लीन हो जाता है, तन्मय हो जाता है। वर्षा की आवाज़ में प्रभु के आने की आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ती है :

बरसैं बदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की॥
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, दामण दमके झर लावन की।
नान्हीं नान्हीं बूँदन मेह बरसै, सीतल पवन सोहावन की॥

स्वामी की प्रतीक्षा में बैठी हुई साधिका मीरा सदैव सतर्क रहती है कि कब प्रभु आ जावें। इसलिये यदि कहीं से कुछ भी आहट वह पाती है तो चौकन्नी होकर सुनने लगती है कि कहीं स्वामी ही तो नहीं आ रहे हैं? इतनी व्यापकता के रहते हुए भी मीरा की अपनी भावना, जो अत्यन्त तीव्र थी, उसी की झलक व्यापकता से भी अधिक हो जाती थी। मीरा में व्यापक प्रेम का थोड़ा समावेश है जो परिस्थिति से बाध्य होकर उसे लेना पड़ा है। लेकिन उसका अपना प्रेम अत्यन्त तीव्र है। वह प्रेम मीरा के व्यक्तित्व को ऊपर उठा

देता है। रहस्य में भी मीरा अपने स्वामी के साथ दाम्पत्य-रति के ही लिए यत्नशील रहती है। दाम्पत्य-रति का भाव मीरा में कूट-कूट कर भरा था। उसका अनन्य प्रेम गहरा था जिसकी बड़ी चोट लगती है और जो भीतर बहुत दूर तक पैठ जाता है। देखिए :

छैल बिराणो लाख को हे, अपणो काज न होय।
ताके संग सीधारतौं हे, भला न कहसी कोय॥
बरहीको अपणो भलो हे, कोढ़ी कुष्ठी कोय।
जाके संग सीधारतौं हे भला कहे सब लोय॥

महारानी अनसूया ने सीता को इसकी बड़ी शिक्षा दी थी 'ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥'

प्रसिद्ध है कि महात्मा नागरीदास जी इश्क़ का प्याला लबों से लगा कर प्रेम-मद में ख़ूब झूमा करते थे। वे भी 'माधुर्य' के बड़े भारी भक्त थे। पर जब आप मीरा की प्रेम-भट्ठी का मद देखेंगे तो नागरीदास आदि अनेक रहस्यवादियों का मद भूल जाएगा। मीरा किस मद में झूमती थी, एक झाँकी लीजिए :

और सखी मद पी-पी माती मैं बिन पीयाँ ही माती।
प्रेम भठी को मैं मद पीयो छकी फिरूँ दिन-राती॥
सुरत निरत को दिवलो जोयो मनसा की कर ली बाती।
अगम घाणि को तेल सिंचायो बाल रही दिन राती॥

ज़रा साधक के तेल, बत्ती और दीपक की उद्भावना पर ध्यान दीजिए। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'मानस' में इसी दीपक को इस प्रकार बाला है :

सात्विक श्रद्धा धेनु सवाई। जौं हरि कृपा हृदय बसि आई॥
जप तप व्रत जमनियम अपारा। जे स्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरति चरइ जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइनि वृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परम धरम मय पय दुहि भाई। अटवइ अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावइ। धृति सम जावन देइ जमावइ॥
मुदिता मथइ बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुपरम पुनीता॥

जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावइ ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाइ॥
तब विज्ञान निरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरइ दृढ़, समता दिवट बनाइ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरिय सवाँरि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि॥
एहि बिधि लेसइ दीप, तेज रासि बिज्ञान मय।
जातहि जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥

भिन्नता केवल इतनी ही है कि तुलसी के दीपक में घी जल रहा है और मीरा के दीपक में तेल की बत्ती। घी निकालने में तुलसी को बहुत परिश्रम करना पड़ा है और मीरा ने झट तेल निकाल लिया है।

परिचय, परिस्थिति और सत्संग-भजन—सूर्य को दीपक दिखा कर कोई कैसे परिचय करा सकता है ? राजपूताना की मीराबाई का नाम कौन नहीं जानता जिसकी पुनीत भक्ति से वह मरुस्थल सराबोर हो गया और जिसके सम्पर्क से राणा साँगा का कुल पावन हो गया। प्रेममती मीरा बाई साँगा के पुत्र भोजराज की पत्नी थीं। उनके समय-स्थान आदि के बारे में डॉक्टर एनी बीसेन्ट ने लिखा है :

"In the old dominions of Marwar was a small village—Merata—where to Ratan Singh of Merata, grandson of Jodha, Rahtore Ruler of Marwar, was born a daughter (S. 1573. AD. 1517) मीरा के विवाह होने के कुछ ही दिन पश्चात् उसके पति मर गए। यहाँ तक कि तेइस वर्ष की अवस्था होते-होते उनके माता-पिता, स्वसुर आदि सबका स्वर्गवास हो गया। ये भक्तिन हो गईं। इनकी भक्ति देख कर राणा बहुत चिढ़ा करते थे। उन्होंने मारने के कतिपय उयाप (विष, साँप) किये मगर 'जाको राखे साँइयाँ मारि न सकिहे कोय' के अनुसार इनका बाल भी बाँका न हुआ। अन्त में राणा के व्यवहार से तंग आकर उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास से अपने विषय का कर्त्तव्य पूछा। बड़ा सुन्दर पत्र मीरा ने लिखा था—'स्वस्ति श्री तुलसी गुण-भूषण दूषण हरण गुसांई।' गोस्वामी जी ने 'जाके प्रिय न राम वैदेही' द्वारा उस अबला का मन बोध किया। तब से मीरा घर-बार छोड़ कर वृन्दावन, द्वारका-आदि के लिए निकल गईं और समस्त तीर्थों में ख़ूब भ्रमण किया।

उसके गुरु का नाम रैदास था। रैदास बड़े भगवद्भक्त पुरुष थे। जाति के तो वे चमार थे किन्तु उनकी भक्ति बड़ी रसीली थी। वे कविता भी गाया करते थे। उनके कवित्त बड़े सरल और सुन्दर होते थे। एक बनागी लीजिये :

प्रभु जी ! तुम चंदन हम पानी।
जाकी अंग अंग बास समानी॥
प्रभु जी ! तुम मोती हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सोहागा॥
प्रभु जी ! तुम दीपक हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती॥

मीराबाई साधु होकर बहुत दिनों तक सत्संग करती रही। सम-कालीन सिद्ध संतों से जाकर मीरा दिल खोल कर मिलती थी। जीव गुसाईं के पास भी वह गई थी और उनसे भक्ति-विषयक बड़ी काँट-छाँट मीरा ने की थी। जीव गुसांई ने मीरा की महाभक्ति का लोहा अन्ततः स्वीकार कर लिया था। उन्होंने कह दिया कि सिवा कृष्ण के विश्व में सभी नारी रूप में हैं। इस प्रकार संतो का आजीवन मीरा ने समागम किया। सत्संग द्वारा उसने ख़ूब ज्ञानार्जन किया। संतो की परिपाटी के अनुसार उसने भी राम-भजन, गुरु-भजन और सत्संग-भजन किया और अपने जीवन को सफल बनाया। गुरु के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी। मगर सुना जाता है, एक बार मीरा को एक साधु बचपन में ही कृष्ण की एक लुभावनी मूर्ति दे गया था। उसी मूर्ति को पाकर मीरा कृष्ण पर अनुरक्त हुई थी और तभी से उस गुरु को बराबर याद

किया करती थी। उसके लिये बराबर 'योगिया' शब्द व्यवहार किया है।

गुरु-भजन : (क) मोहि लागी लगन गुरु चरणन की।

चरण बिना कछुवै नहिं भावै जग माया सब सपनन की॥
भौ सागर सब सूख गयो है फिकर नहीं मोहिं तरनन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आस वही गुरु सरनन की॥

(ख) वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु किरपा कर अपनायो।
सात की नाव खेवटिया सतगुरु भवसागर तर आयो॥

(ग) री मेरे पार निकस गया सतगुर मारया तीर।
विरह भाल लागी उर अंदर व्याकुल भया सरीर॥

(घ) सतगुर भेद बताइया खोली भरम-किंवारी हो।
सब घट दीसै आतमा सबही सूँ न्यारी हो॥

इसी प्रकार राम-भजन और सत्संग-भजन के निम्न दृष्टान्त देखिये :

(क) पायो जी म्हें तो राम रतन धन पायो।

(ख) मेरो मन रामहि राम रटैरे!

(ग) लागी मोंहि राम खुमारी हो।

(घ) लेताँ लेताँ राम नाम रे, लोकड़ियाँ तो लाजाँ मीछै।

(च) संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई।

(छ) चोरी न करस्याँ जिव न सतास्याँ काँई करसी म्हारो कोई।

मीरा के प्रभु, 'गिरधर नागर'—जिस प्रकार कबीर के इष्ट देव 'साईं' थे, जायसी के इष्ट-देव 'प्रीतम' थे, सूर के इष्ट-देव 'श्याम' थे और तुलसी के इष्ट-देव 'राम' थे उसी प्रकार मीरा के प्रभु 'गिरधर नागर' थे। कृष्ण का नाम अपने लिए मीरा ने गिरधर नागर रक्ख

था। इसी नाम से अपने प्रभु को वह सम्बोधित करती थी। फिर किस रूप की वह पूजा करती थी और कौन रूप उसकी आँखों में छाया रहता था यह देखिये :

> बसो मेरे नैनन में नंदलाल ॥
> मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैणा बने बिसाल।
> अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंती माल ॥
> छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
> मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भगत बछल गोपाल ॥*

कृष्ण के इसी नटवर, प्रौढ़, श्यामल रूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को अर्पण किया था। मीरा के कृष्ण बालक नहीं थे। वे एक युवा पुरुष थे। दामपत्य-रति की आराधिका उनके बाल रूप से आकृष्ट नहीं थी। उससे उसकी मनोकामना की पूर्त्ति शायद नहीं हो सकती थी। कारणत: उसने कृष्ण को बराबर 'नागर' 'नागर' कहा है तथा उनको एक नागरिक के रूप में रक्खा भी है। गिरिधारीलाल जी का जीवन एक गार्हस्थ्य का है। मीरा उनकी पत्नी है। दोनों पुरुष-पत्नी बड़े सहयोग से रहते हैं और अपना-अपना नियमानुसार कार्य करते हैं। एक निपुण नागरिक का कर्तव्य गिरिधर जानते हैं। वे परम सभ्य, शिक्षित तथा अनेक कलाओं में पारंगत हैं। पहली बात तो यह है कि वे 'धेनु चराने' और 'बंसी बजाने के बड़े शौक़ीन हैं। इन कार्यों में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। नित्य प्रति के कार्यों में एक यह भी उन्होंने रक्खा है :

---

*रणछोड़ लाल की मूर्त्ति ही मीरा के प्रभु गिरधर नागर हैं।

जमना के नीरे तीरे धेन चरावै, बंसी में गावै मीठी बानी।

और

वृन्दावन में धेन चरावै, मोहन मुरली वाला।

वंशी वदन के साथ नृत्य-कला में भी गिरिधर एक हो हैं। जब पत्नी नाचने में निपुण है तो पति को भी नाचने में निपुण होना ही चाहिए। आजकल तो नाचने-गाने की सभी रस्म अदा हो रही है। अतः जिस समय नन्द किशोर वृन्दावन की कुञ्ज गलियों में नाचने लगते हैं तो देखने वाले मन्त्रमुग्ध से देखते ही रह जाते हैं। कैसी सुन्दर नृत्य की झाँकी है। पुरुष और स्त्री दोनों के नाच अन्यतम हैं! देखिये :

मोर मुकट पीताम्बर सोहै कुँडल की झकझोर॥
बिंद्राबन की कुंज गलिन में नाचत नन्दकिसोर।

सुप्रसिद्ध नागरिक होने के नाते गिरिधर नागरिकता के प्रत्येक भाग में यथाशक्ति हाथ बटाते हैं। किसी पर्व-त्योहार में गिरिधर पीछे नहीं रहते। मान लीजिये होली का परम उत्साहवर्द्धक पर्व आता है तो वहाँ भी गिरधारीलाल जी अग्रगराय हैं :

होरी खेलत हैं गिरिधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारो संग जुवति ब्रज नारी॥
चन्दन केसर छिड़कत मोहन अपने हाथ बिहारी।
भरि भरि मूठ गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी॥

मर्यादा पुरुषोत्तम राम में एक अलौकिक गुण था। वह था उनका प्रसन्न-चित्त रहना तथा मृदु-हास। इसी लक्ष्य से कवियों ने उन्हें

'प्रसन्नवदनम्' आदि के विशेषण दे दिये हैं। गिरिधर में यह मृदु हास स्वभावतः प्रस्फुटित था :

बदनचंद परकासत हेली मंद मंद मुसकाय।

यही 'मन्द मन्द हसन्तम्' तथा 'मन्द मुसकान' ही प्रेमियों को खींचे रहती है। 'मन्द मुसकान' की तरह मीठी बोली भी बड़ी प्यारी वस्तु है। गिरिधर किसी से कड़े वचन नहीं बोलते थे। मीरा ने 'मीठा थाँय बोल' के द्वारा उनके इस गुण की व्यञ्जना की है। सबसे विशेष बात जो गिरिधर में है वह यह है कि वे परम भक्त-वत्सल हैं। मीरा ने उनकी भक्त-वत्सलता को इस प्रकार लिखा है :

अंबरीष सुदामा नामा, तुम पहुँचाये निज धामा।
ध्रुव जो पाँच वर्ष के बालक, तुम दरस दिये घनस्यामा॥
धनाभक्त का खेत जमाया, कबिरा का बैल चराया।
सबरी का जूठा फल खाया, तुम काज किये मन भाया॥
सदना औ सेनां नाई को, तुम्ह कीन्हा अपनाई।
करमा की खिचड़ी खाई, तुम गणिका पार लगाई॥

प्रेमियों के प्रेम और प्रियतम का कहाँ तक बखान किया जाय, यह स्वतः 'गीतातीत है।' इसलिये नमस्कार है तीनों को क्योंकि तीनों एक हैं :

'त्रिधाप्येकं सदा गम्यं गम्यमेक प्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेम पात्रं त्रितयो प्रणतोऽस्म्यहम्॥'

मीरा की काव्य-कला

प्रारम्भ में ही कह देना उचित होगा कि मीरा कोई कवयित्री नहीं थी। उसने कोई विशेष कथानक लेकर काव्य की रचना भी नहीं की। वह यों ही प्रेम की एक पुजारिन थी, दर्द की दीवानी थी। उसका हृदय प्रेम-बाण से घायल था। उसी दर्द में वह कुछ न कुछ गुनगुनाया करती थी। इस प्रकार आजीवन अपने साजन की प्रतीक्षा एवं दर्शन-लालसा में वह गाती रही। उसके बिरह-बिंधे हृदय से बिना गाये रहा नहीं जाता था। अतः समस्त जीवन के गीत ने उसके काव्य का रूप धारण कर लिया! उसके समस्त गीत चार भागों में विभक्त हैं। वे ही चारों भाग मीरा के बनाए चार ग्रंथ कहे जाते हैं—नरसी जी का मायरा, गीत गोविन्द टीका, राम गोविन्द तथा राग सोरठ। इन सब ग्रंथों का केवल नाम-मात्र है, कथा या घटना से कोई मतलब नहीं। मीरा को स्वतंत्र होकर अपनी विरह-व्यथा सर्वत्र लिखनी थी। कहीं उसने निवेदन किया, कहीं प्रार्थना लिखी, कहीं त्याग दिखाया, कहीं आत्म-समर्पण किया और प्रेम के आलाप तो उसने सर्वत्र किये। मतलब यह कि ग्रंथ या काव्य के ससीम क्षेत्र में एक भी उसका पद बद्ध न हो सका। मीरा स्वयं स्वतन्त्र रही और उसके पद भी स्वतंत्र रहे, किसी पद से किसी

पद का लाग न रहा। सभी पद उसके अपने भाव को लिए हुए मुक्त हैं और उसका काव्य भी इसी कारण 'मुक्तक' है। प्रबंध के बोझिल भार को मीरा के काव्य अथवा पद नहीं ढो सकते, उनकी कोमल पँखुड़ियाँ उस बोझ से दब जाएँगी। फिर 'प्रबंध' की धारा में विशिष्ट प्रेम का चरमोत्कर्ष भी तो नहीं हो सकता? प्रेम का वेग ऊपर की ओर उठता है और प्रबन्ध समतल पर ज़ोरों से बहता है। इसलिये प्रेम की आख़िरी अभिव्यंजना करने वाला कवि स्वतन्त्र शैली को पसन्द करता है जिससे उसकी पूरी तृप्ति हो। प्रेम के कवियों ने 'मुक्तक' क्षेत्र को इसी से पसन्द किया है।

मीरा की शैली गीत (Lyrical) की है। उसका काव्य गीत-काव्य है। उसका प्रत्येक पद विविध राग-रागिनियों में वर्णित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मीरा गायिका थी। उसका स्वर भी बहुत सुरीला था। एक बार इसी से बादशाह भी उसके गानों को सुनने के लिए आये थे। उन्हें सुन कर बहुत सन्तोष हुआ और मीरा की स्तुति करके वे दिल्ली गये। इस घटना को डॉक्टर ऐनी बीसेन्ट् ने यहाँ तक लिख डाला है—'To the Mughal Emperor reached the fame of that song, and he desired to hear it....At her feet he humbly bent, and offered her a jewelled necklace. In surprise she viewed the handsome jewels; then said, "It is not for Sadhus to possess such treasures. Hast thou obtained it fairly? Otherwise it is not fit offering." "Deviji,

the dark waters of swift Yamuna yielded it up as I bathed. It is but a poor bauble that I offer to thy God."

आज तक प्राय: जितने कवि हुए हैं उनके काव्य या कविता का कुछ अन्य विषय होता है। मीरा अपने काव्य में कवि और विषय दोनों है। उसके पास न राधा है, न सीता, और न पद्मावती, न नागमती। केवल उसका अपना दिल था, उसी दिल को कहानी मीरा गाये जा रही थी। काव्य की सफलता कवि की अपेक्षा विषय की निकटता पर निर्भर रहती है। जो कवि विषय में जितना ही घुस कर, पैठ कर, एकमेक होकर उस पर लिखेगा उसकी कविता उतनी ही रोचक, मोहक और हृदय-द्रावक होगी। बहुत सिद्ध-हस्त कवियों ने विषय के अनुरूप अपने को बना कर, विषय में अपने को डाल कर पाठक को सत्य, शिव और सुन्दर का बोध कराने में समर्थ होते हैं। 'उत्तर-राम चरित' के कवि ने कहाँ तक घुस कर विषय को स्पष्ट किया है, उसके पढ़ने वाले सभी जानते हैं। सब कुछ होते हुए भी कहना पड़ता है कि कवि अन्त में कवि ही है--उसका विषय विषय ही है। जब तक वह कविता करता है तभी तक विषय के अनुकूल वह रहता है। फिर जहाँ उससे छुट्टी मिली कि वह कहीं दूसरी जगह दृष्टिगोचर होगा। मान लीजिए, राधा ने अपनी कारुणिक कथा का उल्लेख आप किया होता तो वह शायद वैसी कविता-कथा बन पड़ती जिसका स्वप्न देखना भी सूर और व्यास को दुर्लभ हो जाता। यहाँ वही बात हुई है। मीरा के दर्द का अहवाल लिखने वाला उसे कोई कवि नहीं

मिला। हार मान कर अपनी पीड़ा को वह स्वतः लिख गई। कविता का कोई विशेष ज्ञान उसे न था, केवल सच बात को मीरा लिखना जानती थी। उसमें यदि काव्यगत कोई लालित्य मिल जाय, दूसरी बात है।

भाव-सौन्दर्य—मीरा कृष्ण के प्रेम में छकी रहने वाली 'माधुर्य' की उपासिका थी। दाम्पत्य-रति की भावना के द्वारा ही उसने अपने हृदय की पीड़ा को व्यक्त किया है। उसके दाम्पत्य-प्रेम का विभाजन दो टुकड़ों में किया जा सकता है—संयोग-पक्ष और वियोग-पक्ष। संयोग-पक्ष के विषय में निवेदन यह करना है कि मीरा की भावना संयोग शृङ्गार के नाना रूप-रंगों से ओत-प्रोत नहीं है। जहाँ शृङ्गार के सुखद संभोग का व्यंग्य भी है वहाँ मीरा बारीकी से आलिङ्गन, चुम्बन, परि-रम्भन आदि से बाल-बाल बचती गई है। यहाँ तक कि रोमांच, वैवर्ण्य, प्रकम्प, प्रस्वेद आदि के भी बहुत हलके चित्र मिल जाते हैं। फिर तो मानना पड़ता है कि मीरा विप्रलम्भ शृङ्गार की ही बड़ी कवियत्री है। मीरा का विरह-वर्णन कोई कथा का विरह वर्णन नहीं है। उसका दुख एक आतुर भक्त का दुख है, एक प्रेमी का दुख है। उसकी विरह-वेदना गहरी अधिक है, व्यापक बहुत कम। विरह-वेदना के भाव-सौन्दर्य आँकने में इसी कारण मीरा को अधिक सफलता मिली है। विरही जिस समय वेदना में आहें भरता रहता है उस समय सुखद और सुहावनी वस्तुएँ काटने दौड़ती हैं। मीरा प्रभु जी की वेदना से आकुल है, उसी समय पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ, की ध्वनी लगाये हुए है। स्वभावतः मीरा

के मुँह से 'उपालम्भ' के वचन निकलने लगते है—'रहो रहो पापी पपिहरे पिव को नाम न लेय।' तथा :

> रे पपइया कब को बैर चितरायो ?
> मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो।
> दाध्या ऊपर लूण लगायो हिवड़े करवत सारयो॥

इसी प्रकार 'खीझ' के अनेक वचन मीरा की रचना में मिलते हैं। पपीहा को मीरा फिर कह रही है :

> पपइया रे पिव की वाणि न बोल।
> सुणि पावेली बिरहणी रे थारी राखेली पाँख मरोड़॥
> चोंच कटाऊँ पपइया रे ऊपर कालोर लूण।
> पिव मेरा मैं पीव की रे तू पिव कहै स कूण ?

महात्मा सूरदास जी की रचना में भी गोपियों के खीझ-भरे उपालम्भ के वचन आए हैं। सूरदास जी ने भाव को व्यापक भी बनाया है। लेकिन याद रखने की बात यह है कि वे अपने भाव गोपियों के द्वारा उँड़ेल रहे हैं और मीरा किसी के द्वारा अपने भाव को व्यक्त नहीं करता। दूसरे सूरदास जी को 'रे पापी तू पंखि पपीहा' को हो खीझ सुनाने का साहस था। मीरा अपनी 'झिझक' श्याम के प्रति भी दिखा सकती थी। देखिये भोली साध्वी मीरा अपने पति के अनाचार से तंग होकर कहती है :

> स्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो।
> औरन सों खेलै धमार, म्हासूँ मुखहुँ न बोलै हो॥

म्हारी गलिया ना फिरै, वाके आँगन डोलै हो।
म्हारी अंगुली ना छुवै, वाको बहियाँ मोरै हो॥
म्हारो अँचरा ना छुवै, वाकी घूँघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु साँवरो, रँग रसिया डोलै हो॥

सच बताइए क्या सूरदास जी में कृष्ण के प्रति उपालम्भ देने का अधिकार था ? राधा दे सकती थी, गोपियाँ दे सकती थीं। पर उन्होंने स्वयं उसे लिखा नहीं। तब कहाँ तक वचनों में सामर्थ्य है कि दूसरे के भाव को उधार ले कर व्यक्त करें ? पपीहा को ही अब मिलन के प्रसंग में लीजिए। यह मानी हुई बात है कि मिलन में विरह की दुखद वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं। सूरदास जी गोपियों के मुँह से कहला रहे हैं :

बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे।
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह-जुरकारो॥
आप दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तिहारो।
देखौ सकल बिचारि सखी ! जिय बिछुरन को दुख न्यारो॥

'सम दुखिनी मिले तो दुख बँटे' के अनुसार गोपियों को पपीहा दुख-भोगी के रूप में अत्यन्त सुहृद् जान पड़ता है और उनका उत्साह बढ़ता प्रतीत होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने मिलन में काग को पकड़ा है और उसके लिये कौशल्या से निम्न वचन कहलाया है :

कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहुँ काग फुरि बाता॥
दूध भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम लखन उर लैहौं॥

दर्द की मारी मीरा उसी पपीहे से, जिसके चोंच और पंख काटने पर तुली थी, कह रही है—'थारा सबद सुहावणा रे।' मगर कब ? 'जो पिव मेला आज।' और तभी वह तुलसी की कौशल्या की तरह कहती है :

चोंच मादाऊँ थारी सोवनी रेतू मेरे सिरताज।

प्रत्युत् काक के लिए भी कुछ नाम मीरा देती है :

प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ रे कागा तूँ ले जाय।
जाइ प्रीतम जासूँ यूँ कहै रे थाँरि बिरहण धान न खाय॥

शायद मीरा के न खाने का समाचार सुनकर गिरिधर चले आवें। प्रेमी को पक्का विश्वास रहता है कि प्रिय को भी उसके प्रति बराबर ही प्रेम होगा, होता है। मीरा दर्द में है। खाना-पीना छोड़ दिया है। जब उसके प्राणवल्लभ सुनेंगे तो क्यों नहीं आवेंगे ? पत्रिका के बाद एक वीभत्स कार्य मीरा काग को बतलाती है कि यदि तुम्हारे पत्रिका देने के बाद भी वे जान कर न आवें तो :

काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कागा तूँ ले जाय।
ज्याँ देसाँ म्हाँरो पिव बसै रे, वे देखै तू खाय॥

इस 'काग' पक्षी को पकड़ कर प्रेमी कवियों ने बड़ा तमाशा किया है। तुलसी के 'मानस में तो एक वक्ता काग ही हैं। मीरा-जैसा अल्हड़ प्रेमी दूसरा था जिसने काक से चेता कर कहा था :

कागा सब धर खाइयो खइयो चुन चुन माँस।
नैना एक बचाइयोकि पिया मिलन की आस॥

मलिक मुहम्मद जायसी ने काग पर बड़ी ही सुन्दर उक्ति कही है :

भोर होइ जो लागै, उठहिं रोर कै काग ।

मसि छूटी जनु रैनि के, कागहि केर अभाग ॥

मीरा की तरह उन्होंने काग के द्वारा सँदेसा भी भेजा है। सँदेसा अत्यन्त सुन्दर है। देखिये :

पिव सो कहेहु सँदेसड़ा हे भँवरा, हे काग ।

सो धनि बिरहै जरि मुइ, ओहि कै धुवाँ हम्ह लाग ॥

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल इस पद में आये हुए 'सँदेसड़ा' शब्द पर बहुत मुग्ध हैं। वे लिखते हैं—"सँदेसड़ा शब्द में स्वार्थे 'ड़ा' का प्रयोग भी बहुत ही उपयुक्त है। ऐसा शब्द उस दशा में मुँह से निकलता है, जब हृदय प्रेम, माधुर्य, अल्पता, तुच्छता आदि में से कोई भाव लिये हुए होता है।" मीरा के पदों में ऐसे भाव-व्यञ्जक 'ड़ा' न मालूम कितने भरे पड़े हैं। भाषा में इसका विस्तार किया जायेगा। एक 'सनेसड़ा' ही देख लीजिए—"पिया का दिया सनेसड़ा ताहि बहोत निवाजूँ हो।" आनन्द-माधुर्य की कैसी उत्कृष्ट, व्यंजना है !!

वियोगियों की 'प्रतीक्षा' और 'इच्छा' बड़ी प्रबल होती है। शबरी को राम के आने का संवाद मिल गया था। वह मिलन की उत्कण्ठा में कभी बाहर, कभी भीतर और कभी मार्ग में 'भूपर पानि' रख कर देखती थी। उसका देखना तुलसी ने बड़ा ही स्वाभाविक बनाया है। इधर दर्शन की लालायिता मीरा भी प्रभु की प्रतीक्षा में बैठ कर उनकी बाट नाना प्रकार से जोह रही है। यहाँ 'प्रतीक्षा' के दो-चार भाव-सौन्दर्य को हम उद्धृत करते हैं :

(क) पंथ निहारूँ डगर बहारूँ, ऊभी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कबर मिलोगे, तुम मिलिया सुख होय ॥

(ख) आओ मन मोहना जी जोऊँ थाँरी बाट।
तुम आया बिन सुख नहि मेरे दिल में बहुत उचाट ॥

(ग) सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
महल चढ़ि-चढ़ि जाऊँ मेरी सजनी ! कब आवैं महराज ?
धरती रूप नवा नवा धरिया, इंद्र मिलण के काज।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी, बेग मिलो सिरराज ॥

(घ) राम मिलण के काज सखी, मेरे आरति उर में जागी री।
तड़फत तड़फत कल न परत है बिरह-बाण उर लागी री ॥
निसि दिन पंथ निहारूँ पिव को पलक न पल भरी लागी री।
मीरा व्याकुल अति अकुलाणी पिया की उमँग अति लागी री ॥

जिस प्रकार प्रेमी को 'प्रतीक्षा' मिलने की रहती है उसी प्रकार 'इच्छा' दर्शन की होती है। विशुद्ध प्रीति की रीति हम मीरा की ही अनुराग रँगी बानी से सीख सकते हैं। पगली मीरा केवल रूप की भिखारिन थी—इच्छा केवल जी भर कर उसे देखने-मात्र की थी। वह कहती थी 'स्याम म्हाने चाकर राखो जी।' क्योंकि 'चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसण पासूँ।' दर्शन से बढ़ कर मीरा प्रेमालाप तक गई है। लेकिन उसका दीवाना दिल दर्शन और मिलन के ही लिए अधिक छटपटता रहा है। यदि उसका प्रेम साहचर्य से उत्पन्न होता तो उसे कुछ और की भी इच्छा होती किन्तु खेद है कि स्वप्न के चुम्बन के सिवा अल्हड़ साधिका मीरा को संभोग का कोई सुखद स्पर्श नहीं

मिला। उसने उतने ही को प्रभु का दिया हुआ अमित एवं अनन्त धन समझा और उतने ही से उसने अपने हृदय को, अपने शरीर को तथा अपने सर्वस्व को कृष्ण पर चढ़ा दिया। स्वप्न के पश्चात् जो जागृति आई उसमें अनन्त विरह की दारुण किन्तु मधुर ज्वाला जीवन पर्यन्त उसके हृदय में धधकती रही। कृष्ण की ललित त्रिभंगी मूर्ति मीरा के नेत्रों में, हृदय में और रोम-रोम में तभी से उलझ गई। भक्त बराबर कहा करते हैं कि कृष्ण की त्रिभंगी मूर्ति बड़ी ही बलिष्ठ है। वह जब अन्दर पैठ जाती है तो उसका निकलना मुश्किल हो जाता है। मीरा के साथ ही बहुत से भक्तों के हृदय में बाँकी छबि अटकी हुई थी। क्रमशः देखिये—

(१) (क) (मेरे) नैना निपट बंकट छबि अटके।

देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूख न मटके॥
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनौ अति सुगंध रस अटके।
टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नटके।

(ख) सुन्दर बदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी।

—मीरा

(२) मुकुट लटक अटकी मन माहीं।

नृत्पत नटवर मदन मनोहर कुंडल झलक पलक बिथुराई॥

—सहजो

(३) गिरधर सबहिं अँग को बाँको।

बाकी चाल चलत गोकुल में छैल छबिलो काको?

बाँकी भौंह चरन गति बाँकी बाँको हिरदय ताको ।

परमानन्द दास का ठाकुर कियो खोर बृज साँको ॥

—परमानन्द

(४) **उर में माखन चोर गड़े ।**

अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जो अड़े ॥

:—सूर

कृष्ण की त्रिभंग मूर्ति से भक्त गण विवश रहते हैं। यह मूर्ति निकलती ही नहीं। मीरा अपनी 'विवशता' यों प्रकट करती है :

आली रे मेरे नैनन बाण पड़ी ।

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति उर बिच आन अड़ी ॥

सूरदास के हृदय में एक बारगी त्रिभंग मूर्ति जा गड़ती है और वहाँ तिरछी हो अड़ जाती है। मीरा नेत्रों के सहारे हृदय में ले जाकर उसे अड़ाती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सूर की अपनी आँख तो थी नहीं। इसलिये नेत्र के द्वारा उस मूर्ति को भीतर ले जाना उनके लिए असाध्य था। वे यों ही हृदय पटल पर उसे ले पटकते हैं। मीरा की आँखें थीं। वह उन्हीं के द्वारा ध्यान जमा कर हृदय में उस मूर्ति को उतारती थी। सूर और मीरा में यहाँ यही बारीक़ी है, जो ध्यान देने योग्य है।

मीरा सिद्धान्त की अटल थी। प्रेमी को पहली ज़रूरत इसी की होती है। जब वह प्रेम-क्षेत्र में निकलता है तो क़दम-क़दम पर उसको निश्चय की आवश्यकता होती है। जिस वस्तु को मन में प्रेमी ठान

लेता है उसे करके ही छोड़ता है। संयोग से सम्बन्ध रखने वाले मीरा के ललकते हुए प्राण के कुछ 'निश्चय' देखिये :

(१) **बरजी मैं काहू की न रहूँ।**

सुणो री सखी तुम चेतन होय कै, मन की बात कहूँ॥

साध-सँगति कर हरि-सुख लेऊँ, जगसूँ दूर रहूँ।

तन धन मेरो सबहीं जावो, भल मेरो सीस लहूँ॥

(२) **श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।**

नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ, प्रेमी जन कूँ जाचूँगी।

प्रेम प्रीति का बाँधि घूँघरू, सुरत की कछनी काछूँगी॥

लोक लाज कुल की मरजादा, यामे एक न राखूँगी।

पिव के पलँग जा पौढूँगी, मीरा हरि रंग राचूँगी॥

(३) **मैं गिरधर के घर जाऊँ।**

गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ॥

रैण पड़ै तबही उठ जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।

रैण दिना वाके संग खेलूँ, ज्यूँ त्यूँ ताहि रिझाऊँ॥

जो पहिरावै सो पहिरूँ, जो देसोई खाऊँ।

मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ।

जहाँ बैठावें तितहीं बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥

अन्तिम पद में निश्चय के साथ 'सन्तोष' का भाव भक्त के हृदय में कितना है? इस पर तो स्वभावतः सूर की वे पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—'जैसेहिं राखौं तैसहिं रहौं।' प्रेमी भक्त-हृदय भगवान की रुचि और

विधान से पूर्ण परितृप्त रहता है। भगवान की इच्छाओं और कामनाओं में सब का परम मंगल भरा रहता है। इसे सब नहीं जान पाते, जान पाता है उनका भक्त और वह इसी से उनकी सारी क्रियाओं में सन्तुष्ट रहता है। लज्जा से मीरा एक स्थान पर कृष्ण को जगा रही है जिसे आप 'क्रीड़ा' कह सकते हैं किन्तु मुझे वहाँ का भाव 'अवहित्था' सा लगता है :

जागो बंसी वारे ललना जागो मेरे प्यारे।
रजनी बीती, भोर भये है, घर घर खुले किवारे॥

'आत्म-विस्मृति' की एक बड़ी सुन्दर उद्भावना मीरा ने की है। ब्रज में उसे मालूम होता है जैसे कोई जादू हो जो विभोर कर डालता है। देखिए, दही बेचने वाली 'गुजरिया' की क्या दशा हुई है :

या ब्रज में कछु देख्यो री टोना।
ले मटकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नंद जी के छोना।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोउ स्याम सलोना॥'

मीरा को आत्म निरीक्षण करने का अवकाश न था। इसलिए दैन्य, ग्लानि आदि के जितने पद सूर-तुलसी में मिलते हैं उतने मीरा में नहीं मिलते। बात यह थी कि मीरा का सब कुछ श्रीकृष्णार्पण हो चुका था। मीरा का अधिकार स्वयं अपने पर न था। वह कृष्ण की हो गई थी। ऐसी दशा में अपने को देखना और उस पर कुछ कहना उसे अनुचित मालूम होता था। बहुत तलाश करने पर ग्लानि

और दैन्य के एकाध चित्र मिल जाते हैं। पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। देखिए ग्लानि का चित्र :

(क) मैं मैली पिउ उजरा मिलणा कैसे होय।

(ख) जो ऐसी मैं जानती रे प्रीति किये दुख होय।

नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीति करौ जनि कोय॥

राम ने लक्ष्मण को शक्ति लगने पर ऐसे ग्लानि के साथ कहा था—'जौ जनतेऊँ बन बंधु बिछोहू। पिता वचन मनतेऊँ नहिं ओऊ॥' दैन्य का पुट मीरा के निवेदन में घुला-मिला रहता है। यथा :

यहि बिधि भक्ति कैसे होय ?

मन की मैल हिये ते न छूटी, दिया तिलक सिर धोय॥

काम कूकर लोभ डोरी, बाँधि मोहि चांडाल।

क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल ?

मगर मीरा का हृदय 'आत्म-विश्वास' से सदा भरा रहता था। आत्मग्लानि के उदाहरण मीरा में कुछ नहीं हैं। पर विश्वास और भरोसा तो उसका एक-मात्र श्रीकृष्ण पर था। श्रीकृष्ण को छोड़ कर दूसरी ओर उसकी कोई गति नहीं थी :

आवो सहेल्याँ रली करॉं हे, पर घर गवण निवारि।

झूठा माणिक मोतियारी, झूठी जगमग ज्योति।

झूठा सब आभूषन री, साँची पियाजी री पोति॥

झूठा पाट पटंबरा रे, झूठा दिखणी चीर।

साँची पिया जी री गूदड़ी, जामे निरमल रहै सरीर॥

छप्पन भोग बुहाय देहे, इण भोगन में दाग ।
लूण अलूणो ही भलो हे, अपणे पिया जी री साग ॥

फिर—

और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूँ लोक मँझार ।
आप बिना मोहि कछु ना सुहावै निरख्यो सब संसार ॥

अनन्य प्रेमी जब संसार में चारों ओर दृष्टि डालता है तो सिवा उसके प्रिय के उसे कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यह दृढ़ विश्वास ही भक्तों को आगे बढ़ने में सहायता प्रदान करता है। जिस भक्त के हृदय में विश्वास नहीं वह कैसे प्रेम कर सकता है, किससे प्रेम कर सकता है और उसका परिणाम कैसा होगा? अब 'निर्वेद' का एक हल्का दृश्य दिखाकर इस प्रसंग को हम समाप्त करते हैं। 'भजन बिना नर फीको' पर नीचे ध्यान दीजिए :

आली म्हाने लागे वृंदाबन नीको ।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिन्द जी को ॥
निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को ।
रतन सिंहासन आप बिराजे मुगट धरयो तुलसी को ॥
कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली को ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ॥

अलंकार निकालने की धृष्टता—मीरा में काव्य-कला का प्रदर्शन कराना उसके साथ घोर अन्याय करना है। हम बार-बार कहते आ रहे हैं कि मीरा कोई कवयित्री नहीं थी। उसके हृदय की पीड़ा ही काव्य है जो केवल भावमय है, कलामय नहीं है। कला सम्बन्धी जो कुछ

बिखरे सामान यत्र-तत्र मिल जाते हैं; उनके मूल में मीरा की विरह-वेदना ही है। मीरा कृष्ण के रूप पर बिकी थी। अतः जो कुछ अलंकार उसमें मिलते हैं वे सभी रूप-सम्बन्धी हैं; विशेषतः रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि। सोलहो श्रृङ्गार साज कर मीरा अपने पति से मिलने जा रही है। इस पर 'सांग रूपक' वह इस प्रकार बाँधती है :

ओढ़ण लज्जा चीर धीरज को घाँघरो।
छिमता काँकण हाथ सुमत को मूँदरो॥
दिल दुलड़ी दरियाव साँच को दो बड़ो।
उबटण गुरु को मान ध्यान को धोवणो॥
कान अखोटा ग्यान-जुगत को भूटणो।
बेसर हरि को नाम चूड़ो चित उजलो॥
जौहर सील संतोष निरत को घूँघरो।
बिंदली गज और हार तिलक गुर ग्यान को॥
सजि सोलह सिणगार पहरि सोने राखड़ी॥
साँवलियाँ सूँ प्रीति और सूँ आँखड़ी॥

१—लज्जा का वस्त्र, २—धैर्य का घाघरा, ३—क्षमता का कङ्कण, ४—सुबुद्धि की अँगूठी, ५—हृदय-रूपी दुलरी, ६—सत्य की दो बड़ी नदियाँ, ७—गुरु के ज्ञान का उबटन, ८—ध्यान का धोना (साबुन), ९—कान का तरिवन असीम ज्ञान, १०—योग या युक्ति का केश-बन्धन (झोंटा), ११—हरि नाम का बेसर (बेसर नाक में रहती है और नाक से साँस ली जाती है। मीरा कल्पना करती है कि हर साँस के साथ नाम-स्मरण होना चाहिए), १२—स्वच्छ चित्त की चूड़ी, १३—शील-

सन्तोष का जौहर (रत्न—जौहर से मीरा की पति-भक्ति भी परिलक्षित होती है। राजपूती रमणियाँ प्रायः जौहर किया करती हैं। मीरा कृष्ण की प्राणाधिका प्रिय थी। उसके लिये कृष्ण पर जौहर करना एक साधारण बात थी। कारणतः, उसने शील-सन्तोष का जौहर कहा है) १४—निरत का घुँघरू, १५—दृढ़ता की बिन्दली और १६—गुरु-ज्ञान का हार। ये ही सोलहो शृङ्गार हैं जिनकी चर्चा अपने सांग रूपक में मीरा ने की है। मीरा के इस सांग रूपक पर गोस्वामी जी का विज्ञान-रथ का सांग रूपक स्मरण हो आता है। ये दोनों रूपक मिलाने ही योग्य हैं। देखिये :

सौरज-धीरज तेहि रथ-चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा-कृपा-समता-रजु जोरे॥
ईस-भजन सारथी सुजाना। बिरति-चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान-परसु बुद्धि-सक्ति प्रचंडा। बर विग्यान कठिन को दंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र पद पूजा। यहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धरम मय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥

सूरदास के नाच का जो स्वाङ्ग उनके 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल' में रूपक बाँध कर खड़ा किया गया है उससे मिलाने योग्य मीरा के नाच का भी निम्न रूपक बड़ा सुन्दर है :

बिरह-पिंजर की बाड़ सखी री, उठकर जी हुलसाऊँ ए माय।
मन कूँमार सजूँ सतगुरु सूँ, दुरमत दूर गमाऊँ ए माय॥
डंको नाम सुरत की डोरी, कड़ियाँ-प्रेम चढ़ाऊँ ए माय।

प्रेम को ढोल बण्यो अति भारी, मगन होय गुण गाऊँ ए माय ॥
तन करूँ ताल मन करूँ डफली, सोती सुरत जगाऊँ ए माय ।
निरत करूँ मैं प्रीतम आगे, तो प्रीतम पद पाऊँ ए माय ॥

'निरवयव' रूपक मीरा की रचना में बहुत मिलते हैं। 'प्रेमी प्रीति को बाँधि घूँघरू सुरत की कछुनी काछूँगी' आदि इसके कई उदाहरण व्यवहृत हो चुके हैं। उपमा में लुप्तोपमाओं की मीरा के पदों में भरमार है। 'बदन चंद परकासत हेली' में स्पष्ट 'वाचक लुप्तोपमा' है। 'चरण-कँवल' आदि में धर्म और वाचक दोनों लुप्त हैं। अतः इसे 'वाचक धर्म लुप्ता' कहते हैं। ऐसे उदाहरण हर जगह पाए जाते हैं। खोजने पर काफ़ी मिलेंगे। रह गया सादृश्य मूलक अलङ्कारों में 'उत्प्रेक्षा'। इस 'उत्प्रेक्षा' की प्रशंसा करने योग्य उद्भावना मीरा से हुई है। उदाहरणार्थ मीरा का निम्न पद लीजिये :

कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥

साधारणतः उत्प्रेक्षा की सफलता या उसकी पहचान का नियम 'मानो' 'जानो' है। उनके द्वारा उत्प्रेक्षा ठीक से व्यक्त होती है और शीघ्र पहचान में आती है। 'उत्प्रेक्षा' के बाद मीरा की 'रूपका-तिशयोक्ति' सफल है :

मोरन की चंद कला सीस मुगट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीनि लोक मोहै ॥

कहीं-कहीं मीरा ने कृष्ण के रूप का वर्णन बढ़ा-चढ़ा कर भी किया है। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ अत्युक्ति का उदय हुआ है। कृष्ण के नेत्र पर 'सौन्दर्यात्युक्ति' ख़ूब सौष्ठव के साथ ढली है :

कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टौना।
खंजन अरू मधुप मीन भूले मृग छौना॥

एक दृष्टान्त 'दृष्टान्त' का हम उपस्थित करते हैं लेकिन कभी-कभी ऐसा लगता है मानो 'अर्थान्तिन्यास' हो क्योंकि 'दृष्टान्त' और 'अर्थान्तरन्यास' में बहुत कम भिन्नता पाई जाती है। वे दोनों क़रीब-क़रीब एक ही समान होते हैं। पर यहाँ 'दृष्टान्त' की ही अधिक सम्भावना है, देखिए :

अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन-दमक दाड़िम दुति, दमके चपलासी॥

इसमें दाड़िम की द्युति और चपला की चमक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। दोनों का धर्म एक है। अतः इसके 'दृष्टात' होने में कोई सन्देह नहीं है।

अर्थालङ्कार में 'दीपक' का स्थान भी बड़ा उच्च है। उसके कई भेद और उपविभेद होते हैं। एक आवृत्ति दीपक के ही तीन भेद होते हैं—पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदार्थावृत्ति। मीरा यहाँ दो अर्थावृत्ति प्रस्तुत करती है :

(१) मैं अबला बल नाँय गुसाईं, तुम हो मेरे सिरताज।
(२) मैं गुण हीन गुण नाँय गुसाईं, तुम समरथ महराज॥

उक्त दोनों पंक्तियों में क्रमशः 'अबला' और 'बल नाँय' तथा 'गुण-हीन' और 'गुण नाँय' में ही अर्थ का बोध होता है। मीरा ने चुन-चुन कर क्रमशः दोनों शब्दों को बड़ी सावधानी से बैठाया है। तिस पर अलङ्कार कुछ खेल के विषय नहीं रहते। उनसे मीरा के भाव के व्यञ्जित होने में काफ़ी सहायता मिलती है। अबला के बाद 'बलनाँय' कह देने से मानो अर्थ ही साफ़ हो जाता है और ऐसा लगता है कि मीरा के निवेदन करने में हृदय ही निकल रहा हो।

'दीपक' की तरह अपार भेद 'विभावना' के होते हैं। कितने आचार्यों ने सात से भी अधिक 'विभावना' का उल्लेख किया है। मीरा की रचना में एक स्थान पर 'प्रथम विभावना' की सृष्टि हुई है। 'प्रथम विभावना' की परिभाषा में आचार्यों ने लिखा है—बिना हेतु जहँ बरनिये प्रकट होत है काज।' यथा :

हनुमान की पूँछ में लगन न पाई आगि।
सिगरी लंका जलि गयी गये निसाचर भागि॥

इधर मीरा योग-साधना में तल्लीन हो कर गाती है :

बिन कर ताल पखावज बाजै अणहद की झणकार रे।
बिनु सुरराग छतीसूँ गावै रोम रोम रंग सार रे॥

गोस्वामी तुलसीदास की सुप्रसिद्ध चौपाइयों में भी :

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥

बिना कारण के ही कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यहाँ तक जिस धृष्टता से मैंने मीरा के काव्य में से अनेक अर्थालङ्कार निकाले हैं उसी

धृष्टता से शब्दालङ्कार निकाल कर उसका दूसरा किनारा भी बराबर कर देना चाहता हूँ। पाठक, आशा है, इसे क्षमा करेंगे। शब्दालङ्कार के शुरू में 'अनुप्रास' का निवेदन करना अच्छा होता है। प्रथम 'छेकानुप्रास' के दो चित्र लीजिए :

(क) मोहनी मूरत साँवरी सूरत, नैना बने बिसाल।

(ख) सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरन।

दो चित्र 'वृत्यानुप्रास' के भी मौजूद हैं :

(क) इत उत चित चलै नहिं, कबहुँ डारी प्रेम जँजीर।

(ख) काली पीली बदली में बिजली चमके।

कुछ और अनुप्रास देखिए :

(च) दसन दमक दाडिम दुति चमके चपलासी।

(छ) तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई।

(ज) स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो।

निरर्थक 'यमक' देखना हो तो निम्नाङ्कित पद देखिए :

गिणता गिणता घस गई म्हारी आँगलियारी रेख।
मैं बैरागिण आदि की जी थाँरे म्हारे कद को सनेस॥

भाषा-निर्णय—हिन्दी का प्रदुर्भाव अपभ्रंश-काल से है। उस समय से काव्यों की बहुत रचना हुई है और हिन्दी का स्वरूप भी स्थान-विशेष के अनुसार भिन्न-भिन्न होता गया है। हिन्दी भाषा उसी कोकहना न्याय-संगत मालूम पड़ता है जो विशेषतया बिहार, उत्तर प्रदेश बुँदेलखण्ड, राजपूताना, छत्तीसगढ़ आदि इलाकों में बोली जाती है और गौण रूप से बँगाल को छोड़ कर जो समस्त उत्तरीय और मध्य

भारत की मातृभाषा है। आज हिन्दी-भाषा के स्थानीय रूपान्तर निम्न हो गये हैं—बुँदेली, बघेली, हरियानी, पूर्वी हिन्दी, भोजपुरी, अवधी, छत्तीस-गढ़ी आदि। इनमें साहित्यिक-भाषा सब नहीं हो सकी हैं। काव्यों की रचना आज तक पाँच ही भाषाओं में हुई है—राजस्थानी, अवधी, ब्रज, बुन्देली और खड़ी। खड़ीबोली छोड़ देने पर उक्त चार ही भाषाएँ प्रधानतः काव्योपयोगी रही हैं और जिनसे हमारा काव्य-साहित्य जगमगा रहा है।

बुन्देली भाषा बुन्देलखण्ड, ग्वॉलियर और मध्य-प्रदेश के कुछ ज़िलों में बोली जाती है। इसकी छाप प्रायः समस्त प्राचीन कवियों पर पड़ी है। वास्तव में यह एक प्रकार से ब्रज भाषा की प्रशाखा है। ब्रजभाषा का वास्तविक स्थान ब्रज मण्डल है लेकिन आगरा, भरतपुर, धौलपुर, करौली, ग्वॉलियर से पश्चिम, जयपुर, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बुदायूँ, बरेली तथा नैनीताल में भी इसका काफ़ी प्रचार है। इसका मुख्य केन्द्र मथुरा ही है। सूर आदि इसके प्रमुख कवि हैं। अवधी भाषा अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखण्ड, छोटानागपुर और मध्य प्रदेश के कई भागों में बोली जाती है। जायसी और तुलसी इसके प्रतीक प्रचारक हैं।

रही राजस्थानी। यह राजपूताने में बोली जाती है। इसके अन्तर्गत चार बोलियाँ सम्मिलित हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाली और मालवी। वाक्यों का विन्यास इसमें गुजराती-सा किया जाता है। दादूदयाल और उनके शिष्यों की रचनाएँ जयपुरी में हुई हैं। मेवाली और मालवी का कोई सुप्रसिद्ध कवि दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु

'मारवाड़ी' के लिए मीरा ही काफ़ी है। यह निर्विवाद है कि मीरा की भाषा राजस्थानी के अन्तर्गत की मारवाड़ी है और मीरा उसकी सर्वश्रेष्ठ कवयित्री है। सूर की पहुँच जिस प्रकार 'व्रज' में थी, तुलसी की जिस प्रकार 'अवधी' में थी उसी प्रकार मीरा की पहुँच 'मारवाड़ी' में थी।

प्रायः सभी प्राचीन कवियों ने और विशेषतः भक्ति-काल के कवियो ने 'श' नहीं बरता है। उसके स्थान पर 'स' से काम चलाया गया है। मीरा की रचना में 'श' के लिए 'स' ही व्यवहृत है। 'मारवाड़ी'-प्रयोग के अनुसार उसकी समस्त रचना में 'न' के स्थान 'ण' लिया गया है। 'व्रज' का 'त्यों' और 'ज्यों' मारवाड़ी में 'त्यूँ' और 'ज्यूँ' हो जाता है। 'को' आदि विभक्तियों का 'कूँ' आदि रूपान्तर मारवाड़ी में होता है जिसकी रक्षा मीरा द्वारा हुई है। उत्तम पुरुष एक बचन में 'म्ह' और मध्यमपुरुष एकवचन में 'थाँ' अर्थात् 'म्हारो' और 'थाँरो' 'मेरा' औ र'तुम्हारा' के लिए क्रमशः लाये जाते हैं। क्रिया का 'स्याँ' प्रयोग उत्तम पुरुष, एक वचन और वर्तमान काल में और 'सी' प्रयोग अन्य पुरुष, एक बचन और भविष्यत् काल में हुआ है। 'स्याँ' युक्त क्रिया का अर्थ है 'ते हैं' अथवा 'ती हैं' और यह हमेशा उत्तम पुरुष के साथ व्यवहृत होता है। मीरा ने अपने लिए केवल एक पद में इसका काफ़ी व्यवहार किया है। देखिए :

राणा जी म्हे तो गोविंद का गुण गास्याँ।
चरणामृत को नेम हमारे, नित उठ दरसण जास्याँ॥
हरि मंदिर में निरत करास्याँ, घूँघरिया घमकास्याँ।

राम-नाम का झाफ चलास्यॉं, भवसागर तर जास्यॉं॥
यह संसार बाड़ का काँटा, ज्या संगत नहिं जास्यॉं।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, निरख परख गुण गास्यॉं॥

कहीं-कहीं उत्तम पुरुष, एक वचन, भविष्य में भी 'स्यॉं' प्रयोग मिलता है। जैसे—'हरि रुठयॉं किठे जास्यॉं हो माई।' तथा 'निरभै निसाण घुरास्यॉं हो माई।' इनमें 'जास्यॉं' और घुरास्यॉं' का अर्थ होगा 'जाऊँगी' और 'घुमाऊँगी'। 'सी' का उदाहरण लीजिए—'सी सोध्ये सठ्यो तो म्हाँरो काँई कर लेसी'। 'लेसी' का अर्थ है लेंगे। 'स्यॉं' का भविष्यत काल कुछ और देखिए :

राम नाम का झाफ चलास्यॉं, भौ सागर तर जास्यॉं हो माई।
मीरा सरण साँवल गिरधर की, चरण कँवल लपटास्यॉं हो माई॥

एक ही वाक्य दो पदों में मीरा ने रख दिया है। पर निम्न पद में भविष्य-काल का बोध होता है और उपरोक्त पद में वर्त्तमान काल का बोध होता है।

'ट' वर्ग की कर्कशता से कुछ लोगों के कान फट जाते हैं। मीरा की रचना में 'ट' वर्ग को ही प्रधानता है। 'ण' का जैसा व्यवहार बताया गया है कि 'न' के लिए भी होता है, फिर 'ड़' की भी काफ़ी बाहुल्यता मीरा में है। मीरा के 'सनेसड़ा' की सुन्दरता शुरु में ही जायसी के 'सँदेसड़ा' की सुन्दरता से मिलाई जा चुकी है। इससे मिलते-जुलते कुछ ड़ान्तक शब्दों की सुन्दरता और लीजिए। केवल एक पद के तुकान्तक शब्दों को अर्थ सहित उद्धृत कर रहा हूँ :

मारवाड़ी	खड़ी बोली
बाटड़ियाँ	बाट
आखड़ियाँ	आँख
पासड़ियाँ	पास, जिसे फाँस कहते हैं
दासड़ियाँ	दासी
सासड़ियाँ	स्वाँस
पासड़ियाँ	पास अर्थात् निकट
आँटड़ियाँ	आँट अर्थात् मन-मुटाव।
आसड़ियाँ	आशा

कुछ स्थानों में 'ड़' के आगे 'र' और 'र' की जगह 'ड़' आकर भाषा की मधुरता बढ़ाने में कुछ कम सहायक नहीं हुए हैं। 'पपीहड़ा' और 'नेहड़ा' जिन्हें वास्तव में 'पपीहरा' और 'नेहरा' ही होना चाहिए था, नहीं होकर शब्दों से मधुरता झाड़ रहे हैं। मीरा ने 'नेहरा' कई स्थान में कहा है। यथा—'पिया कहाँ गये नेहरा लगाय। वैसे ही 'ड़' के बाद 'र' का व्यवहार भी मधुर प्रतीत होता है। यथा-'साँकड़ारो', 'मुखड़ारा' आदि। 'ड़' के बाद 'ल' का प्रयोग और उनकी सुन्दर भाव व्यञ्जना तो मीरा से और खिल गई है। मुझे मीरा के ये शब्द बहुत प्रिय हैं—'देसड़लो' और 'बाँहड़ली' आदि। तात्पर्य यह कि इन कतिपय विभिन्न शब्दों के रूपों में मारवाड़ी भाषा के कितने विशेष रूप हैं, विशेष व्यवहार हैं और अनेक कारक की विभक्तियाँ भी हैं। उदाहरणार्थ 'बाँहड़ली' को लीजिये। देखिए इसमें कर्म की 'को' विभक्ति है। फिर 'साँकड़ारो' में सम्बन्ध की 'में'

जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम-घरण ।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोप लीला करण ॥
जिण चरण गोबरधन धारयो, गर्व मघवा हरण ।
दास मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण ॥

भाषा में कुछ पिङ्गल और व्याकरण की भूलें अवश्य हैं। लिङ्गों की गड़बड़ी कहीं-कहीं मीरा से हुई है, जिनका होना स्वाभाविक था। क्योंकि जब महाकवि सूरदास जी इससे नहीं बच सके तो फिर दूसरे की कौन कहे? मीरा का तो कहना ही क्या? कुछ पद और शब्द भर्ती के भी पाये जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर दिखा आये हैं, एक ही पद के वाक्य दो-दो बार तक मीरा ने लिख दिए हैं। फिर भी उससे रोचकता जाती नहीं, यह मीरा की सहृदयता की विशेषता है। कुछ पदों में मात्राओं का घटना-बढ़ना भी आसानी से मिल जाता है। तात्पर्य यह कि छन्द-शास्त्र की पूरी जानकारी मीरा को न थी। कविता करने का उद्देश्य भी उसका न था। उसे यह सम्भावना न थी कि उसे लोग कवि रूप में भी देखेंगे और उसकी कविताओं को लेकर काट-फाँस की जायेगी। उसने तो अपने टूटे-फूटे शब्दों में केवल अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है और उसी को अपने प्राण-वल्लभ पर चढ़ाया है। लोगों की यह ढिठाई है कि उस प्रेम की पगली अबला के पदों पर वे विचार कर रहे हैं और काव्य की समस्त सामग्री उसी में ढूँढ रहे हैं। है कि नहीं?

मीरा की जानकारी—मीरा की जानकारी से मेरा मतलब उसके साधारण ज्ञान से है। चौरासी लाख योनियों का नाम कौन

नहीं जानता ? मगर मीरा ने चौरासी लाख योनियों को जिस रूप में लिया है और जिस भयावह दृष्टि से देखा है, उस प्रकार किसी ने नहीं। अपनी रचना में बड़ी सतर्कतापूर्वक उसने बहुत बार कहा है :

(१) लख चौरासी मोरचा री, छिन मैं गेर्‌या छै बिगोय।
(२) राम नाम बिनु मुकुति न पावै फिर चौरासी जावै।
(३) यों संसार सब बह्यो जात है लख चौरासी री धार।

चौरासी लाख योनियों के बाद काशी करवत का महातप भी मीरा को ख़ूब ज्ञात था। वैसे तो 'अड़सठ तीरथ' की भी चर्चा उसने की है और शायद उसकी पहुँच सभी जगह हुई थी, किन्तु काशी के प्रति उसकी असीम श्रद्धा थी। उसने कई ढंग से काशी के प्रति अपनी भावना को उड़ेला है। यथा :

(१) तेरे ख़ातिर जोगण हूँगी करवत लूँगी कासी।
(२) बिरह की मारी मैं बन-बन डोलूँ प्रान तजूँ करवत ल्यूँ कासी।
(३) कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हे कहा लिये करवत कासी।

'कहा लिये करवत कासी' की संगति ऊपर के पदों से नहीं बैठती। इसका कारण यह है कि प्रेम की अनन्यता के प्रसंग में प्रस्तुत पद आया है। मीरा का भाव यह है कि अबिनासी भगवान के सामने काशी करवत का महत्व नहीं है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि मीरा काशी-करवत की उपेक्षा दिखाती है अथवा उसके विचार कहीं कुछ और कहीं कुछ हैं। उसके विचार सर्वत्र एक समान हैं।

ऐसी ही शङ्का उसके निम्न दो पदों में की जाती है। एक स्थान पर मीरा विरह-वेदना से व्याकुल होकर कहती है:

दीपक जोय कहा करूँ सजनी ! पिय परदेस रहावे।

लेकिन जब मिलन की सुखमय घड़ियाँ याद आती हैं और मीरा उसकी कल्पना करती है तो प्रियतम अपने हृदय में ही मिल जाते हैं। उस समय राधा या गोपियों जैसे उसे पत्रिका लिखने की व्यवस्था भी नहीं करनी पड़ती। उस समय वह गर्व के साथ कहती है:

कोई के पिया परदेस बसत है, लिख-लिख भेजै पाती।
मेरे पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती॥

गीता का उपदेश कृष्ण भगवान का दिया हुआ है। इधर मीरा उनकी प्रिया थी। उसको शायद कृष्ण ने पहले ही गीता के वचन सुनाये थे जैसे शङ्कर जी ने 'मानस' की कथा पहले पार्वती को सुनाई थी। मीरा गीता का सार जान गई थी। गीता के सात सौ श्लोकों का यही तात्पर्य है:

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौन विजानो तो नायं हन्ति न हन्यते॥

मीरा इस को इस प्रकार कहती है:

ना कोई मारे ना कोई मरतो, तेरो यो अज्ञान।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यो गीतारो ग्यान॥

यह नाम-रूपात्मक हृदय जो चर्म-चक्षुओं को दिखाई देता है कि सूर्य और धूप दो हैं, वास्तव में दो नहीं हैं। अद्वैतवाद इसे एक सिद्ध

करता है जिस प्रकार आत्मा-परमात्मा एक है। मीरा अद्वैव के इस सिद्धान्त पर कहती है :

तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं जैसे सूरज छामा।
पल पल तेरा रूप निहारूँ......................॥

मीरा की जानकारी के भीतर उसके सुप्रसिद्ध बारहमासे का वर्णन भी है। हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य सदा से अपने चारों ओर के वातावरण से उदिप्त एवं प्रभावित रहा है। मीरा के कृष्ण परदेश गए हैं। उनके विरह में मीरा बारहों महीने रो रही है। ज्यों-ज्यों नये मास आते हैं त्यों-त्यों उस नवीनता से विरह सजीव होता जाता है। प्रेम में सुख और दुख दोनों की अनुभूति की मात्रा जिस तरह बढ़ जाती है उसी प्रकार अनुभूति के विषयों का विस्तार भी। इसे सभी मनुष्य अनुभव करते है—क्या राजा, क्या रङ्क। इसी दुखद रूप में मीरा प्रत्येक मास की गिनती करा रही है :

पिया मोहि दरसण दीजै हो।
बेर बेर मैं टेरहूँ या किरपा कीजै हो॥
जेठ महीने जल बिना पंछी दुख होई हो।
मोर असाढां कुरलहे घन चात्रक सोई हो॥
सावण में झड़ लागियो सखि तीजाँ खेलै हो।
भादरवै नदियां बहे दूरी जिन मेलै हो॥
सीप स्वाति झेलती आसोजां सोई हो।
देव काती में पूजहे मेरे तुम होई हो॥
मंगसर ठंड बहोती पड़े मोहि बेगि सम्हालो हो।

पोस महीं पाला घणा, अबही तुम न्हालो हो ॥
महा महीं बसंत पंचमी फागाँ सब गावै हो ।
फागुण फागाँ खेल हैं बणराय जरावै हो ॥
चैत चित्त में ऊपजी दरसण तुम दीजै हो ।
बैसाख बणराइ फूलवै कोमल कुरलीजै हो ॥
काग उड़ावत दिन गया बूँझ पंडित जोसी हो ।
मीरा बिरहण व्याकुली दरसण कद होसी हो ॥

जायसी के बारहमासे की भाँति यद्यपि मीरा का वर्णन व्यापक नहीं है फिर भी हृदय की पीड़ा की सूचना इस में बराबर मिलती जाती है। हिन्दू स्त्री, जिसके पति विदेश हैं, 'काग' उड़ाने के सिवा और क्या कर सकती है? पंडित और ज्योतिषियों से कृष्ण के आने के विषय में मीरा का पूछना कितना स्वाभाविक है? यह आशिक़-माशूक़ों-जैसा निर्लज्ज प्रताप नहीं है। इसका सात्विक मार्यादापूर्ण माधुर्य परम मनहरण है। प्रत्येक मास की विशेष वस्तु का उल्लेख मात्र करके मीरा दर्शन की भूख जता रही थी। उसी को उसने व्यक्त किया है। जायसी की तरह अवकाश उसे न था कि नागमती के स्वर में बारहमासे का विस्तार वह दे। पर जायसी का बाहरमासा मीरा की अपेक्षा अवश्य अधिक महत्वपूर्ण है। वह गम्भीर है और भावपूर्ण भी। थोड़ा प्रसङ्ग हम लेते हैं। मीरा ने जेठ से शुरू किया है और जायसी ने आषाढ़ से :

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा ॥
सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी हौं बिरह झुरानी ॥

भा भादौं दूभर अति भारी । कैसे भरौं रैनि अँधियारी ॥
लाग कुआर नीर जग घटा । अबहूँ आव, कंत तन लटा ॥
कातिक सरद चंद उजियारी । जग सीतल हौं बिरहै जारी ॥
अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी । दूभर रैनि जाइ किमि गाढ़ी ॥
पूस जाड़ थर थर तन काँपा । सुरुज जाइ लंका दिसि चाँपा ॥
लागेउ माघ परै अब पाला । बिरहा काल भयउ जड़ काला ॥
फागुन पवन झकोरा बहा । चौगुन सीव जाइ नहिं सहा ॥

उपसंहार—मीरा का भक्ति-ज्ञान उसके काव्य-ज्ञान से लाख गुना ऊँचा है। उसकी भक्ति के सामने उसकी काव्य-कला का कोई मूल्य नहीं रहता। और भक्ति-काल के प्रायः समस्त कवियों की काव्य-कला उनकी भक्ति-कला के सामने नत-मस्तक है। विशेषतः कबीर, जायसी, सूर और तुलसी के विषय में कह रहा हूँ कि इनकी भक्ति इनके काव्य-ज्ञान से बहुत उच्च कोटि की है। काव्य के विषय में चाहे कोई इन्हें जो कुछ कह ले लेकिन जब भक्ति की परख का सवाल आयेगा तो सब की वाणी मूक हो रहेगी। भक्ति परखने की कसौटी हमारे पास नहीं है। ऐसे प्रेम-निष्णात भक्तों में मीरा की भक्ति स्वभावतः ऊँची है। भक्ति और प्रेम के बीच हिन्दी-साहित्य का स्रोत बहाने वाले पाँच ही भावुक कवि हैं—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा। इनकी पंक्ति एक है। इनमें से हम किसी को न पृथक् कर सकते हैं, न किसी दूसरे को सम्मिलित ही कर सकते हैं। ये पाँचों बेजोड़ भक्त और बेजोड़ कवि हैं।

मीरा के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में कुछ और भक्तिनें हुई हैं। उनमें कुछ सुप्रसिद्ध नाम ये हैं—सहजोबाई जी, मञ्जुकेशी जी, बनीठनी जी, प्रतापबाला जी, युगलप्रिया जी, रामप्रिया जी और रानी रूपकुँवरि जी। भक्ति पक्ष की बात छोड़ दीजिये क्योंकि मीरा की भक्ति के सामने महाभक्त कबीर, जायसी और सूर-तुलसी नहीं ठहर पाते, फिर दूसरे की कौन चलावे ? रह गयी काव्य की बात। सो मीरा के पुनीत पद उक्त सभी देवियों की वाणियों से बहुत उत्तम हैं। मीरा का काव्य-ज्ञान इन देवियों के काव्य-ज्ञान से स्वभावतः ऊँचा है। पर तुलसी, सूर, जायसी और कबीर से निम्नतर है। फिर भी काव्य-क्षेत्र और भक्ति-क्षेत्र दोनों में पाँचों का साथ छुड़ाया नहीं जा सकता, एक के ऊपर एक, इसी प्रकार पाँचों गुँथे हैं। यदि कोई जनता से पूछे कि हिन्दी-काल में कितने महान् भक्त और कितने महान् कवि हुए हैं तो दोनों को लेकर एक ही उत्तर दिया जा सकता है, कि पाँच। कौन-कौन ? कबीर, जायसी, सूर, तुलसी तथा मीरा। पर कोई लोभी भक्त पूछे कि इन पाँचों में भक्ति किसकी श्रेष्ठ है तो उसके उत्तर में मीरा का नाम लिया जायगा और जब कवित्त-रसिक कोई काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठता माँगे तो उसके सामने तुलसी को दिया जायेगा।

मैं प्रेममय प्रभु को 'पञ्चामृत' का भोग लगाना चाहता था। इसके लिये पाँच अमृतों की तलाश करनी पड़ी। पाताल में जाकर अमृत लाना मेरे शक्ति से बाहर का काम था। इधर सुनने में आया कि इस पृथ्वी तल पर ही पाँच प्रकार के अमृत, पाँच भावुक भक्त काफ़ी परिमाण में छोड़ गए हैं जिन्हें आसानी से प्रभु भी स्वीकार कर

सकते हैं और जो कतिपय मरणासन्न पुरुषों को जिलाने में समर्थ हुए हैं। सचमुच कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा की वाणियां का पारायण करके किसने अपने को धन्य नहीं किया ? बस, क्या था ? मैंने चट पाँच लभ्य अमृत—कबीर (मधु), जायसी (गुड़), सूर (दूध), तुलसी (घी) और मीरा (दही) को एक ही बर्तन में मिला कर फेंट दिया। 'पञ्चामृत' तैयार कर प्रभु को भोग भी लगाया है और उसे प्रसाद रूप में बाँटने की भी अभिलाषा है। लेकिन चूँकि अनाड़ी के हाथ का बना 'पञ्चामृत' पान कर किसी का स्वाद न बिगड़ जाय, इससे भय लगता है। भय के मारे मैंने बड़ी सावधानी से काम लिया है। वह यह कि मैंने सबकी मात्रा बराबर रक्खी है। यद्यपि 'पञ्चामृत' के बनाने के लिए यह महा फूहड़ रीति है।

इसका उद्देश्य केवल कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा की वाणियां को एक लड़ी में पिरोना है, किसी प्रकार की आलोचना करना नहीं। यदि इसे कोई सहृदय व्यक्ति 'त्रिवेणी' जैसी महत्वप्रद वस्तु समझे, जिसमें स्नान करने से महापातकी का पाप धुल जाता है, तो उसकी वह अपनी सहृदयता है। मेरा यह प्रयास नहीं है। मैं तो इतने ही से अपने को धन्य मानता हूँ कि 'पञ्चामृत' बनाने के ही नाते मुझे स्वतः उस अमृत को चखना पड़ा और अनेक विद्वानों की आलोचनागत बातें देखनी पड़ीं। यदि 'पञ्चामृत' को आलोचकगण उन विद्वानों का प्रसाद तक मान लेंगे तो मैं अपना भाग्य समझूँगा।

अमर-शहीद

सरदार भगतसिंह

लेखक : श्री० जितेन्द्रनाथ सान्याल

अनुवादिका : कुमारी स्नेहलता सहगल, एम० ए०

भूमिका लेखक : राजर्षि बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन,

अध्यक्ष, अखिल भारतीय कॉङ्गरेस

सम्पादक : श्री० आर० सहगल

इस पुस्तक के रचयिता अमर-शहीद सरदार भगतसिंह के अभिन्न साथियों में से एक हैं, जो लाहौर षड्यंत्र केस में आपके साथ ही गिरफ़्तार हुए थे। विलायत में प्रचार के लिए पुस्तक का केवल अङ्गरेज़ी संस्करण १६३१ में प्रकाशित हुआ था जो दूसरे ही दिन ज़ब्त कर लिया गया था। पुस्तक में सरदार भगतसिंह के पारिवारिक परिचय, संक्षिप्त जीवनी तथा उनकी सभी कारगुज़ारियों के अतिरिक्त सरदार भगतसिंह तथा श्री० बटुकेश्वर दत्त द्वारा दिल्ली सेशन्स कोर्ट में दिया गया संयुक्त ऐतिहासिक वक्तव्य तथा कुछ अन्य सनसनीखेज़ पत्र तथा बयानात भी दिए गए हैं। पुस्तक के अन्त में लाहौर षड्यत्र केस की दैनिक कार्यवाही का विवरण भी दिया गया है, जो ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री है।

राजर्षि टण्डन जी अपनी भूमिका में लिखते हैं—"भगतसिंह युवावस्था में चले गए। उनकी भावनाओं की कुछ कल्पना उनके कामों और अदालत में दिए गए उनके बयानों से हम कर सकते हैं। मुझको याद है कि केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंकने के अभियोग के उत्तर में जो बयान उन्होंने अदालत में दिया था उसका कितना गहरा

प्रभाव मेरे हृदय पर पड़ा था। इस पुस्तक में भगतसिंह के जीवन की कड़ियों को लड़ी में बाँधने का यत्न है। हमारे देश के एक विशिष्ट पुरुष और उसके सथियों का विवरण होने के कारण यह स्तक देश के राजनीतिक अध्ययन में हिन्दी प्रेमियों के लिए सहायक होगी। मैं इसका स्वागत करता हूँ।"

सचित्र तथा सजिल्द [स्तक का मूल्य केवल ६।।) रु०, डाक-व्यय अलग।

* * * *

आज़ादी के परवाने

सम्पादक : श्री० आर० सहगल,

भूतपूर्व सम्पादक तथा अध्यक्ष 'चाँद' और 'भविष्य'

भारतीय विप्लव-यज्ञ की उन आहुतियों से हमारे अधिकांश देश-वासी सर्वथा अपरिचित हैं जिनके साहस, त्याग और बलिदान की नींव पर हमारी राष्ट्रीय इमारत की नींव रक्खी गई है। आज इन हुतात्माओं को हमारे अधिकांश देशवासी भूल चुके हैं। प्रत्येक उन्नति-शील देश ने ऐसे कर्मठ वीरों की पूजा की है पर हमारे अधिकांश कृतघ्न-देशवासियों ने उन्हें सदैव हिक़ारत की नज़र से ही देखा है। अब समय आ गया है कि हमें इन अज्ञात बन्धुओं की स्मृति-शेष को अक्षुण्ण रखने के लिए कुछ ठोस प्रयत्न करना होगा। संस्था ने इन्हीं सद्भावों से प्रेरित होकर इस पुस्तक का प्रकाशन किया है जिसमें ६० से अधिक अमर-शहीदों के परिचय दिए गए हैं और जिसे किसी एक व्यक्ति ने नहीं लिखा है, बल्कि कई सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारियों तथा विप्लवी नायकों द्वारा स्वयं लिखे गए हैं अतः पुस्तक की प्रामाणिकता में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता। आज कितने हैं जो उसी प्रकार हँसते हुए फाँसी के तख़्ते का आलिङ्गन कर सकेंगे!

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में हिंसात्मक आन्दोलन तथा असहयोग आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास भी दिया गया है। प्रोटेक्टिङ्ग-कवर सहित सचित्र तथा सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ५) रु०, डाक-व्यय अलग।

ग़दर-दिल्ली की डायरी

भूमिका लेखक: श्री० आर० सहगल

सन् १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह का रहस्यमय, आकर्षक और ख़ूनी चित्र! विप्लव के भीतर काम करने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघातों के ज्वलन्त दृष्टान्त !!

अग्निमय ! सुन्दर !! आकर्षक ! रोचक !!

जिन पाठकों ने यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तक नहीं पढ़ी, वे ग़दर सम्बन्धी षड़यन्त्रों से पूर्णतया परिचित हो ही नहीं सकते। प्रस्तुत पुस्तक दो गुप्त रोज़नामचों का संग्रह है—एक हिन्दू दृष्टिकोण से लिखा गया है, दूसरा मुस्लिम दृष्टिकोण से। अङ्गरेज़ों ने प्रचुर धन व्यय कर ये रोज़नामचे प्राप्त एवं प्रकाशित किए हैं। इसमें ग़दर सम्बन्धी प्रत्येक दिन की कार्यवाही का ऐसा सुन्दर और सटीक वर्णन है, कि पाठक इसे पढ़ कर एक बार ही दङ्ग रह जाएँगे और "त्राहि त्राहि" करने लगेंगे। हिन्दुस्तानियों की इस भीषण बग़ावत से तङ्ग आकर अङ्गरेजों ने भी भूखे भेड़ियों का रूप धारण कर लिया था—फिर हिन्दुस्थान पर कैसे-कैसे लोमहर्षण अत्याचार किए गए, ये इन थोड़ी-सी पंक्तियों का विषय नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक अङ्गरेज़ी नौकर मुंशी जीवनलाल तथा हकीम अहसन उल्ला खाँ के रोज़नामचे हैं और उस भीषण परिस्थिति पर पूर्णतया प्रकाश डालते हैं।

बहादुरशाह और बख़्त ख़ाँ, दोनों ईमानदार तथा निपुण सैनिक-सञ्चालक थे और १८५७ ई० के विप्लव में सारी व्यवस्था अपने हाथों में ले लेना चाहते थे किन्तु दिल्ली की हालत कुछ चापलूसों के कारण बिगड़ गई। सैनिक लूट-मार करने लगे, शाहज़ादों को अपनी-अपनी फ़िक्र थी और सैनिक बाहर से आ-आ कर इकट्ठा हो गए जिनकी वेतन की समस्या हल न हो सकी। इन्हीं की सहायता से अङ्गरेज़ों का काम आसान हो गया। सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४।।) रु०

कुमकुमे

[सम्पादक : श्री० आर० सहगल]

इस सर्वथा बेजोड़ पुस्तक में हिन्दी तथा उर्दू के २१ सुप्रसिद्ध हास्य-रस के लेखकों की कहानियों का संग्रह है। पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ दो रङ्गों में छपा है तथा प्रसिद्ध कलाकार श्री० शिक्षार्थी जी ने इसे मनोनुकूल चित्रित किया है। कुछ सहयोगियों ने पुस्तक का स्वागत इस प्रकार किया है :

आज : कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते आप ही हँसी का फ़व्वारा इस तरह फूट पड़ता है कि पेट में बल आ जाता है। सभी एक से एक मज़ेदार हैं।

लोकमत : पुस्तक का सम्पादन तथा छपाई सुन्दर है। प्रत्येक कहानी में हास्य-रस का प्याला छलक रहा है। कहानियों का चयन सुन्दर है।

योगी : पुस्तक में शिष्ट हास्य है। रेल के सफ़र में, या किसी कॉङ्ग्रेसी मिनिस्टर के दर्शन की प्रतीक्षा में उसके दरवाज़े पर समय काटने के लिए पुस्तक सहायक होगी।

नवज्योति : सम्पादक ने निस्सन्देह राष्ट्रीय भाषा का भंडार भरा है जिसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय, थोड़ा है।

सचित्र तथा सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४॥) रु०, डाक-व्यय अलग।

राजा साहब

[ले० : श्री० शौकत थानवी]

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की हास्य-रस की चुनी हुई कहानियों का संग्रह है। प्रत्येक कहानी पढ़ कर यदि हँसते-हँसते पेट में बल न पड़ जाय तो मूल्य वापस। पुस्तक पढ़ कर अवध के ताल्लुक़ेदारों का वास्तविक जीवन चित्र-पट पर पड़े हुए अक्सों की भाँति आपके सामने नाचने लगेगा। पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ दो रंगों में छपा है और राजा साहब तथा उनके चाटुकारों के विभिन्न चित्र भी दिये गये हैं। कुछ सहयोगियों की सम्मतियाँ इस प्रकार हैं :

लोकमत : इन कहानियों के द्वारा श्री० थानवी ने प्रजा की गाढ़ी कमाई पर ऐशो आराम के रास रचने वाले, मौज की ज़िन्दगी बिताने वाले और 'जी हुज़ूरों' की हुज़ूरी के इशारे पर चलने वाले ज़मींदारों के रागरङ्ग का भण्डाफोड़ किया है। लेखन शैली अपने ढङ्ग की है, कहानियाँ काफ़ी सरस और पठनीय हैं और साथ ही शिक्षाप्रद भी।

योगी : पुस्तक मनोरञ्जक है भाषा बड़ी सुबोध है। उर्दू का लेखक होते हुए भी थानवी साहब ने बड़ी साफ़ हिन्दी लिखी है। पुस्तक सचित्र है। इन चित्रों ने इसकी ख़ूबी बढ़ा दी है।

आज : शौकत थानवी ने मनोविज्ञान का विश्लेषण ऐसे सुन्दर और प्राकृतिक ढङ्ग से किया है कि कहानी में ख़ासा आनन्द आ जाता है। वर्णन-शैली भी स्वाभाविक और सरल है। बनावटीपन का कहीं निशान तक नहीं मिलता। पुस्तक पढ़ने और संग्रह करने योग्य है।

नवज्योति : जमींदार और ताल्लुक़ेदार किस प्रकार अपनी प्रजा को लूटते रहते हैं, इन सब का सजीव वर्णन आप को इन कहानियों में पढ़ने को मिलेगा। छपाई-सफ़ाई और गेट-अप नयनाभिराम, उत्कृष्ट और ऊँचे स्टेण्डर्ड के हैं।

सचित्र तथा सजिल्द पुस्तक का मूल्य २।।), डाक व्यय अलग।

तराज़ू

भूमिका लेखक :

डॉक्टर उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यापक, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

सम्पादक :

श्री० आर० सहगल,

भूतपूर्व सम्पादक तथा अध्यक्ष, 'चाँद' और 'भविष्य'

पुस्तक में हिन्दी तथा उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की चुनी हुई कहानियों का संग्रह है। कुछ लेखकों के शुभनाम ये हैं :

डॉक्टर धनीराम 'प्रेम', श्री० अहमद नदीम क़ासिमी, स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द, श्रीमती बेगम हिजाब इम्तियाज़ अली, स्वर्गीय बाबू जयशङ्कर प्रसाद, स्वर्गीय मिर्ज़ा अज़ीम बेग चग़ताई, श्री० गिरिजेश, श्री० सय्यद क़ासिम अली, श्री० सुदर्शन, श्री० हसन अब्बास, श्री० प्रताप नारायण श्रीवास्तव, श्री० दौलतराम गुप्त, पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', श्री० शिलीमुख, कुँवर राजेन्द्र सिंह, श्री० पङ्कज, पं० नलिन विलोचन शर्मा, श्री० बसन्त कुमार पाण्डेय, स्वर्गीय श्री० चण्डी प्रसाद 'हृदयेश', श्री० अखौरी गङ्गा प्रसाद सिंह।

आज का युग कहानी-कला के विकास का युग माना जाता है। इस संग्रह में आपको कहानी-कला के संक्षिप्त इतिहास के अतिरिक्त उसके सभी प्रकार मिल जाएँगे। सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ४) रु०